

सत्यामृत

(मातृ-धर्म-शास्त्र)

[दृष्टि कांड]

(परिषदित संस्करण)

: प्रणेता :

स्वामी सत्यभक्त

सत्यसमाज — संस्थापक

चिंता ११८५१ इतिहास संवत्

नवम्बर १९५१ ई

प्रकाशक — सत्याश्रम वर्धा (म. प्र.)

दूसरी बार

मूल्य — पांच रुपये

चुन्नीलाल कोटेचा
मन्त्री-सत्याश्रम सरदल
बोरगांव बघो (म. प्र.)

मूल्य— ५)

मुद्रक —
सदाशिव गोसांसे
मैनेजर-सत्येश्वर प्रि. प्रेस
सत्याश्रम वर्धा (म. प्र.)

प्रास्ताविक



सत्यामृत का दूसरा नाम मानवधर्म शास्त्र है। ये दोनों नाम, सार्वकता रखते हैं। सब शास्त्रों का सम्मान रखते हुए भी इसमें किसी शास्त्र को आधार न बनाकर युगसत्य को ही आधार बनाया गया है, और सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से भी सत्य का जितना दर्शन सम्भव है उतना किया गया है। फिर भी सत्यामृत का यह सन्देश है कि मनुष्य में शास्त्र मूढ़ता न होना चाहिये। सब से बड़ा शास्त्र यह खुला हुआ संसार है या सब से बड़ा शास्त्र विवेक है। कोई भी शास्त्र, जिसमें सत्यामृत भी शामिल है, हम खुले हुए महाशास्त्र संसार को पढ़ने में या विवेक रूपी शास्त्र के पन्ने खोलने में मददगार है। जब सत्य में और शास्त्र में विरोध मालूम हो तब सत्य की वेदी पर शास्त्र का बलिदान करना चाहिये, शास्त्र की वेदी पर सत्य का बलिदान नहीं। बहुत से लोग अपने प्राचीन शास्त्रों के लेखन के विरुद्ध जब वैज्ञानिक खोजों को पाते हैं तब वे विज्ञान को ही अधूरा कहकर मजाक उड़ाते हैं, विज्ञान की विकास-शीलता को संशय अनिश्चय जादि कहकर ठपेठा करते हैं, अथवा सूझी खींचतान करके उस बात को शास्त्रों में से ही निकालने की कुचेष्टा करते हैं, यह शास्त्र की वेदी पर सत्य का बलिदान है। सत्यामृत इस शास्त्रमूढ़ता का विरोधी है। बड़ा से बड़ा शास्त्र भी सत्येश्वर की पद्धतिका एक कणमात्र है, मर्यामृत इस बात को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है और स्वीकार करता इस बात को भी कि, सत्य के अनुकूल न रहने पर शास्त्र का कार्याकल्प कर देना चाहिये या विसर्जन कर देना चाहिये।

मानवधर्म शास्त्र यह इसलिए है कि 'हममें पृथ्वी पर के मनुष्यों की दृष्टि में रखकर विचार किया गया है अमुक राष्ट्र या अमुक नस्ल या अमुक वर्ग को प्रधानता नहीं दी गई' है। उस उदारता की दृष्टि से यह मानवधर्म शास्त्र है।

कुछ व्यक्ति शायद यह भी कहेंगे कि 'जैसे यह उदारता की दृष्टि में मानवधर्म शास्त्र है उसी प्रकार कदाचित् अनुदारता की दृष्टि से भी मानवधर्म शास्त्र है क्योंकि उसमें मानव के हितको जितनी प्रधानता दी गई है उतनी अन्य प्राणियों के हित को नहीं।'

इस कथन में तथ्य होनेपर भी उसकी कारणमीमांसा ठीक नहीं है। मनुष्य को प्रधानता किसी पक्षपात के कारण नहीं दी गई है किन्तु प्रकृति ने 'जीवो जीवस्य जीवनम्, (जीव जीव का जीवन या आधार है), इस नियम को अनिवार्य बना दिया है। हिंसा के बिना कोई जीवित नहीं रह सकता, जीवन का यह बड़ा से बड़ा किन्तु अनिवार्य दुर्भाग्य है। ऐसी हारत में शास्त्र या सत्यामृत यही विधान कर सकता या कि हिंसा कम से कम हो और जो हो वह किसी उचित सिद्धान्त के आधार पर हो। सत्यामृत का सन्देश विश्व में अधिकतम सुखधर्म का है, और सुखदुख की मात्रा प्राणी के अधिक चेतन्य पर निर्भर है, इसलिए अनिवार्य हिंसा की परिस्थिति में अधिक चेतन्यवाले प्राणी की रक्षा प्रथम कर्तव्य है। और ज्ञात प्राणियों में मनुष्य ही अधिक चेतन्यवाला प्राणी है इसलिये इसकी रक्षा का प्रयत्न मुख्य बनाया गया है। सत्यामृत ने इस बात को साफ स्वीकार किया है और एक सिद्धान्त का उसे रूप दिया है 'हममें व्यावहारिकता है।

जो लोग इस व्यावहारिकता को भुलाकर दूसरे प्राणियों को तुलना में मनुष्य को बराबर ही मानकर चलते हैं और कभी या कहीं इसी तरह के प्रदर्शन करते हैं, उनके जीवन में एक तरह की अनुर-दर्शिता और आरमवज्जना पाई जाती है। उनके सिद्धान्त मानवधर्म शास्त्र के आधार नहीं बन सकते, वे

मुट्ठीभर शोरुम वर्ग के जीवन में सिर्फ प्रदर्शित ही किये जा सकते हैं। सत्यामृत या इस मानवधर्म शास्त्र की दृष्टि में ऐसी व्यावहारिकता है जो पृथ्वी के हर एक मूलद में तथा हर एक वर्ग के मनुष्य के जीवन में सफलता के साथ दिखाई दे सके। इसप्रकार वास्तव में इस मानवधर्म शास्त्र की यह व्यावहारिक उदारता है। उदारता के वे सन्देश सिर्फ एक तरह की स्वपरवचना ही हैं जो मुट्ठीभर शोरुम या सुपतखोर माद-भियों को छोड़कर सब के जीवन में न दिखाई दे सकें, या मनुष्य मात्र के जीवन में दिखाई दे सकें तो मनुष्य जाति की हितक्षी कर दें। इसप्रकार यह मानवधर्म शास्त्र व्यावहारिक उदारता की चरम सीमा पर कहा जा सकता है। इसप्रकार इनके दोनों नाम उचित और सार्थक हैं।

इसके तीन कांड हैं। दृष्टिकान्ड आचारकांड व्यवहार कांड। इनमें यह दृष्टिकांड मुख्य है। इसमें जीवन के समाजके राष्ट्र के, भिन्न भिन्न धर्मों और धर्मसंस्था के भगोंके प्रायः सभी मुख्य मुख्य रूपों पर एक सत्यमय दृष्टि डाली गई है। इसप्रकार आचार और व्यवहार के सूत्र भी इसमें शामिल हो गये हैं। यद्यपि दृष्टिकांड के पदने पर भी आचार कांड और व्यवहार कांड के पदने की आवश्यकता बनी ही रहती है, क्योंकि आचार कांड व्यवहार कांड में जो विशेष और मौलिक विवेचन किया गया है वह दृष्टिकाण्ड पदने से ही समझ में नहीं आ जाता, फिर भी उनके विवेचन की दृष्टि मिल जाती है। इसप्रकार दृष्टिकान्ड को पूरे सत्यामृत का भूलाचार कहा जा सकता है। बल्कि यों भी कहा जा सकता है कि व्यवहार कांड की किसी बात की परस आचार कांड की कसौटी पर कसकर करना चाहिये और आचार कांड की किसी बात की परस दृष्टिकान्ड की कसौटी पर कसकर करना चाहिये।

दूसरी आवृत्ति की विशेषता (परिवर्धन)

स्वयं साक्षर में दृष्टिकांड की दूसरी आवृत्ति हो रही है। निःसन्देह इस ग्रन्थ का इतना कम प्रचार दुर्भाग्य की निशानी है। किन्तु दुर्भाग्य की निशानी है, इसका निर्णय पाठकों को या दुनिया को ही करना है। पर इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है ऐसी शुरुआत बहुत धीरे धीरे ही गले उतरती है।

इस दूसरी आवृत्ति की दो विशेषताएँ हैं। पहिली और छोटोसी विशेषता तो यह है कि इस आवृत्ति में दृष्टिकान्ड में आये हुए प्रमुख पारिभाषिक शब्दों के पयोग शब्द मानवभाषा में दे दिये गये हैं जो उन उन शब्दों के बाद कोष्ठक में हैं। इसप्रकार मानवभाषा के शब्द भण्डार की अच्छी सामग्री इस आवृत्ति में आ गई है।

दूसरी और महत्वपूर्ण विशेषता है इस आवृत्ति का परिवर्धन। पहिली आवृत्ति की अपेक्षा इस आवृत्ति में सत्रासे से भी अधिक मसाला है। पैसा टाईप होने से इस आवृत्ति के हर एक पृष्ठ में प्रथमावृत्ति की अपेक्षा दस स्वच्छ, पक्षियों अधिक आई हैं, इतने, पर भी बालोस पचास पृष्ठ अधिक हैं। जिनने प्रथमावृत्ति पढ़ी है उनके भी इस आवृत्ति में अनेक नई बातें जानने को मिलेंगी। पाठक पढ़कर ही इस बात को समझ सकते हैं। कुछ संकेत यहां भी किया जाता है।

पहिले अध्याय में, मंगलाचरण सत्येश्वर का रूपदर्शन, गुणदेव कुटुम्ब, कथा, आदि प्रकार बढ़ाये गये हैं। परीक्षा के भेद नये ढंग से किये गये हैं, तथा प्रमाण बलि की भीमांसा और भी विकसित ढंग से की गई है। प्रथमावृत्ति से इस आवृत्ति में यह अध्याय दूने से भी अधिक हो गया है।

दूसरे अध्याय में न्याय देवता की कथा देकर तथा अन्य विवेचन में प्रायः सभी बातें कुछ विकसित तरीके से कही गई हैं। यह अध्याय भी प्रथमावृत्ति से दूना हो गया है।

तीसरे अध्याय में सुखदुःख आदि का विवेचन कुछ और विस्तार में हुआ है। भेद-प्रभेद रक्षित बताये गये हैं। उन्हें समझने के लिये नये दिये गये हैं। यह अध्याय भी प्रथमावृत्ति से करीब गेने दोगुना होगया है।

चौथे अध्याय में भी कुछ विवेचन बढ़ा है, कुछ दोहे वगैरह दिये गये हैं। प्रथमावृत्ति की अपेक्षा करीब सवाया होगया है।

पाँचवाँ अध्याय भी करीब सवाया होगया है। इसमें धर्म समभाव का प्रकरण काफी विस्तृत हुआ है, इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से धर्मसंस्थाओं का विकास आदि का अच्छा विवेचन हुआ है, अन्य प्रकरण भी कुछ संशोधित हुए हैं।

छठे अध्याय की मज से बढ़ी विशेषता यह है कि इसमें जीविकार्जीवन और यशोजीवन नाम के दो प्रकरण बिल्कुल नये जोड़े गये हैं। बाली हथर ठहर कहीं चू दिया गया है, विशेष संशोधन यहाँ हुआ।

इस विवेचन से इतना पता तो खर ही सकता है कि दूसरी आवृत्ति काफी मौलिकता और अधिक सामग्री रखती है। हाँ ! विवेचन की दृष्टि में कहीं कोई अन्तर नहीं हुआ है। न दोनों आवृत्तियों में कोई विरोध है। फिर भी पहिली आवृत्ति की अपेक्षा इस आवृत्ति की प्रामाणिकता अधिक है। इससे हम बात की भी पुष्टि होती है कि सत्यसमाज के अनुसार जैसे अन्य वस्तुएँ विकासशील हैं उसी तरह मानस भी विकासशील है।

जो नये पाठक इसे पढ़ेंगे वे तो पढ़ेंगे ही, पर प्रथमावृत्ति पढ़नेवालों को भी यह आवृत्ति पढ़ केना चाहिये।

सत्यमेव

सत्याश्रम वर्धा

११ मुंका १९२१ ई. सं.

३०-९-२१

विषय सूची

पहिला अध्याय सत्यदृष्टि

विषय	पृष्ठ
मगलाचरण	११
मगवान सत्य	१२
सत्येश्वर की साधना	१३
सत्येश्वर का दर्शन	"
रूपदर्शन	१५
गुणदेश	"
दुर्गुणदेश	१५
गुणदेश	१६
निष्कामता	"
स्वत्वमोह	"
कालमोह	१६
प्राचीनता मोही वैश्व	"
गवीनता मोह	२३
परीक्षाकृत	"
विचारकता	२४
अवीनता	"
परीक्षा के पांच भेद	२५
प्रमत्त ज्ञान	२८
शास्त्र का उपयोग	"
प्रत्यक्षपम शास्त्र	२६
प्रत्यक्ष का उपयोग	२७
अनुभव की दुहाई	३१
तर्क प्रमाण	३२
समन्वयशीलता	३८

दूसरा अध्याय ध्येयदृष्टि

अतिम ध्येय	४२
ध्येय और उपध्येय	"
स्वतन्त्रता उपध्येय	"
शक्ति उपध्येय	४३
मोक्ष उपध्येय	"
ईश्वर प्राप्ति उपध्येय	४४
सुख और पाप	४५
निजसुख और सर्वसुख	४६
ग्राह्यदेयता की कथा	४७
मुद्राप्रता	४८

तीसरा अध्याय मार्ग दृष्टि

सुख दुःख विचार	५८
दुःख विचार	५९
उः शारीरिक दुःख	६०
उः मानसिक दुःख	६१
सुख विचार	७१
जाठ आनन्द	"
उपाय विचार	७३
दुःख सुख श्रेणियाँ	"
एकसाँ जाठ दुःख	७५
सुखोपाय	८३
वह्मचर सुख	"
दस महत्त्व	८६

चौथा अध्याय योग दृष्टि

योग चतुष्टय	८२
भक्तियोग	८३
ज्ञानभक्ति	८४
स्वाध्यात्मिक	८५
अन्यभक्ति	८६
सन्ध्यासध्यास	८७
विद्यायोग	८८
कर्मयोग	९०

पाँचवाँ अध्याय लक्षण दृष्टि

विवेक	९१
गुरुमूढता	"
गुरु की तीन श्रेणियाँ	९२
गुरुषु अगुरु	९३
शास्त्र मूढता	९४
देवमूढता	९५
लोभमूढता	९६
धर्मसमभाव	९७
धर्म समभाव के ८ काम	९८
दस तरह के सम्प्रदाय	९९
धर्म सत्पा क्यो	१००
गुरुमता और इन्द्र	१०१
सन्मान सूचनाएँ	१०२

षष्ठे भाग की सर्वादा

ईश्वरवाद	१४८
आत्मवाद	१४९
सर्वज्ञवाद	१५०
मुक्तिवाद	"
द्वैताद्वैतवाद	१५१
विरयानिखवाद	"
धर्म में ठचित परिवर्तन	१५२
विद्यादृष्टि	१५३
मूर्ति	१५४
अनुदरता के संस्कार	"
सर्वज्ञता की ठचित मान्यता	१५५
जातिस्मभाव	१५६
रगभेद	१५७
राष्ट्रभेद	१५८
वृत्तिभेद	१५९
उपजाति कल्पना	१६०
व्यक्तिसमभाव	१६१
स्वोपमता	"
चिकित्सा	"
अवस्थासमभाव	१६२
माध्यमाधना	१६३
क्षणिकत्वभावना	१६४
लक्ष्म्यभावना	"
महत्त्वभावना	१६५
अमृतत्वभावना	"
कर्तव्यभावना	"
अद्वैतभावना	१६६
योगी की लक्षियाँ	"
विषय विजय	"
विरोध विजय	१६७
वपेक्षा विजय	"
प्रलोभन विजय	१६८
निर्भयता	"
भक्तिमय	१६९
विरक्तिमय	"
अपायमय	"
दस तरह के मय	१७०
अकपायता	१७१

विषय सूचा

छट्टा अध्याय		चार तरह का विनोद	२१६	नारीदोष नीमांसा	२३९
जीवन दृष्टि		प्रेरणा जीवन (पांच भेद)	२१९	उभयलिंगी जीवन	२४५
ब्रह्मचर्य जीवन	१६३	जीविका जीवन (१२ भेद)	२२६	यत्न जीवन (तीन भेद)	२४७
„ बारह भेद	१६७	वशजीवन (९ भेद)	२२९	दैव और यत्न	२४९
भक्त जीवन (११ भेद)	२००	किंगजीवन (तीन भेद)	२३२	श्रद्धा जीवन (चार भेद)	२५२
परोक्षजीवन (आठ भेद	२०४	नपुंसक	२३३	जीवन जीवन (दो भेद)	२५७
कर्तव्यजीवन (छः भेद)	२११	नरनारी	„	पांच भेद	२५८
भयजीवन (छः भेद)	२१६	पूकालिनी जीवन	२३६	दृष्टि कांड का उपसंहार	२६०

समर्पण.....

अगवान सत्य के चरणों में

परम पिता !

तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ।

जो कुछ कहलाता है मेरा है तेरी ही कवणा का कण ॥

तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ॥ १ ॥

तीर्थंकर हैं तीर्थ बनाते ।

पैगम्बर पैगाम सुनाते ॥

तेरी ही श्रौंकी दिखलाकर कोई हैं अवतार कहाते ॥

तेरा तुझको करे समर्पण ।

तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ॥ २ ॥

मैं भी क्या चरणों में लाऊँ ।

मेरा क्या ? जो भेंट बहाऊँ ॥

दिल निचोबकर ले आया यह चरणोंपर रसधार बहाऊँ ।

पाँकर अमर बने मानवगण ॥

तेरी वस्तु को अर्पण ॥ ३ ॥

तेरा दास—

सत्यभक्त

— सत्यामृत प्रणेता :—



❀ स्वामी सत्यभक्त ❀

सत्यामृत (सत्याभ)

मानव-धर्मशास्त्र (मानधर्मीन)

दृष्टिकांड (लंकोकंडो)

फहिला अध्याय

सत्यदृष्टि (सत्यलंको)

महलाचरण (नम्बो)

गीत १

मेरी भाषा तेरे विचार ।

मैं तो हूँ तेरा दूतमात्र तू ही देता है धर्मसार ।

मेरी भाषा तेरे विचार ॥ १ ॥

जब सत्यभक्ति पाई मैंने ।

तेरी महिमा गाई मैंने ॥

मेरे छोटे से जीवन कं झंकार उठे तब तार तार ।

मेरी भाषा तेरे विचार ॥ २ ॥

झंकार गगन में घूमगई ।

तेरे चरणों को घूमगई ॥

तब शब्द ब्रह्मसी हो पवित्र फिरकर आई मेरे अंगार ।

मेरी भाषा तेरे विचार ॥ ३ ॥

झंकार न थी सत्यामृत था ।

जगको तेरा चरणामृत था ॥

सत्यामृत कहकर बांटेरहा तेरा वह चरणामृत अपार ।

मेरी भाषा तें विचार ॥ ४ ॥

गीत २

तूने मुझको पैगाम दिया ।

अपनी भाषामें गूँथ डसे मैंने सत्यामृत नाम दिया ।

तूने मुझको पैगाम दिया ॥ १ ॥

पैगाम मिला बन्धन टूटे ।

मयमोह भरे रिश्ते छूटे ॥

इस जीवनमें ही पुनर्जन्म देकर—

तूने निजधाम दिया ।

तूने मुझको पैगाम दिया ॥ २ ॥

तूने अनुपम करुणा करके ।

मेरी निर्वलताएँ हरके ॥

यह जीवन सफल बनानेको—

जीवनभरका यह काम दिया ।

तूने मुझको पैगाम दिया ॥ ३ ॥

गीत ३

कौन तू तेरा कौन निशान ।

तुझे समझने में हारे सब वैज्ञानिक विद्वान ।

कौन तू तेरा कौन निशान ॥ १ ॥

ईश्वरवादी का ईश्वर तू ब्रह्मा विष्णु महेश ।

सर्वेश्वर अज्ञात खुदा प्रभु अहुर्मन्द अखिलेश ॥

गाह यहीवा जगत्पिता तू रच रहीम रहमान ।

कौन तू तेरा कौन निशान ॥ २ ॥

परम निरीश्वरवादी का तू महाकाल गुणधाम ।

नेचर प्रकृति परात्पर अचर परब्रह्म निष्काम ॥

परंबशोति तू महाबोधि तू चिन्मय अन्तर्ज्ञान ।

कौन तू तेरा कौन निशान ॥ ३ ॥

सत्यभक्त का सत्येश्वर तू परम सच्चिदानन्द ।
परम विवेकाधार धर्ममय परमपिता सुलकन्द ॥
सब मुखदेवों का स्वामी तू गुणाधीश भगवान् ।

कौन तू तेरा कौन निशान ॥ ४ ॥

सत्यभक्त की भावुकता का प्यारा ईश्वरवाद ।
सत्यभक्त की सजग बुद्धिका परम अनोखरवाद ॥
ईशानीश समन्वयमय तू सद्बिवेक की खान ।

कौन तू तेरा कौन निशान ॥ ५ ॥

तेरा कण पाकर कहलाते जन सर्वज्ञ महान् ।
पर न कभी हो सकता तेरी सीमाओं का ज्ञान ॥
कण कण में छूबे तीर्थकर ऋषिमुनि महिमावान् ॥

कौन तू तेरा कौन निशान ॥ ६ ॥

अगम अगोचर महिमा तेरी तेरा अकथ पुरान् ।
बुद्धि भावना के संगम से होता तेरा भान् ॥
सत्यभक्त ने पाये तुझमें धर्म और विज्ञान ।

कौन तू तेरा कौन निशान ॥ ७ ॥

ईश अनोखाव के गूढ़दे छोड़ें सब विद्वान् ।
अपनी मति गति लेकर करदें जगको स्वर्ग समान् ॥
सत्यभक्त, कर विद्वानन्दमय सत्येश्वर का ध्यान ॥

कौन तू तेरा कौन निशान ॥ ८ ॥

गीत-४

मैं क्या तेरा धाम बताऊँ ।

सत्यदृष्टि से देखूँ तुझको तो कण कण में पाऊँ ॥

मैं क्या तेरा धाम बताऊँ ॥ १ ॥

वीजरूप में भरा हुआ है कण कण में कल्याण ।

सत्यभक्त पढ़ते कण कण में तेरा अकथ पुराण ॥

अब 'तू कह' नहीं है' इसका उत्तर क्या बताऊँ ।

मैं क्या तेरा धाम बताऊँ ॥ २ ॥

काशी गया प्रयाग अयोध्या शङ्खजय ओंकार ।

जेरुसलम समुद्र मदीना मक्का गिरिगिरिनार ॥

सभी तीर्थ हैं तेरे आधम सभी जगह मैं ध्याऊँ ।

मैं क्या तेरा धाम बताऊँ ॥ ३ ॥

मन्दिर मसजिद चर्च जिनालय सब धर्मालय एक ।

सभी जगह कल्याण लिखा है तेरे पाठ अनेक ॥

जहाँ पढ़' कल्याण वही मैं तेरा तीर्थ बनाऊँ ।

मैं क्या तेरा धाम बताऊँ ॥ ४ ॥

भगवान सत्य (सत्येश)

भगवान अगम अगोचर कहा जाना है ।
हजारों वर्ष से बड़े बड़े विद्वान उसे जानने की
कोशिश करते आ रहे हैं फिर भी अच्छी तरह
जान नहीं पाये इसलिये अगम है, और आगमों से
देख नहीं पाये इसलिये अगोचर है । इतने पर
भी उसे जानने देखने का प्रयत्न होता ही रहता
है, होना भी चाहिये ।

इस प्रयत्न में किसी ने यह निश्चय किया
कि भगवान है, वह सृष्टि का मूल है, विधाता है,
रक्षक है, न्यायी है, दण्डदाता है । किसी ने यह
निश्चय किया कि ऐसा कोई भगवान हो नहीं
सकता । वह अतिरिक्त है, युक्ति-विरुद्ध है । सृष्टि के
सारे काम प्रकृति के अनुसार होते हैं ।

दोनों पक्षों के पास कहने के लिये काफी
है, फिर भी इस विवाद का अन्त नहीं है इसलिये
देखना यह चाहिये कि इस विवाद से लाभ क्या
है ? इसका लक्ष्य क्या है ?

दोनों पक्ष कहेंगे कि हम सत्य की खोज
करना चाहते हैं । क्योंकि सत्य के बिना हम
कल्याण अकल्याण, भलाई-बुराई, पथ-कुाम का
पता नहीं पासकते । न खुद सुखी हो सकते हैं न
जगत को सुखी कर सकते हैं ।

इस प्रकार ईश्वरवादी अनोखरवादी दोनों
ही सत्यपर, भलाईपर सुखपर इकट्ठे होजाते हैं ।
इसलिये ईश्वर के स्थान पर सत्य की प्रतिष्ठा
करना अधिक उपयोगी है । उसे ईश्वरवादी अनो-
खरवादी दोनों ही मानते हैं । बुद्धि और भावना
दोनों को सन्तोष होता है । ईश्वरवादी सत्य में
ईश्वर देखते हैं, अनोखरवादी सत्य में नियम
व्यवस्था प्रकृति आदि देखते हैं । दोनों ही उससे
आनन्द की प्राप्ति करते हैं ।

ईश्वर को सच्चिदानन्द भी कहा जाता है ।
यह नाम बहुत सार्थक है । मूल में सत् है इसे
ईश्वरवादी भी मानते हैं और अनोखरवादी भी
मानते हैं । वैज्ञानिक कहते हैं कि सत् में से चित्
(चैतन्य) की सृष्टि हुई है और चित् में से

आनन्द की। इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से सच्चिदानन्द में जगत का मूल और उसके विकास की सब अवस्थायें आजाती हैं। इसप्रकार वैज्ञानिक लोग सच्चिदानन्द के साधक हैं।

धार्मिक दृष्टि से विचार करने वाले लोग कहते हैं कि सत् में से चित् की सृष्टि हो या न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि सत् का सार [उत्तम अंश] चित् है और चित् का सार आनन्द है। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से विचार करनेवाले लोग भी सच्चिदानन्द के साधक हैं।

इस सच्चिदानन्द को मैं भगवान् सत्य या सत्येश्वर कहता हूँ। इसप्रकार मैं ईश्वरवादी भी हूँ और अनीश्वरवादी भी हूँ। मेरी भावना में ईश्वरवाद है और बुद्धि में अनीश्वरवाद। मेरे जीवन में भावना और बुद्धि का समान स्थान है। उभयनिष्ठ मैं ईश्वरवाद अनीश्वरवाद दोनों का समान रूप से उपयोग करता हूँ। जो भावना-प्रधान हों वे ईश्वरवादी बनकर भगवान् सत्य की अर्थात् सच्चिदानन्द की साधना और आराधना करें, जो बुद्धि-प्रधान हों वे अनीश्वरवादी बनकर सत्य को अर्थात् सच्चिदानन्द की साधना और आराधना करें।

सत्येश्वर की साधना (सत्येशोप साधो)

सत्य की साधना है चिन्मय जगत को आनन्दमय बनाना। सत् को चित् बनाने का या सत् में से चित् निकालने का मनुष्य को शक्त नहीं करता है, वह सब प्राकृतिक प्रणाली के अनुसार हो रहा है, पर चित् को आनन्द रूप बनाने के लिये मनुष्य को काफ़ी प्रयत्न करना है। प्राकृतिक प्रणाली से चित् में से सुख और दुःख दोनों निकल रहे हैं और अमुक अंश में निकलते रहेंगे, प्राणी का, खासकर मनुष्य का काम है कि दुःख कम करे और सुख बढ़ावे। दुःख की अपेक्षा सुख का परिमाण अधिक से अधिक करने जाना ही सच्चिदानन्द की, भगवान् सत्य की साधना है।

या तो सत्येश्वर की थोड़ी बहुत साधना हर एक कर रहा है, प्रकृति भी कर रही है। इन्द्रियों

का चृप्त करने के अस्वरूप साधन बसने जुड़ाये हैं जिससे प्राणी ने आनन्द पाया है, तर-तारी में उसने ऐसा आकर्षण पैदा किया है जिससे दोनों को आनन्द होता है। यह सब सहज, प्राकृतिक या अचलसाध्य (नाममात्र का यत्नसाध्य) आनन्द है। पर मनुष्य को प्रकृति के द्वारा दी गई सामग्री को कई गुणा बढ़ाना है और सुख के साथ दुःख का जो भोत प्रकृति ने बहाया है उसे चीरना है। सत्येश्वर की इस विशेष साधना की जिम्मेदारी मनुष्य पर है।

जितने धर्म हैं वे सत्येश्वर की इसी साधना के विशेष विशेष कार्यक्रम हैं। अनन्त क्षेत्र, अनन्त काल और अनन्त प्राणियों की दृष्टि से सत्येश्वर की साधना के कार्यक्रम भी अनन्त हैं। प्रत्येक कार्यक्रम अमुक देशकाल और अमुक पात्रों के लिये पूर्ण होसकता है पर वह सत्येश्वर के आगे अनन्तव्य हिस्सा ही है। हाँ। हमारा देशकाल और हमारा या हमारे समाज का जीवन भी सत्येश्वर के सामने अनन्तांश ही है इसलिये अनन्तांश जगत के लिये अनन्तांश साधना पूर्ण साधना बनजाती है या बनसकती है।

सत्येश्वर का दर्शन (सत्येशोप दर्शो)

पर सत्येश्वर की साधना के पहिले सत्येश्वर का दर्शन करना जरूरी है। क्योंकि देखने के बिना चलना व्यर्थ है। सत्येश्वर के दर्शन से इस बात का पता लगजाता है कि कर्तव्य का निर्णय कैसे किया जाय ? जगत कल्याण में वृद्धि कैसे की जाय ? भ्रमा और कुसंस्कारों पर विजय कैसे प्राप्त की जाय ? किस गुण को या धर्म के किस अंग को कितना महत्व दिया जाय ? परस्पर विरोध होने पर किसको गौण या मुख्य बनाया जाय ? विरोधों का समन्वय कैसे किया जाय ? इत्यादि।

सत्येश्वर का दर्शन दो तरह का होता है एक रूपदर्शन, (या आकारदर्शन) दूसरा गुणदर्शन। रूपदर्शन में रूपक अलंकार के द्वारा सत्येश्वर को और उनके सारे कुटुम्ब को अर्थात् जीवन के सारे गुणों को व्यक्तित्व देकर समझा

जाता है। सत्य अहिंसा विवेक सरस्वती आदि को दिव्य व्यक्ति मानलिया जाता है। इस दर्शन से जहाँ अपने गुणों या मनोवृत्तियों की उपयोगिता अनुपयोगिता लघुता महत्ता आदि का परिचय मिलता है वहाँ मन को बहुत अच्छा आश्वासन भी मिलता है। ईश्वरवादी मनोवृत्ति को तो असीम सन्तोष होता है। संकट में धैर्य, असफलता में भी आशा उत्साह, धर्मों में समभाव, विश्वबन्धुत्व, कर्मयोग आदि के लिये यह रूपदर्शन बहुत उपयोगी है। साधारण जन से लेकर बड़े से बड़े महात्मा तक को इससे लाभ होता है और बहुत कुछ सरलता से यह दर्शन होजाता है।

दूसरा गुणदर्शन भी ऐसा ही उपयोगी है पर इससे ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों ही समान रूप में लाभ उठा सकते हैं। और रूपदर्शन की अपेक्षा गुणदर्शन का रास्ता सीधा, इसलिये निकट का है। रूपदर्शन का रास्ता घूमता हुआ जाता है इसलिये दूर का है। पर गुणदर्शन का रास्ता सीधा और निकट का होने पर भी जरा कठिन है जब कि रूपदर्शन का रास्ता दूर का होने पर भी सरल है। दोनों का जीवन में उपयोग है। रूपदर्शन से मन को तसल्ली होती है, गुणदर्शन से बुद्धि को तसल्ली होती है। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि रूपदर्शन के पथ को अंत में गुण दर्शन के पथ में मिलना पड़ता है। अन्त में गुण दर्शन तो होना ही चाहिये।

रूपदर्शन (अंचोदीरो)

सत्येश्वर के रूपदर्शन में हमें सत्येश्वर परमपिता के रूप में दिखाई देते हैं। जिनके कुटुम्ब में पत्नी, पुत्र, पुत्रियाँ, पुत्रपुत्रवधुएँ, उनके मित्र सेवक दास दासियाँ आदि हैं और ये सब गुणरूप हैं। प्रत्येक गुण एक व्यक्ति है। इस सत्येश्वर कुटुम्ब का वर्णन करने से सत्येश्वर का रूप दर्शन होजायगा। और गुणों की उपयोगिता तथा उनका स्थान समझ में आजायगा।

गुणदेव [रमजीम]

सत्येश्वर [सत्येश] इस कुटुम्ब के परमपिता। सारा कुटुम्ब जिनकी सेवा करता है। अहिंसा माता [मम्मेशी] सत्येश्वर की पत्नी और बाकी कुटुम्ब की माता या मानासही। विश्वप्रेम ही इनका रूप है। अहिंसा शब्द निषेधात्मक नहीं किंतु विश्वात्मक है अहिंसा का 'अ' प्रसव्य नहीं पयुदास है, जिससे भावान्तर का बोध होता है, जिसका अर्थ होता है विश्वप्रेम। मानवभाषा का मम्मेशी शब्द इनके लिये उपयुक्त है। मम्म का अर्थ है विश्वप्रेमी बनना। मम्मेशी विश्वप्रेमकी अधिष्ठात्री भगवती है।

मुक्तिदेवी [लिजोजीमी] सत्यलोककी संचालिका, भगवानकी सब से बड़ी सन्तान।

विवेकदेव [अंकोजीमा] भगवान सत्य और भगवती अहिंसाके बड़े पुत्र

संयमदेव [धामोजीमा] ,, ,, दूसरे पुत्र।

विज्ञानदेव [इगोजीमा] ,, ,, तीसरे पुत्र।

उद्योगदेव [मुंकोजीमा] ,, ,, चौथे पुत्र।

कामदेव [बिगोजीमा] ,, ,, पांचवे पुत्र।

सरस्वतीदेवी [बुधोजीमी] विवेकदेव की पत्नी।

तपस्यादेवी [तुपोजीमी] संयम देव की पत्नी।

शक्तिदेवी [टुगोजीमी] विज्ञानदेवकी पत्नी।

लक्ष्मीदेवी [धनोजीमी] उद्योग देवकी पत्नी।

कलादेवी [चक्रोजीमी] कामदेव की पत्नी।

भक्तिदेवी [भक्तोजीमी] भगवान सत्यकी पुत्री

विवेक देव से छोटी।

मैत्रीदेवी [मिस्सोजीमी] भगवान की पुत्री, संयम देव से छोटी।

वत्सजतादेवी [मिजोजीमी] भगवान की पुत्री, मैत्री देवी से छोटी।

वधा देवी [दधोजीमी] भगवान की पुत्री।

चमादेवी [माफोजीमी] भगवान की पुत्री।

शान्तिदेवी [शमोजीमी] भगवान की सातवीं पुत्री।

न्यायदेव [उ'कोजीमा] विवेक देव के सुनीम ।
कृतज्ञतादेवी [भक्तजेवीजीमा] न्यायदेव की पत्नी
समन्वय देव [शक्तोजीमा] विवेक देव के पुत्र ।
चिन्तन देव [इ'कोजीमा] विवेक देव और सर-
स्वती देवी के पुत्र ।

सन्तोष देव [तुशो जीमा] संयम का मित्र ।
विरक्ति देवी [सुमिचोजीमा] संयमदेवजी सेविका
प्रयोगदेव [निंजोजीमा] विज्ञान देवका सेवक
श्रमदेव [शिद्धोजीमा] उद्योग देवका मित्र ।
शृङ्गार देव [शिंजोजीमा] कामदेव और कला-
देवी का सेवक ।

अनुभव देव [इ'किदेजीमा] सरस्वती वाजार के
बड़े सुनीम ।

विद्यादेवी [जानोजीमा] अनुभवदेवकी पत्नी
हँसिदेवी [हिसोजीमा] कामदेव और करदेवी
की सखी ।

रतिदेवी [कमोजीमा] कामदेव की सेविका ।
यत्नदेव [धटोजीमा] संयम विज्ञान उद्योगदेव
का मित्र ।

दैवदेव [बूडोजीमा] यत्नदेव का सुनीम ।
जिज्ञासादेवी [जानिशोजीमा] सरस्वती देवी की
द्वारपालिका ।

वाणीदेवी [इ'कोजीमा] सरस्वती देवीकी दासी ।
लिपिदेवी [लि'र'बोजीमा] " " "
सहिष्णुता देवी [फी'शोजीमा] तपस्या और क्षमा
देवी की सखी ।

सफलता देवी [फुनोजीमा] तपस्या देवीकी पुत्री
धैर्यदेव [धिरोजीमा] तपस्या देवी का भाई ।
आशादेवी [आशोजीमा] धैर्यदेव की पत्नी ।
साहसदेव [ठामोजीमा] शक्तिदेवी का भाई ।
वैभव देव [धूतोजीमा] लक्ष्मी देवी का भाई ।
चतुर्ता देवी [चन्तोजीमा] कलादेवीकी सखी ।
सेवादेवी (सिवोजीमा) भक्तिदेवी आदि की
सखी ।

विनयदेव (नाथोजीमा) भक्ति और तपस्या-
देवी के छोटे भाईके समान मित्र ।
आश्चर्य देव (मोनोजीमा) भक्तिदेवी के छोटे
भाई के समान सेवक ।

ध्यानदेव (मुन्नोजीमा) सत्यलोक का सारथि

गुणदेव कुटुम्ब काफी विशाल है
अघातव्रत देव (नो'डिहोजीमा) सत्यवचन देव
(सतिकोजीमा) ईमानदेव [शु'कोजीमा] ये तीन
संयमदेवके पुत्र हैं । सद्भोग देव (सुजुशोजीमा)
सर्वजनदेव (सुअर्नोजीमा) निरतिग्रहदेव (नेगु-
शोजीमा) निरतिभोग देव (नेमेजुशोजीमा) ये
चारों संयम देवके नाती हैं । शनदेव [दानोजीमा]
निरतिग्रह देव का मित्र और भक्ति आदि देवियों
का सेवक है । इस प्रकार और भी सैकड़ों देव इस
गुणदेव कुटुम्ब में हैं । ऊपर इनके मुख्य मुख्य
रिश्ते बता दिये गये हैं पर इसके सिवाय भी इनमें
अनेक रिश्ते हैं । जैसे विवेकदेव, भगवान् भगवती
और मुक्ति के बाट सबके शासक हैं । और धनुतो
के गुरु भी हैं । जब कोई देव विवेक के अ'कुरा
में नहीं रहता तब वह एक तरह से कुदेव हो
जाता है ।

दुर्गुणदेव या कुदेव (रुजीम)

दुर्गुणदेव गुणदेवों के विरोधी प्रतिस्पर्द्धी
आदि हैं । ये आनन्द के मार्ग में बाधा डालते हैं ।
इनकी संख्या भी विशाल है । पर कभी कभी वे
विवेक की कक्षा में आवैठते हैं तब इनके द्वारा
कुछ काम आनन्दपर्यन्त होजाता है । जैसे अभि-
मान यदि विवेक की कक्षा में आवैठे तो वह
असंयम का विरोध करने लगता है । "मैं ऐस
उच्च कुत का व्यक्ति एसा नीच काम क्यों
करूँ" इत्यादि स्थानों में अभिमान पाप का
प्रतिस्पर्द्धी होजाता है । रुढ़ि और मोह के वश
में होकर भी कभी कभी आचमि अच्छा काम कर
जाता है । इसप्रकार दुर्गुण देवों को भी सत्ये-
श्वर के द्वार में स्थान मिलजाता है ।

पर साधारणतः दुर्गुण देव आनन्द के पथ
में रोड़े ही षट्कते हैं इनसे बचने के लिये
संक्षेप में इनके नामादि का परिचय दिया जाता
है या अविकोश दुर्गुण देवों का परिचय गुणदेवों
के विरोध का विचार करने से सहज में ही समझ
में आसकता है ।

मोह कुदेव (मुहो रजनीमा) विवेक का विरोधी ।
मृदता कुदेवी (जलो रजनीमी) सत्त्वतीकी विरो-
धिनी, मोह की पत्नी ।

द्वेष कुदेव (दूशो रजनीमा) भक्ति मैत्री वरसलता
दया क्षमा का विरोधी ।

क्रोध कुदेव [क्रशो रजनीमा] न्याय का विरोधी ।
द्वेष का सैनिक ।

मान कुदेव (मटो रजनीमा) भक्ति और आदर
का विरोधी ।

माया कुदेवी [कूटो रजनीमी] द्वेष की-
चतुर सेविका ।

लोभ कुदेव (लभो रजनीमा) सत्य, न्याय, मैत्री
का विरोधी ।

मन कुदेव [दिवो रजनीमा] साहस का विरोधी ।
कायरता कुदेवी [दिरो रजनीमा] भय की पत्नी ।

प्रलोभन कुदेव (लोभो रजनीमा) माया का भाई ।
सखलता का विरोधी ।

शोक कुदेव (शाको रजनीमा) धैर्य का विरोधी,
मोह का पुत्र ।

वृथा कुदेवी [वृसो रजनीमी] द्वेष की पुत्री,
भक्ति मैत्री आदि की विरोधिनी ।

उपेक्षा कुदेवी (खटो रजनीमी) वृथा की छोटी
बहिन, मैत्री आदि की विरोधिनी ।

एष्ठा कुदेवी [ललभो रजनीमी] लोभ की पत्नी,
सन्तोष की विरोधिनी ।

ईर्ष्या कुदेवी [वाहो रजनीमी] मैत्री की विरोधिनी ।

इन दुर्गुण देवों की संख्या भी विशाल है ।
इन गुणदेवों और दुर्गुणदेवों का दर्शन से
जीवन के विकास का मार्ग मिल जाता है । वे
रूप में इन देवों का दर्शन करने से भावना भी
वृद्ध होती है और अनाद्यता असहायता के संकट
में आशा वैधवी है तसल्ली मिलती है । जहाँ तक
भावना का संबंध है इन गुणों का इस तरह
दर्शन करना चाहिये ।

हा, चित्ते रूपदर्शन की तरफ रुचि न हो,
सिर्फ गुणदर्शन ही करना चाहना हो वह वैसा
करे, रूपदर्शन के बिना भी गुणदर्शन का काफी

या पूरा उपयोग है । पर गुणदर्शन के बिना
रूपदर्शन का बहुत कम उपयोग है ।

गुणदर्शन (गोरीरो)

भगवान सत्य के गुणदर्शन के मार्ग में
अनेक बाधाएँ हैं । बड़ी बाधाएँ नीचे हैं । १-कुसं-
स्कार मोह आदि के कारण आई हुई पचान्वता,
२-दीनता, आलस्य अज्ञान आदि के कारण पैदा
हुआ अन्ध विश्वास, ३-सत्य के भिन्न भिन्न रूपों
की ठीक ठीक पहिचान न होने के कारण पैदा
हुआ एकान्त आग्रह । इन सब रोगों को दूर
करने के लिये तीन बातों की आवश्यकता है-
१-निष्पक्षता, २-परीनकता, ३-समन्वयशीलता ।

१-निष्पक्षता (नेटिपो)

जिस प्रकार एक चित्र के ऊपर दूसरा चित्र
नहीं बनाया जा सकता, अथवा तब तक नहीं
बनाया जा सकता जब तक चर्च का चित्र किसी
दूसरे रंग से न बना दिया जाय, उसी प्रकार जब तक
हृदय पहिले से किसी कुसंस्कार या पक्षपात से
रंगा है तब तक उसपर सत्येश्वर का चित्र नहीं
घन सकता । इसलिये मनुष्य को अपना हृदय
निष्पक्ष बनाना चाहिये । अगर वह अपना पक्ष
पूरी तरह न छोड़ सक तो कम से कम उतने
समय के लिये तो उसे अपना हृदय निष्पक्ष बना
ही लेना चाहिये जितने समय वह किसी नई बात
पर या दूसरे की बातपर विचार कर रहा है, या
वह शुद्ध सत्य को समझने की इच्छा रखता है ।

सत्यदर्शन के लिये निष्पक्षता जरूरी है,
और निष्पक्षता के लिये दो तरह के मोहों का
त्याग करना जरूरी है । १-स्वत्व मोह २-बाल-
मोह ।

स्वत्वमोह [एमो मोहो]

स्वत्वमोह का अर्थ है अपनी चीज का
मोह । अधिकतर लोगों को सत्य प्रसत्य की
परीक्षा नहीं होती । वे सबबाई का निर्णय अपने-
पन से करते हैं । हमारे विचार अच्छे, हमारी
भाषा अच्छी, हमारी लिपि अच्छी, हमारा देश
अच्छा, हमारी पोषाक अच्छी, हमारे सब तरीके

अच्छे, हमारा धर्म अच्छा, हमारे पुरखे अच्छे आदि। सत्यदर्शन में यह बड़ी भारी बाधा है। वे सच्चाई को अपनाता नहीं चाहते किन्तु अपनी चीजपर सच्चाई की छाप मारना चाहते हैं।

पर इस अपनेपन का सच्चाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपनापन जिन कारणों से पैदा होता है उसका सच्चाई से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अधिकांश अपनापन जन्म के कारण होता है। जिन लोगों में हम पैदा होते हैं उनकी सब बातें हमें अच्छी लगने लगती हैं, वाल्या-वस्था के संस्कारों के कारण कुछ आवत भी वैसी पड़जाती है। पर इस बातपर हम जरा गहराई से विचार करें तो अच्छेपन की यह कसौटी हमें गलत मालूम होने लगेगी।

हमारा जन्म हमारे चुनाव से नहीं हुआ। जन्म के पहिले हमने किसी जगह बैठकर यह निर्णय नहीं किया था कि "इस संसार में सबसे अच्छे मा-बाप कौन हैं जिनके यहाँ हम जन्म ले, सब से अच्छी भाषा कौन है जिसे बोलनेवालों में हम जन्म ले, सब से अच्छा जलवायु कहाँ का है जहाँ हम जन्म लें, सब से अच्छे रीतिरिवाज कहाँ के हैं जहाँ हम जन्म लें, सब से अच्छा धर्म कौनसा है जिसमें हम जन्म ले आदि।" ऐसी हालत में अपनेपन के कारण किसी चीज को सत्य समझने का क्या अर्थ है? जहाँ हम पैदा हुए वहाँ की चीज को हम अच्छा या सत्य कहने लगे, जहाँ कोई दूसरा पैदा हुआ वहाँ की चीजों को वह अच्छा या सत्य कहने लगे, इस कहने का क्या मूल्य होसकता है?

हा। जन्म या संगति के कारण हमें कुछ बातों की आवत होजाती है, सम्पर्क आदि के कारण कुछ स्नेह भी पैदा होजाता है ऐसी हालत में उनसे कुछ विशेष प्यार होजाय यह स्वाभाविक है, तब हम उन्हें प्यारा कहें यह किसी तरह ठीक है पर अपनेपन के कारण उसे सब से अच्छा कहने की भूल न करें। जो खानपान हमारी आवत में शुमार होगया है, जिस भाषा की हमें वाल्यावस्था से आवत पड़गई है, जो जलवायु

हमें सुफीट होगया है वह हमें प्यारा होसकता है, पर सब से अच्छा नहीं। इसके लिये हमें ऐसी कसौटी बनाना चाहिये जो बहुजन हित की दृष्टि से ठीक हो। जैसे धर्म के बारे में यह देखना चाहिये कि क्या उसका टांचा आज की समस्याओं को सब से अच्छी तरह से हल करसकता है? भाषा की दृष्टि से यह देखना चाहिये कि क्या नये आदमी को भी वह सीखने में सरल है? इसी ढंग से सब बातों का विचार करना चाहिये। किसी चीज को या व्यक्ति को हम अपने लिये सब से अधिक प्यारा कहकर भी सब से अच्छा या पूर्ण सत्य कहने की भूल न करें, इसकेलिये हमें ठीक परीक्षा करके ही निर्णय करना चाहिये। साथ ही यह बात न भूलना चाहिये कि जैसे संस्कारवश हमें अपनी चीज प्यारी लगती है उसी तरह दूसरे को भी अपनी चीज प्यारी लग सकती है। इसलिये जो चीज हमें प्यारी है वह दूसरे को प्यारी क्यों नहीं, इस विचार से दुखी या द्वेषी न होना चाहिये। इस बारे में उदार रहना चाहिये। और सत्य के मामले में निर्वीत रहना चाहिये।

सार यह कि हम अपनी चीज को अपनेपन के कारण सच्ची समझने की कोशिश न करें, किन्तु जो बात सच्ची सिद्ध हो उसे सच्ची मानने की तथा अपनेपन की कोशिश करें।

‘जो अपना सच्चा वही’ यह है सुनी कुटेक।

‘जो सच्चा अपना वही’ रक्खो यही विवेक ॥

स्वतन्त्रता के कारण यद्यप्य मे अनेक दुरा-
इयों आती हैं जो स्वपर कल्याण में विधातक
और सत्यदर्शन में बाधक हैं। कुछ ये हैं—

१. सत्य की उपेक्षा [सत्या पे खतो]
२. सत्य का विरोध [सत्योपे फुटुते]
३. भूट की बकावत [भिरो पे वारो]
४. उपेक्षक श्रेयोपहरण [खटीर लेकेमो-खेनो]
५. धातक श्रेयोपहरण [डिंडर लेकेमो-खेनो]
६. सत्य का अस्वीकार [सत्योपे नोअम्मो]

१—जिस राज्यपर अपनेपन की छाप नहीं
लगी रहती उसपर स्वतन्त्रताही पूरी तरह उपेक्षा

करता है। उसपर वह थोड़ा बहुत भी ध्यान नहीं देता। इससे वह सत्य से वञ्चित रहता है।

२-जब स्वत्वमोही देखता है कि उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा तब वह किसी न किसी तरह विरोध करने लगता है। इससे वह तो सत्य से वञ्चित रहता ही है पर दूसरो को भी सत्य से वंचित रखने की कोशिश करता है।

३-इस स्वत्वमोह के कारण मनुष्य ज्ञान विज्ञान की घुरी तरह अवहेलना करता है। इस से ज्ञान विज्ञान की हानि नहीं होती किन्तु मनुष्य की हानि होती है और मनुष्य अपनी हास्यास्पद मूढ़ता का परिचय देता है। बहुत से लोग कहने लगते हैं कि "विज्ञान की अंतिम से अंतिम खोजें हमारी मान्यताओं का समर्थन करती हैं," ऐसे लोग विज्ञान की वर्णमाला भी न समझकर उसके नाम पर मनचाही कल्पनाएँ किया करते हैं और उनसे अपनी रुढ़ियों या मान्यताओं का समर्थन कराया करते हैं। 'चोटी के द्वारा शरीर में बिजली आती है उससे शक्ति बढ़ती है यह वैज्ञानिक बात है इसलिये चोटी रखना अच्छा।' इस तरह का इनका वैज्ञानिक समर्थन रहता है। वे यह नहीं सोचते कि तब तो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को ज्यादा बिजली मिलना चाहिये, उनकी चोटी बड़ी होती है। अथवा चोटीवालो पर खास तौर पर बिजली गिरना चाहिये। पर उन्हें अपनी तारीफ से मतलब, गहरे विचार से नहीं। इसप्रकार प्रायः हर एक धर्मवाला अपनी रुढ़ियों पर विज्ञान की भूठी छाप लगाया करता है। वह स्वत्वमोह का परिणाम है। इस से मनुष्य आवश्यक सुधार नहीं कर पाता।

४-कोई कोई लोग इसप्रकार की हास्यास्पद बातें तो नहीं करते किन्तु सामान्य की ओट में विरोध का मूल्य छिपाकर भूठी आत्मरक्षा या दूसरों के श्रेय का अपहरण करते हैं। जैसे—'रैल का गंजिन बनानेवाले ने क्या बड़ी बात की? भाफ में बड़ी ताकत है यह तो हमारे देशवासियों को सदा से मालूम था" इस

वक्तव्य में वह यह भूल जाता है कि भाफ की ताकत का साधारण ज्ञान शताब्दियों तक लाखों आदमियों को रबने पर भी गंजिन न बनसका, तब जिसने गंजिन बनादिया उनकी महत्ता इस दृष्टि से हमारे आत्मियों से कई गुणी है। इसीप्रकार एक ही आदमी पिता की अपेक्षा पुत्र और पुत्र की अपेक्षा पिता है इसका पता होने से ही अनेकान्त सिद्धान्त के आविष्कार का श्रेय अपहरण नहीं किया जासकता। या अनेकान्त का ज्ञान होने से ही सापेक्षवाद (Relativity) की महत्ता का श्रेय अपहरण नहीं किया जासकता। इनके श्रेय का अपहरण करना तो ऐसा ही है जैसे किसी महाकवि की रचना पर यह कह दिया जाय कि "इस कविता में जितने स्वर व्यंजन आये हैं वे तो हमारे घर के बच्चे बच्चे को मालूम हैं। इसमें महाकवि की क्या महत्ता है?" जैसे स्वर व्यंजन का साधारण ज्ञान होने और उनकी क्रमिक क्रम से रचना करके एक श्रव्य वस्तु में जमीन आसमान का अन्तर है उसीप्रकार साधारण ज्ञान से वैज्ञानिक आविष्कारों में अन्तर है।

५-कुछ लोग ग्रंथ सम्प्रदाय मत आदि के स्वत्वमोह के कारण शास्त्रीय हास्यास्पद रीतिरिवाजों को रबने पर भी श्रेय लूटने के लिये उनकी बात पहिले लिखलेते हैं और फिर कोप व्याकरण का कचूर बना बनाकर शाब्द से इच्छित अर्थ खोजते रहते हैं। कोई भी बात हो वे किसी न किसी तरह से उसे अपनी बात सिद्ध कर डालते हैं। इसके लिये अवसर के बिना ही अलंकार एकाक्षरी कोष आदि का उपयोग करते हैं, सीधे तथा प्रकरण संगत अर्थ को छोड़कर कुटिल अर्थ निकाला करते हैं। इसके बाद या कभी कभी इसके पहिले ही वे यह तक कहने का दुःसाहस कर डालते हैं कि ये सब तो हमारी ही बातें हैं, इन्हें दूसरे ने हमारे ग्रंथों से चुरा लिया है। वे यह नहीं सोचते कि शास्त्रियों से जिन ग्रंथों को तुम्हारे संकक्षों विद्वान पढ़ते रहे और उन्हें जिन आविष्कारों को गंव भी न मिली, एक कदम चलने लायक रास्ता भी न सूझा वे दूसरों

को कहाँ से मिलगये ? सचमुच स्वत्वमोह से मनुष्य इतना विचारशून्य होजाता है कि उसमें साधारण समझदारी के दर्शन भी दुर्लभ होजाते हैं। वह धानकृतासे श्रेयोपहरण करने लगता है।

६—बहुत से लोगों का स्वत्वमोह इतना प्रबल रहता है कि वे तब तक किसी युगसत्य को अपनाने को तैयार नहीं होते जब तक उसपर उनके देश जाति धर्म आदि के नाम की छाप न लग जाय। वे यह भूल जाते हैं कि जो सत्य मनुष्य-मात्र के लिये है उसपर किसी खास जाति धर्म या देश की छाप लगाने से वह सब के काम का न रहेगा। यद्यपि उसे नाम तो देना ही पड़ता है पर उसपर अमुक देश जाति धर्म का नाम देना उस युगसत्य को संकुचित कर लेना है। इसलिये उसे ऐसा नया नाम देना चाहिये जो किसी को दूसरे का न मालूम हो।

इस स्वत्वमोह का ही परिणाम है कि मनुष्य अपनी सृष्ट वस्तुओं, सृष्ट रूढ़ियों, सृष्ट-सम्प्रदायों के नामपर लाखों की सम्पत्ति खर्च करता है, पर जीवित धर्म पर उपेक्षा करता है। इससे उसका जीवन और धन व्यर्थ जाता है और जगत भी कल्याण से वञ्चित रहता है।

इसप्रकार स्वत्वमोह के कारण मनुष्य अपनी उपेक्षकता से घर आये हुए या सामने आये हुए सत्य के दर्शन से वञ्चित रहता है, सत्य का विरोध करके अपने पैरोंपर आप कुल्हाड़ी मारता है, झूठ की वजालत करके जीवन की धीमारियों से चिपटा रहता है, सत्यसेवकों की सेवा पर उपेक्षा करके एक तरह की कृतघ्नता का परिचय देकर प्रगति के विषय में अज्ञानी बनता है, कभी सत्यसेवकों या उपकारियों के उपकार पर जवर्दस्ती अपनेपन की छाप मारकर एक तरह की डकैती करता है, अन्त में यहा तक होता है कि सत्य की महत्ता का पूरी तरह पता लगजाने पर भी वह सत्य को अस्वीकार करके जीवन असफल बनाता है। इन सब बातों से कहना पड़ता है कि स्वत्वमोह सत्येश्वर के दर्शन में बड़ी भारी बाधा है।

कालमोह (लालोमुहो)

किसी बात को अमुक काल का होने के कारण ही सत्य या ठीक समझना कालमोह है। सत्य को उसकी उपयोगिता अर्थात् कल्याण-कारकता की दृष्टि से ही परखना चाहिये। प्राचीनता या नवीनता की दृष्टि से नहीं। दोनों तरह का—प्राचीनता का और नवीनता का मोह सत्य दर्शन में बाधक है।

प्राचीनता मोह (लूवो मुहो)

प्राचीनता मोही उचित-अनुचित का विचार नहीं करता। वह प्राचीनता के नाम से किसी बात को ठीक समझ लिया करता है। इसलिये सत्य जब युग के अनुसार किसी नये रूप में आता है तब प्राचीनता मोही उसका अपमान करता है। और पुराना रूप जब विकृत होकर असत्य बनजाता है तब भी उससे चिपटा रहता है। इस प्रकार वह सत्य का भोजन नहीं कर पाता और असत्य रूप भल (जोकि किसी समय भोजन था) का त्याग नहीं कर पाता। इसप्रकार प्राचीनता मोह उसके जीवन को बर्बाद करता है। इस विषय में एक वैद्यजी की कथा है।

प्राचीनतामोही वैद्य (लूवोमुहिर चिकित्सक)

एक बार एक वैद्यजी के मित्र आये। वैद्यजी प्राचीनतामोही थे और उनके मित्र थे सुधारक। मित्रजी का कहना था कि युग के अनुसार सुधार करना जरूरी है। भले ही कोई बात किसी युग में अच्छी रही हो परन्तु आज अगर उसका उपयोग नहीं है तो उसका त्याग ही कर देना चाहिये। अपने समय पर वह अपना काम कर चुकी निःसार होनेपर उसका रखना बर्बत है।

वैद्य जीका कहना था—जो अच्छा है अच्छा ही है। यह बुरा क्यों होगा ? बुरा है तो हमारे पुरखे, जो हमसे होशियार थे, क्यों हमें दे जाते ?

मित्रजी ने बहुत समझाया कि ' जो बुरा पुरखों के जमाने में अच्छी थी वह अपना काम कर चुकनेपर परिस्थिति बदलने पर निःसार हो सकता है '।

पर वैद्यजी इस बात को किसी भी तरह मानने को तैयार नहीं थे।

इतने में एक बाई अपने बालककी चिकित्सा कराने आई। उसका कहना था कि यह बालक परसों से टट्टी नहीं जारहा है।

वैद्यजी ने बालक की नाडी देखी पर कोई खास बीमारी समझ में न आई। तब उनने बालक से पूछा—बयो भाई, तुम्हें टट्टी नहीं लगती ?

बालक ने कहा—लगती तो है।

वैद्यजी—तब तुम टट्टी क्यों नहीं जाते।

बालक ने कुछ सहमते हुए कहा—मैं उसे रोक रखता हूँ।

वैद्यजी ने आश्चर्य से पूछा—रोक रखते हो। रोकने का कारण ?

बालक ने नीची नजर रखकर कुछ लजाते हुए कहा—मैंने परसों मिठाई खाई थी।

वैद्य—अरे, तो मिठाई से क्या हुआ ? क्या मिठाई खाने के बाद टट्टी नहीं जाना पड़ता ?

बालक—मिठाई हर दिन तो मिलती नहीं, सलिये सोचता हूँ मिठाई क्यों निकालूँ ?

वैद्य—अरे मूल, क्या अभी तक मिठाई आट में बनी ही रही। उसका जो हिस्सा शरीर में मलने का था वह शरीर में मिल गया, बाकी तो वृक्षा होगया, अब वह मिठाई कहा रही ?

बालक—परसों तो मिठाई थी।

वैद्य—अरे, तो परसों परसों है, आज आज है। क्या कोई चीज सदा एकसी बनी रहती है ? जा यह दवा लेजा।

यह कहकर वैद्य जी ने हलका सा जुलाब दे दिया।

दोनों के बले आनेपर मित्र ने वैद्य जीसे कहा—भाइजी, आप टट्टी रोकने पर दूसरों को ही जुलाब देते हैं। खुद नहीं लेते।

वैद्य जी ने मुसकराते हुए कहा—भाई मानता हूँ तुम्हारी बात। जो नियम शरीर की चिकित्सा का है वही समाज की चिकित्सा का भी है। अब आज से मैं भी सुधारक बनता हूँ।

स्वत्वमोही में जिक्रफार सत्यपर उपेक्षा आदि छ' दोष पाये जाते जाते हैं। उसीप्रकार प्राचीनतामोही में भी पाये जाते हैं। स्वत्वमोही में अपनेपन के पक्षपात के कारण दूसरे के द्वारा प्रगट किये गये सत्य के बारे में उपयुक्त दोष दिखाई देते हैं जब कि प्राचीनता मोही में प्राचीनता के पक्षपात के कारण नवीनसत्य या युग-सत्य के बारेमें उपयुक्त दोष दिखाई देते हैं। एक ही सत्य को स्वत्वमोही पराया समझकर और प्राचीनतामोही नवीन समझकर अन्वीकार करता है।

स्वत्वमोही को तरह प्राचीनता मोही भी जब किसी सत्य का विरोध उपेक्षा आदि नहीं कर पाता तब श्रेयोपहरण करने लगता है। अगर किसी ने वायुयान बनाया तो प्राचीनता मोही को यह सब अपने शास्त्रों में दिखाई देने लगता है। प्राचीनता मोही भी सामान्य विशेष के मूल्य, महत्व और उपयोगिता का अंतर भुला देता है। वह यह भूलजाता है कि ससार में ऐसे बहुत से सिद्धांत हैं जिनके सामान्य रूपों का पता मनुष्य ने तभी लगा लिया था जब वह पशु से मनुष्य बना था, परन्तु उस लुप्त सामान्य ज्ञान के बाद मनुष्य ने जो कठोरा विशेषताओं का ज्ञान किया है इनको महत्ता उस लुप्त सामान्य ज्ञान में नहीं समाजाती। सारे विश्व को सत् रूप जान लेना एक बात है और उसकी अग्राणित विशेषताओं को जान लेना दूसरी। इन विशेष ज्ञानों की उपयोगिता सामान्य ज्ञान से पूर्ण नहीं होसकती। परन्तु प्राचीनता मोही अपने प्राचीनता मोह के कारण सामान्य ज्ञानों को इतना अनुचित और हास्यास्पद महत्व दे देता है कि वह ज्ञानमें या अज्ञानमें श्रेयोपहरण कर जाता है।

प्राचीनतामोही ज्ञान में वा अज्ञान में जो इसप्रकार के भ्रमा का शिकार होजाता है उसका एक कारण यह भी है कि वह कल्पना-कथाओं को और इतिहास को एक मानलेता है। लोगों के मनमें सुखसाधन के रूपमें नाना तरह की लालसाएँ और कल्पनाएँ उठा करती हैं और कल्पित कहानियों में

मनको तसल्ली देते रहते हैं। उनमें से कोई कोई कल्पनाएँ ऐसी भी होती हैं जो कि शतावियों की साधना से प्रत्यक्ष होजाती हैं। जैसे मनुष्य ने पक्षियों को उड़ता देखकर मनुष्य के उड़ने की कल्पना की। वह स्वयं तो उड़ नहीं सकता था इसलिये उसने कल्पना सृष्टि में परियों की, गरुड आदि पक्षिवाहनों की, दिव्य और वांत्रिक विमानों की कल्पना की। अवतारी कहलाने वाले व्यक्तियों में उनका आरोप कर उनके पुराण बनाये। शतावियों बाद मनुष्य की साधना से सचमुच के वायुयान बनगये। तब इस साधना के महत्व को भूल कर पुरानी कल्पनाकथाओं को महत्व देना अन्याय है।

वास्तव में हर एक आविष्कार का यह नियम है कि वह पहिले कल्पना में आता है। और किसी महान आविष्कार की कल्पना तो पीढ़ियों और शतावियों तक बनी रहती है। तब तक वह कहानियाँ की कथावस्तु बनजाती है। पर यह भूलना न चाहिये कि वह कल्पना है। इसे वह इतिहास न समझले। पर प्रबल प्राचीनता मोह इस भ्रम को दूर नहीं करने देता।

प्राचीनतामोही इस भ्रमसे तथा उपर्युक्त दोषों से अपनी और जगत की बड़ी हानि करता है। एक तरह से उसके लिये उन्नति का द्वार बन्द होजाता है वह या उसका समाज मौत की राह में जाने लगता है। सुधारकता, या युग के अनुरूप परिवर्तन करने की क्षमता नष्ट होजाती है।

भोजन और शौच (मलत्याग) जीवन के लिये आवश्यक है। पर प्राचीनतामोही समाज न युग के अनुरूप नई सुराक ले सकता है, न युग के प्रतिकूल पुगती पथीहुई सुराक को दूर करसकता है। यह मौत की या पतन की राह है।

प्राचीनता मोही साधारणतः अवसर्पणवादी (नूरोवादि—अवनतिवादी) होता है। वह सोचता है—'जितना कुछ सत्य था वह भूतकाल में आचुका, हमारे पुरखों को प्राप्त होचुका, अब उसमें कोई सुधार संशोधन या नवीनता नहीं

आसकती। यह जगत धीरे धीरे पतित होरहा है, अब इसका कोई क्या सुधार करेगा? आदि' इसप्रकार वह मानवजाति की उन्नति में विश्वास नहीं करता, पतन को स्वाभाविक समझता है। इन्हीं सब विचारों के कारण वह नवीन रूप में आये हुए विचारसत्य का विरोध करता है। और जब कोई विचारक समाज के विकारों को दूर करने के लिये, अर्थात् या समाज के कल्याण के लिये समाज के सामने नये विचार रखता है तब प्राचीनतामोही इस विचार सत्य का विरोध करने के लिये कमर कसता है। वह नये विचारक से कहता है—

‘हमारे पूरखे क्या मूर्ख थे? क्या तुम्हारे बिना उनका उद्धार नहीं हुआ? क्या तुम उनसे बढ़कर हो? उन्हीं की जूटन खाकर तुम पले हो, अब उनसे बड़ा बनना चाहते हो। उनकी मूर्खों निकालते हो?’

वह प्राचीनता मोही या अवसर्पणवादी यह नहीं सोचता कि हमारे पुरखों के पास जतनी पूंजी थी वह तो हमें मिली ही है साथ ही इतने समय में जगत ने जो ज्ञान कमाया है, वह भी पूंजी के रूप में हमें मिला है, ऐसी शक्त में हम व्यक्तित्व की दृष्टि से न सही, पर ज्ञान भण्डार की दृष्टि से बढ़गये हों तो इसमें आश्चर्य क्या है? बल्कि यह स्वाभाविक अवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि पूर्वपुनप ० १ अपेक्षा फितने ही ज्ञानी क्यों न हों, पर देश ५ १ के अनुसार परिवर्तन या सुधार करने से अवहेलना नहीं होती। अगर आज वे होते १ वे भी देश काल के अनुसार सुधार करते।

जब हम बालक थे तब मा बाप ने उ परिस्थिति के अनुसार छोटा कोट बनवाया था, गरमी के दिनों में पतला कुर्ता बनवाया था, अब उनके मरने के बाद जीवनभर हम छे कोट ही पहिने या शीत ऋतु आजाने पर पतला कुर्ता ही पहिने क्या यह उचित होगा अगर हमें कोई सलाह दे कि समयानु-

पोशाक बदल लेना चाहिये और इस पक्ष कि हमारे धाप क्या मूल्य थे जितने यह पोशाक बन-वायी तो यह कथन हमारा पागलपन होगा। प्राचीनता मोह से ऐसा ही पागलपन आता है।

तीसरी बात यह है कि देशकाल के अनु-सार सुधार करने वाला जनसेवक भले ही पुगने लोगों के टुकड़े पाकर पला हो, मनुष्य बना हो, पर जिस प्रकार छोटा सा बीज आसपास के कूड़े-कचरे को पाकर एक महान वृक्ष बनजाता है, और उसका मूल्य बीज से तथा कूड़े-कचरे से कई गुणा होजाता है, वसीप्रकार पुगने टुकड़ों को पाकर भी एक सुधारक जनसेवक महात्मा बन सकता है।

प्राचीनतामोहियों की प्रवृत्ति के कारण ही बहुतसी धर्मसंस्थाओं को अपने ऊपर प्राचीनता की छाप लगाना पड़ी है। धर्मसंस्था को सत्य का या धर्म का अनुकूल देशकाल के लिये बनाया गया कार्यक्रम है। सत्य अनादि अनन्त कहा जासकता है पर उसके लिये जो कार्यक्रम बनाया जाता है वह तो अनादि अनन्त नहीं कहा जासकता। पर जब जनता प्राचीनता की छाप के बिना किसी सत्य को ग्रहण करने को तैयार नहीं होती तब धर्मसंस्थाओं के संस्थापकों अर्थात् तीर्थंकरों को ऐसा पीछेसे उसके शिष्य प्रतिष्ठित सञ्चालकों को जिस नवीन या सामयिक सत्य पर अनादिता की तथा प्राचीनता की छाप लगाना पड़नी है। इस लिये अधिकांश धर्मसंस्थाओं के संस्थापक तीर्थंकर और सञ्चालक किसी न किसी रूप में अपनी धर्मसंस्था का इतिहास सृष्टि के कल्पित प्रारम्भ से शुरू करते हैं, इस प्रकार धार्मिक सत्य देने के लिये उन्हें ऐतिहासिक अतथ्य का बौद्ध सिर पर क्रावटा पड़ता है। कालान्तर में यह अतथ्य इतना मूल्य होजाता है कि उसके आगे धार्मिक सत्य बना मूल्य कम माना जाने लगता है। इस बुराई की जिम्मेदारी धर्मसंस्था के संचालकों पर नहीं पड़ती जासकती या बहुत कम डाली जा सक-
ती है, सारी या अधिकांश जिम्मेदारी प्राचीनता-मोही समाज की होती है। अगर उसमें प्राची-
न

नतामोह न होता तो धर्मशास्त्रों में प्राचीनता की कल्पित कहानियों न भरी गई होती और न उनके अनुयायी प्राचीनता को सत्य की कसौटी मानकर स्वपरवृत्तता करते। प्राचीनतामोही व्यक्ति अपने सम्प्रदाय को पुराने से पुराना साधित करने के लिये पृथी से चोटी तक पसीना बहाता है। जब कि निसोह या विवेकी व्यक्ति प्राचीनता की पूर्वाह्न नहीं करता। बल्कि उसकी धर्मसंस्था को कोई सब से प्राचीन कहे तो वह मुसकराकर कहेगा कि मेरी धर्मसंस्था इतनी खराब नहीं है कि मैं उसे सब से प्राचीन कहूँ।

इस विवेचन से पता लगता है कि जिस सत्य का दर्शन करना है उसे प्राचीनता का मोह नष्ट कर देना चाहिये। पर प्राचीनता के मोह को नष्ट करने का मतलब यह नहीं है कि हर एक प्राचीनवस्तु की अवहेलना की जाय। स्वपर-कल्याणकारी तत्त्व चाहे नवीन हो चाहे प्राचीन, हमें ग्रहण करना चाहिये। फिर भी इतना कहा जासकता है कि प्राचीन की अपेक्षा नवीन को अग्र्य होने का अवसर अधिक है। नवीन में तीन विशेषताएँ रहती हैं—

१—नवीन हमारी वर्तमान परिस्थिति के निकट होने से प्राचीन की अपेक्षा हमारी परिस्थिति के अधिक अनुकूल होता है।

२—यह स्वभाव है कि पैदा होने या बनने के बाद हर एक वस्तु परिवर्तित या विकृत होती जाती है, कदाचित् कोई वस्तु कुछ समय तक विकसित होने के बाद विकृत होती है पर विकृत होने लगती है जरूर, इसलिये जो वस्तु बहुत पुरानी हो उसे विकृत होने का अधिक अवसर मिला है जब कि नवीन को विकृत होने का इतना अवसर नहीं मिला है।

३—प्राचीन के कर्त्ता को जितना अनुभव और साधनसामग्री मिल सकती है, नवीन के कर्त्ता को उससे कुछ अधिक मिलती है इसलिये नवीन कुछ अधिक सत्य या पूर्ण रहता है।

इन तीन कारणों से सत्यासत्य के निर्णय में नवीनता से कुछ अधिक सहारा मिले यह

स्वाभाविक है। फिर भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जितना नवीन है सब अच्छा है। तात्पर्य इतना ही है कि प्राचीन की अपेक्षा नवीन की अच्छा होने का अधिक अवसर है। होसकता है कि किसी नवीन में अधिक अवसर का ठीक ठीक या पूरा उपयोग न हुआ हो और किसी प्राचीन में कम अवसर का भी उचित और अधिक उपयोग हुआ हो तो ऐसी हालत में नवीन की अपेक्षा प्राचीन अच्छा होगा। इसलिये प्राचीन और नवीन के विषय में निश्चय रहना ही सब से अच्छा है।

नवीनता मोह (नूयो मुहो)

प्राचीनता का मोह जितना सत्यदर्शन में बाधक है उतना तो नही, फिर भी काफी परिमाण में, नवीनता का मोह भी सत्यदर्शन में बाधक है। नवीन होने से ही कोई वस्तु प्राचीन से अच्छी नहीं होती। कभी कभी प्राचीन विकृत होकर नवीनरूप धारण कर लेता है। ऐसी अवस्था में विकृति को मूलवस्तु से अच्छी नहीं मान सकते। धर्मों के इतिहास में ऐसी बहुतसी बातें मिलेंगी कि जो धर्म मूल में अच्छे थे, वे पीछे विकृत हो गये। यद्यपि विकृत रूप नवीन कहलाया, पर नवीन होने से वह अच्छा नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्था में विकृति को हटाकर फिर मूल की ओर या प्राचीन की ओर जाना पड़े तो प्राचीन होने के कारण ही इस प्रयत्न को युक्त नहीं कहेंगे।

जैसे—वैदिक धर्म की आश्रम व्यवस्था पुरानी चीज है आज नष्ट हो चुकी है, अब फिर आवश्यकता देखकर कोई उसकी स्थापना करना चाहे तो प्राचीन होने के कारण वह असत्य न होजायगी।

इसलाम में ग्याज लेने की मनाई है पर यह विधान पुराना पड़ गया है अब आज कोई ग्याज को बन्द करना चाहे तो यह प्राचीनता के कारण अनुचित न होजायगा।

जैनों और बौद्धों ने मूर्तिपूजा को व्यवस्थित रूप दिया, पीछे परिस्थिति बदल जाने से उसका विरोध हुआ। अब कोई उसको फिर व्यवस्थित

और व्यापक रूप देना चाहे तो प्राचीन होने के कारण यह असत्य न होजायगा।

कभी एकतन्त्र से प्रजातन्त्र, कभी प्रजातन्त्र से एकतन्त्र पर आना पड़ता है। पुरानी चीज का पुनरुद्धार होते देखकर नवीनतामोही को खबराना न चाहिये। प्राचीन अगर उपयोगी है तो वह नवीन ही है। सर्वथा नवीन असम्भव है।

सत्यदर्शन में हर तरह का मोह बाधक है। चाहे वह स्वत्वमोह हो चाहे कालमोह, चाहे नवीनता का मोह हो चाहे प्राचीनता का, सब तरह के मोहों का त्याग करके निष्पक्षता पैदा करना चाहिये। सत्येश्वर के दर्शन के लिये निष्पक्षता आवश्यक गुण है।

२ परीक्षकता (देखको)

निष्पक्षता पालनेवाला व्यक्ति ठीक ठीक परीक्षा कर सकता है। परीक्षा का मतलब, सत्य-असत्य भलाई-बुराई की जांच पच्य करना है। कोई सत्य परम्परा से मिला हो तो भी उसकी इतनी जांच तो करना ही चाहिये कि वह देशकाल और व्यक्ति का विचार करते हुए कल्याणकारी है कि नहीं? जो आदमी इतनी भी परीक्षा नहीं कर सकता वह सत्येश्वर का दर्शन नहीं कर सकता। वह किसी बात को माने या न माने उसके मत का कोई मूल्य नहीं है। 'तुम यह बात क्यों मानते हो? क्योंकि हमारे पुरखे मानते आये हैं, यह उत्तर सत्यदर्शक का उत्तर नहीं है। परम्परा की मान्यता से ही किसी बात को मानने में मनुष्य होने का कोई लाभ न हुआ। बाप हिन्दू था सो हिन्दू होना सत्य, बाप मुसलमान था सो मुसलमान होना सत्य, बाप जैन बौद्ध या ईसाई था सो जैन बौद्ध या ईसाई होना सत्य, बाप मनुष्य था सो मनुष्य होना सत्य और बाप पशु होता तो पशु होना सत्य, यह ५० की विचारधारा नहीं है। सत्यदर्शक होने के लिये इन सब बातों के भले बुरे अंशों की जांच करना चाहिये। आदमी को परीक्षक बनना चाहिये परीक्षक बनने के लिये तीन बातों की जरूरत जरूरत है। क-विचारकता, ख-अनन्यता ग-प्रमाणज्ञान।

क—विचारकता (इंको, एंको)

किसी बातपर श्रद्धा करने के लिये उसपर विचार करना जरूरी है। यद्यपि विचारक कहलाने लायक दिखता था ऊँचे दर्जे का विचारक बनने के लिये काफी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता की जरूरत होती है, और ये चीजें जितने ऊँचे दर्जे की होगी, विचारकता भी उतने ऊँचे दर्जे की हो सकेगी, पर काम चलाने के लिये साधारण बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता भी काफी हो सकती है। साधारण आदमी के पास जितनी विद्याबुद्धि होती है उससे अगर वह पूरा काम ले तो सत्यदर्शन के योग्य विचारकता उसमें आ सकती है।

यह हो सकता है कि वह कठिन भाषा न समझे, शास्त्रीय भाषा का उसे ज्ञान न हो, फिर भी हित-अहित कल्याण-शक्याण की बात वह समझ सकता है, उसपर विचार भी कर सकता है। विचारकता में सबसे बड़ी बाधा उसके कुसंस्कार हैं। कुसंस्कार दूर होजायें तो वह थोड़े ही श्रम से अपनी विचारता को पनपा सकता है और परीक्षक बनकर सत्यदर्शन कर सकता है।

ख—अदीनता (नोन्डो)

बहुत से लोगों में विचारकता रहने पर भी खास खास स्थानों पर दीनता के कारण परीक्षकता नहीं आने पाती। वे धर्म की, शास्त्र की, गुरु की, रुढ़ियों की परीक्षा करने में घबराते हैं, अपनी दीनता के कारण भले-बुरे की जांच भी नहीं कर पाते। इससे वे रुढ़ियों के दास बनकर रह जाते हैं।

शंका—इसे दीनता क्यों कहना चाहिये यह तो एक प्रकार का विनय है। विनय तो गुण है वह सत्यदर्शन में बाधक क्यों होगा ?

समाधान—विनय गुण है और दीनता दोष। विनय गुणानुराग और कृतज्ञता का फल है और दीनता एक तरह की मानसिक निर्बलता और अज्ञान का परिणाम है। यह हो सकता है कि एक ही मनुष्य दीन भी हो विनीत भी हो। दीनता के कारण वह अपनी शक्ति से अपरिचित हो और विनय के कारण दूसरे की शक्ति को गुण की उप-

कार की कद्र करता हो। पर विनय के लिये दीनता जरूरी नहीं है। ऐसा हो सकता है और होना चाहिये कि एक मनुष्य दीन बिल्कुल न हो और विनीत पूरा हो। दीनता और विनय के सम्बन्ध से मनुष्य चार तरह के होते हैं।

१—अदीन विनीत (नोन्ड नाय)—जो अपनी योग्यता आदि से अच्छी तरह परिचित है, आत्मगौरव भी रखता है, झूठ-मूठ किसी से प्रभावित नहीं होता, पर साथ ही दूसरे के गुणों की पूरी कद्र करता है, उपकार के प्रति पूरा कृतज्ञ रहता है, वह अदीन विनीत है।

२—दीन विनीत (नूड नाय)—जो आदमी अपनी योग्यता आदि से जैसा चाहिये वैसा परिचित नहीं है पर दूसरे के गुणों की पूरी कद्र करता है, उससे प्रभावित होता है वह दीन विनीत है। इसमें साधारणतः एक खराबी पाई जाती है कि उसकी नम्रता ठीक आधार पर नहीं सही होती, एक तरह से अज्ञान या निर्बलता पर खड़ी होती है। इसलिये अगर कभी उसके हाथ में अधिकार वैभव आदि आजाय तो उसमें विनय की प्रतिक्रिया होने लगती है। उसका विनय गुणानुराग कृतज्ञता आदि पर खड़ा होता नहीं है इसलिये दीनता हटन पर, अदीन मनुष्य के बराबर भी विनीत वह नहीं रहता। दीन विनीत, परिस्थिति बदलते ही अत्यन्त अविनीत तक हो सकता है। अदीन विनीत में ऐसी प्रतिक्रिया होने का अवसर नहीं आता, योग्यता आदि बढ़ने पर भी वह परिस्थिति के अनुसार बचित विनय का प्राव. सदा खयाल रखता है। और कृतज्ञता में तो किसी भी हालत में भी अन्तर आने का अवसर नहीं है।

३—अदीन अविनीत (नोन्ड नोनाय)—यह मनुष्य धर्मही होता है। इसमें दीनता नहीं होती पर दूसरों के गुणों का उपकारों का योग्य मूल्य भी नहीं होता। आत्मगौरव की मर्यादा का सदा उल्लंघन करता रहता है।

४—दीन अविनीत (नूड नोनाय)—इसे न अपनी योग्यता का भान होता है न दूसरों की

योग्यता का। न इसमें आत्मगौरव होता है न विनय। इस दृष्टि से यह पशुता का शिकार है।

इन चार भेदों से पता लग जाता है कि दीनता और विनय अलग अलग गुण हैं। दीन गलत विनयीत भी होसकता है और अदीन मनुष्य विनयीत भी होसकता है। अदीनता गुण है विनय के साथ उसका विरोध नहीं है। सत्यदर्शन के लिये उसकी जरूरत है।

अज्ञ-दीनता क्या चापलूसी है? यदि नहीं तो दीनता और चापलूसी में क्या अन्तर है?

उत्तर—दीनता प्रज्ञान का परिणाम है और चापलूसी वञ्चना का परिणाम है। दीनता मन की वृत्ति है जो वास्तवमें मनमें होती है और उसका अनुसार व्यवहार होता है। चापलूसी ऊपर का दागी व्यवहार है। उस व्यवहार के अनुसार मनोवृत्ति भ्रम नहीं होती। दीनता परीक्षक बनने में बाधा डालती है। चापलूसी परीक्षक बनने में बाधा नहीं डालती, सिर्फ उसके प्रगट करने में बाधा डालती है। फिर भी ऐसा होसकता है कि एक आदमी दीन भी हो और चापलूस भी हो। इस दृष्टिसे भी मनुष्य चार भागों में विभक्त होते हैं।

१—दीन अचाटुकार (नूह नोरनाथ) जिसमें दीनता भी नहीं चापलूसी भी नहीं। ऐसा आदमी आत्मगौरवशाली भी होसकता है, धर्मही भी होसकता है। सवजन भी होसकता है, दुर्जन भी होसकता है।

२—दीन अचाटुकार (नूह नोरनाथ) जिसमें दीनता हो, पर किसी को छलने घोखा देने आदिकी दुर्वासना न हो इसलिये चापलूसी न करता हो। भले ही उचित विनय करता हो।

३—अदीन चाटुकार (नेनुद रंजाय) जिसमें दीनता नहीं है फटाकित धर्मही है। लेकिन मोक्षता है कि इससमय तो काम निकालना है इसलिये भीठी भीठी बातोंसे और नम्र व्यवहार से, झूठी मन्ची तारीफ से काम निकाल लेना चाहिये। इस प्रकार धर्मही होकर भी जो चापलूसी करता है वह अदीन चाटुकार है।

४—दीन चाटुकार (नूह रंजाय) जिसमें धर्मही नहीं है योग्य गौरव भी नहीं है और चापलूसी कर रहा है।

इन चार भेदों से दीनता और चापलूसी का अन्तर अच्छी तरह समझा जासकता है। चापलूसी छोड़ देने से दीनता छूट जायगी ऐसा नियम नहीं है। दोनों को छोड़ने का अलग अलग प्रयत्न करना पड़ेगा। अदीन हो, चापलूस न हो, पर विनयी हो, यही उचित अवस्था है।

शंका—अदीनता का विनय से विरोध न होनेपर भी परीक्षा का काम अशक्य ही है। बड़े बड़े शास्त्रकारों की या महामानवों की परीक्षा कैसे की जासकती है? अगर यह मान भी लिया जाय कि आजकल पुगने बिद्वानों से बड़े विद्वान होसकते हैं, तो भी हर आदमी या ढेर के ढेर आदमी तो उतने बड़े विद्वान नहीं होसकते। फिर ऐसे अवसरों पर परीक्षकता का उपयोग कैसे किया जासकता है? दूसरी बात यह है कि परीक्षकता में महामानवों का थोड़ा बहुत अविनय तो है ही, उनकी अपेक्षा अपने व्यक्तित्व को अधिक महत्व देदना भी एक प्रकार का अविनय है। क्या इन सब बातों के कारण परीक्षकता को उचित कहा जासकता है?

समाधान—परीक्षा अनेक तरह की होती है। किसी किसी परीक्षा में परीक्षक बड़ा माना जाता है और वह बड़ा होता भी है पर किसी किसी परीक्षा में परीक्षक बराबरी का, छोटा या अनिश्चित होता है। इसलिये परीक्षक बनने से ही किसी का अपमान न समझना चाहिये। परीक्षा के मुख्य मुख्य प्रकार बता देने से यह बात स्पष्ट होजायगी। परीक्षा परीक्षक के सम्बन्ध की दृष्टि से परीक्षा पांच तरह की होती है। १—गुरु परीक्षा, २—द्वन्द्वपरीक्षा, ३—आलोचनपरीक्षा, ४—उपपरीक्षा, ५—विनयपरीक्षा।

१—गुरु परीक्षा (बीगं रिजो) जिस परीक्षा में परीक्षक गुरु या गुरु के समान व्यक्ति होता है वह गुरुपरीक्षा है। साधारणतः विद्यार्थियों की ऐसी ही परीक्षा लीजाती है।

२-द्वंद्व परीक्षा (राकं विजो) जो प्रतिस्पर्धा भाव से किसी की शक्ति योग्यता आदि की जाच की जाती है वह द्वंद्व परीक्षा है। जो पहिले-बान जय कुत्ती करते हैं, वो पंडित जय एक दूसरे को जीतने की इच्छा से वादविवाद करते हैं तब द्वंद्व परीक्षा होती है।

इस द्वंद्व परीक्षा के भी दो रूप हैं। एक प्रगट दूसरा प्रच्छन्न। प्रगट द्वंद्व परीक्षा में प्रतिस्पर्द्धा का भाव घोषित या प्रगट रहता है पर प्रच्छन्न द्वंद्व परीक्षा में वह भाव दबा हुआ या अदृश्य रहता है। एक विद्वान के सामने कोई विज्ञान की तरह प्रश्न करता है पर मनमें प्रतिस्पर्द्धा का भाव रहता है, चर्चा में प्रतिस्पर्द्धा को तरह दृष्ट आदित्य आदि का बोझ बहुत परिचय की देना है, या बाहर से अज्ञता भाव प्रगट नहीं होने देता पर भीतर प्रतिस्पर्द्धा का भाव रहता है तो उसे प्रच्छन्न द्वंद्व परीक्षा कहते हैं।

वर्षादि अन्य परीक्षाएँ भी प्रच्छन्न परीक्षाएँ माननी हैं पर अधिकतर द्वंद्व परीक्षा में ही प्रच्छन्न रूप का उपयोग होता है।

३-आलोचनपरीक्षा (हृदिजं विजो) समालोचक की हैमियन से जब किसी की कृति की जाचपरम्प की जाती है तब वह आलोचन परीक्षा कहलाती है। समालोचक का स्थान समालोच्य प्रति के कर्ता से न ऊँचा कहा जासकता है न नीचा, न बराबरी का। सभी तरह के आदमी समालोचक होते हैं। हाँ! साधारणतः वह कहा जासकता है कि प्रत्यक्षगुण की अपेक्षा उसकी समालोचना का काम नीची श्रेणी का है। समालोचक का स्थान और योग्यता किसी ग्रास प्रसंग पर ऊँचा से ऊँची होसकती है, क्योंकि साधारण गणों के लेखकों की कृतियों की समालोचना सभी गमो लेखक में घात ऊँचे दर्जे के बिद्वानों को भी दग्ध पड़ती है फिर भी किसी प्रशंसितांग के पात्र में जितनी योग्यता अनिवार्य है तनी योग्यता आलोचना के क्षात्र में अनिवार्य नहीं है। इमनिंग मित्र समालोचक ही हैमियन से बड़े पढ़ा नहीं दगा जासकता बल्कि प्रतिस्पर्द्धा में होता ही दगा जासकता है।

साहित्यिक जगत में जो बड़े बड़े पारितोषक रक्ते जाते हैं उनमें भी जो साहित्यिक कृतियों की परीक्षा की जाती है वह भी इसी कोटि की परीक्षा है। विद्वान और कभी कभी सर्वश्रेष्ठ साहित्यिकों की रचनाओं की जाच करने के लिये जो परीक्षक मरहल बनाया जाता है उसके सबस्य पारितोषक पानेवाले से प्रायः बड़े नहीं होते, या अपवाद रूप में ही बड़े होते हैं, इसलिये आलोचन-परीक्षक होने से कोई परीक्षक से महान होजाता है ऐसा नियम न समझना चाहिये। इस दृष्टि से पुराने शास्त्रों की आलोचन परीक्षा करने से परीक्षक बड़ा होजाता है और इससे पुराने शास्त्रकारों का अपमान होता है यह समझना भूल है।

व्यवहार में और भी आलोचन परीक्षाएँ होती हैं। जो जिस विषय में स्वयं कुछ नहीं कर सकता, पर उसकी जाच अच्छी तरह कर सकता है। जैसे—

गान न जाने या करें गर्भव स्वर में गान ।
वे भी तं हैं जाचते तानसेन की तान ॥
अगर रसोई में मिठे करे सब बर्बाद ।
पर न जाच से चूकते लेकर नाता स्वाद ॥
सीधी रेखा खींचना जिन्हे नहीं है आद ।
चित्रकला के पारवी वनन में उभाद ॥

इसीप्रकार—

धर्मशास्त्र निर्माण की भले नहीं हो शक्ति ।
तो भी जाच न है कठिन रख विवेकमे भक्ति ॥
तुम क्यों चिन्ता कर रहे क्यों दत्ते हो धीन ।
करो परीक्षा धर्म की दमो विवेकधीन ॥

आलोचन परीक्षा के इस विवेचन से पता लगजाता है कि इस तरह की परीक्षा में परीक्ष्य का अपमान नहीं होता, न उसपर लज्जा की छाप मारी जाती है इसलिये शास्त्रों और यमों आदि की ऐसी परीक्षा की जासकती है।

४-उपपरीक्षा (कृतिजो) जिस परीक्षा में प्रत्यक्ष परीक्षक वास्तव में परीक्षक नहीं होता बल्कि उसका दूत या प्रतिनिधि मात्र होता है वह उपपरीक्षा है। इस परीक्षा में भी परीक्षक का परीक्ष्य की अपेक्षा अधिक योग्य होने का नियम

नहीं है। उपपरीक्षा में अधिकतर प्रत्यक्ष परीक्षक की योग्यता परीक्ष्य-से श्रल्प ही होती है।

एक आदमी किसी ग्रंथ की परीक्षा करते समय सिर्फ इस बात का विचार करता है कि वह अमुक शास्त्र से मिलता है कि नहीं? इस परीक्षा में परीक्षक की विशेष योग्यता का विशेष मूल्य नहीं है। उसे तो अमुक शास्त्र से मिश्रान-भर करना है। बहुतेसी गणित की पुस्तकों में विद्यार्थियों के लिये अव्यासार्थ कुछ प्रश्न दिये जाते हैं और पुस्तक के अंत में उनके उत्तर लिख दिये जाते हैं। विद्यार्थी उस उत्तर से मिलाकर अपने सवाल की जांच करता है। पुस्तक के अन्त में लिखे उत्तर से उसका उत्तर मिलजाता है तो अपने उत्तर को ठीक समझता है नहीं तो गलत समझता है। ऐसी अवस्था में विद्यार्थी अपने सवाल का उपपरीक्षक है। इसी प्रकार जिस परीक्षा में परीक्षक की योग्यता प्रमाण नहीं होती उसे उपपरीक्षा कहते हैं। ऐसी उपपरीक्षा में छोटा आदमी भी बड़े आदमी की परीक्षा लेसकता है। उपपरीक्षक बनने से कोई परीक्ष्य से बड़ा नहीं कहलासकता है। हा! यह होस-कता है कि वह अपनी योग्यता आदि से बड़ा भी हो। पर उसका बढ़ापन उपपरीक्षकता पर निर्भर नहीं है।

५—विनयपरीक्षा (नार्थ दिवो) परीक्ष्य को काफी महत्त्व देते हुए विनयपूर्ण मन विनय-पूर्ण वचन और शिष्टाचार के साथ जो परीक्षा कीजाती है उसे विनयपरीक्षा कहते हैं। इस परीक्षा में परीक्ष्य की सफलता में परीक्षक कहता है कि आपकी बात जचगई, असफलता में कहता है आपकी बात नहीं जची। परीक्ष्य-परी-क्षक के सम्बन्ध के अनुसार भाषा में काफी विनय छलकता है। जैसे-परीक्ष्य की बात न जचने पर वह कहता है—

अभी तक आपकी बात जच नहीं पाई।

अभी तक मैं समझ नहीं सका।

आपने तो इसपर ठीक ही निर्णय किया होगा पर मेरी मन्द बुद्धि में यह बात अभी तक

आई नहीं है।

मतलब यह कि विनयपरीक्षा में परीक्षक अपने को स्पष्ट रूप में छोटा मानलेता है, फिर भी परीक्षा करता है। पर जब उसकी दृष्टिसे बात ठीक नहीं होती तब वह परीक्ष्य की अयो-ग्यता या असत्यता का उल्लेख नहीं करता किंतु अपनी अयोग्यता के शब्दों में उल्लेख करता है। वह यह नहीं कहता कि 'मैं यह बात उचित नहीं समझता' वह अनुचित समझने पर भी यही कहेगा कि 'मेरी समझमें यह बात आई नहीं'।

कोई बात किसी युगमें अच्छी थी पर आज अच्छी नहीं है, ऐसी हालतमें यह कहना कि 'यद्यपि जमाना बदलजाने से आज इस बात का उपयोग नहीं है पर पुराने जमाने में यह व्यवस्था बहुत अच्छी थी, ठीक थी, धन्य है उनकी व्यवस्थापकता को' यह भी विनय परीक्षा है। इसमें नम्रता प्रशंसा के साथ किसी बात की जत्कर उसे अस्वीकार किया जाता है।

इसप्रकार यह विनयपरीक्षा महान से महान व्यक्ति की भी की जासकती है, करना भी चाहिये। ऐसी परीक्षा से किसी का अविनय नहीं होता। हा! जिस व्यक्ति के साथ हमारा सम्बन्ध गुरु-शिष्य आदि का हो उसकी बात न जचने पर विनयपरीक्षा के शब्द न कहकर आलोचन-परीक्षा सरीखे शब्द कहना उसका अपमान कहा जासकता है। ऐसा अपमान न करना चाहिये, पर उचित अवसर पर उपयोगिता का ध्यान रख कर विनयपरीक्षा अवश्य करना चाहिये।

परीक्षा के इन प्रकारों पर ध्यान देने से साफ मालूम होता है कि परीक्षा करने से ज. र. कागों का या महान से महान व्यक्ति का अना-नही होता। हा! उसे अपने व्यक्तित्व के परिस्थिति आदि का विचार करके आलो-परीक्षा उपपरीक्षा या विनयपरीक्षा क-चाहिये।

रहगई बात यह कि ऐसे महान व्यक्ति के सामने अपने व्यक्तित्व को महत्ता कैसे जासकती है? और अपने को महत्ता दिये

परीक्षा कैसे की जा सकती है ?

यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि अवसर की महत्ता से किसी के व्यक्तित्व को धक्का नहीं लगता। महत्ता दो तरह की होती है। व्यक्तित्व-महत्ता, और अवसर-महत्ता।

व्यक्तित्व-महत्ता (सूखेबीगो) - गुण योग्यता आदि से जो महत्ता प्राप्त होती है, जिससे मनुष्य का व्यक्तित्व बनता है और अपेक्षाकृत जो स्थायी होती है, वह व्यक्तित्व महत्ता है।

अवसर-महत्ता (चंसोबीगो) - किसी खास अवसर के लिये जो महत्ता मिलजाती है, जो स्थायी नहीं होती, वह अवसर महत्ता है। जैसे-विवाह के अवसर पर दुल्हे को जो महत्ता मिलजाती है, स्वयंवर में कन्या को जो महत्ता मिलजाती है, किसी सभा में एक आदमी को प्रमुख बनने से पैठक भर को जो महत्ता मिलजाती है ये सब अवसर महत्ताएँ हैं। सत्यपरीक्षक को जो थोड़ी बहुत महत्ता मिलती है वह स्वयंवर की कन्या के समान मिली हुई अवसर महत्ता है। इस अवसरमहत्ता से महान व्यक्तियों के व्यक्तित्व का अपमान नहीं होता। दुनिया में ऐसी महत्ताएँ छोटी बड़ी सभी को मिलती हैं। इसके बिना काम नहीं चल सकता। इन सब बातों का विचार कर सत्यदर्शन के लिये मनुष्य को परीक्षक बनना चाहिये, भले ही वह विनय परीक्षक ही बने। विनय परीक्षा के लिये भी अवीनता की आवश्यकता है। उसका विनय से विरोध नहीं है।

प्रमाणज्ञान (मीपोजानो)

परीक्षकता के लिये तीसरी बात है प्रमाण-ज्ञान की। बहुतसे लोग परीक्षक बनने की कोशिश करते हैं परन्तु किस प्रमाण को कितना महत्व देना चाहिये इसका ठीक ठीक ज्ञान न होने से वे सत्य परीक्षक नहीं बन पाते। कोई कोई लोग शास्त्र को इतना महत्व देते हैं कि उसके आगे प्रत्यक्ष या तर्क को कोई महत्व नहीं देते, कोई तर्क और तर्कामास का अन्तर ही नहीं समझते,

कोई कोई अनुभव के नाम से अपनी कल्पनाओं को पेश कर दिया करते हैं। ऐसे लोग विचारकता और अवीनता रखने पर भी ठीक ठीक परीक्षा नहीं कर सकते। इसलिये प्रमाण रूप में पेश की जाने वाली बातों का कहां कितना मूल्य है, यह जानना जरूरी है।

शास्त्र का उपयोग (ईनोउशो)

शास्त्र एक उपयोगी और आवश्यक प्रमाण है फिर भी पूर्ण विश्वसनीय नहीं, क्योंकि एक ही विषय पर भिन्न भिन्न शास्त्र भिन्न भिन्न कथन किया करते हैं। इसलिये शास्त्र के नाम से किसकी बात मानी जाय ? साधारणतः लोग अपनी परम्परा या अपने विशेष सम्पर्क के शास्त्रों को प्रमाण मानते हैं। पर यह तो अकस्मात् की बात है कि हम असुक्त परम्परा में पैदा हुए या असुक्त ग्रंथ हमारे विशेष सम्पर्क में आये। दूसरा आदमी दूसरे सम्प्रदाय में पैदा हुआ, या दूसरे ग्रंथ उसके विशेष सम्पर्क में आया इसलिये उसे दूसरे ग्रंथ प्रमाण होंगे। यह प्रमाण न कहलाया, मोह कहलाया। इस तरह से सत्य के दर्शन नहीं हो सकते।

पर अगर शास्त्र का बिल्कुल उपयोग न किया जाय तो भी सत्य का दर्शन कठिन होता है। शास्त्र चिरकाल से प्राप्त हुए अनुभवों तकों आदि के संग्रह के समान हैं। यह होसकता है कि कोई अनुभव आदि भ्रमपूर्ण या विकृत रहे हो परन्तु उनके पीछे सत्य अनुभवों तकों आदि का उपयोग बन्द कर दिया जाय तो मनुष्य का विकास ही रुकजाय।

पुरानी पीढ़ियों के अनुभवों को शास्त्र द्वारा प्राप्त कर मनुष्य आगे बढ़ता है। अगर वह पुराने अनुभवों को शास्त्र आदि के द्वारा प्राप्त न करे और शुरु से ही स्वयं सब अनुभव करे तो हजारों वर्ष के अनुभव दुहराने में ही बसकी सारी शक्ति और जिन्दगी पूरी होजाय, आगे बढ़ने का मौका ही न मिले। विकास के लिये पुराने तथा दूसरे लोगों के अनुभवों से लाभ उठाना जरूरी है इसीसे मनुष्य शीघ्र आगे बढ़ सकेगा।

इसप्रकार शास्त्र पूर्ण विश्वसनीय प्रमाण न होनेपर भी उसका पूरा उपयोग है। जैसे न्यायालय में गवाहों का स्थान होता है उसी प्रकार सत्य के न्यायालय में शास्त्रों का स्थान है। अगर गवाहों से काम न लिया जाय तो न्याय करना कठिन है, अगर गवाहों की बात को पूर्ण प्रमाण मान लिया जाय तो परस्पर विरोधी गवाहों के वक्तव्य के कारण न्याय निःप्रत करना और भी कठिन है। इसलिये बीच का तिरतिवाड़ी मार्ग यह है कि गवाहों की बात सुनी जाय और अपने विवेक से उनके सत्यासत्य की जाच की जाय, फिर न्याय दिया जाय।

शास्त्र का मतलब यह है कि अमुक व्यक्ति अमुक बात कहता है। पर दूसरे व्यक्ति दूसरी बात भी तो कहते हैं, ऐसी हालत में शास्त्रकार कितने भी पुराने या नये या महान क्यों न हों उनके कहने से ही कोई बात प्रमाण न मानी जायगी। इससे शास्त्र का या शास्त्रकार का अविनय न समझना चाहिये। यथायोग्य आलोचन परीक्षा उपपरीक्षा वितयपरीक्षा करने में अविनय नहीं होता।

शास्त्र की किसी बात को प्रमाण मानते समय हमें निम्नलिखित बातें देख लेना चाहिये।

१-वह किसी दूसरे प्रबल प्रमाण (प्रत्यक्ष या तर्क) से स्वर्णित न होती हो।

२-देशकाल परिस्थिति के अनुसार सम्भव मालूम हो। बहुतसी बातें आज सम्भव हैं पर युगाने जमाने में सम्भव नहीं थीं। उस समय सिर्फ कलना आकांक्षा अतिशयोक्ति आदि के कारण शास्त्र में लिख दी गई थीं। वे आज के युग की दृष्टि से सम्भव होने पर भी पुराने युग में सम्भव नहीं मानी जा सकेंगी। जैसे—रेल तार मोटर, हवाई जहाज, कपड़े आदि की मिलें, सिनेमा, वेतार का तार, ध्वनि प्रसारण, आसं होन आदि हजारों आदिगार आज जन्म ले रहे हैं। वे दिखाई देते हैं, ये सब आज सम्भव हैं पर हजारों सालों पहले कोई उनका चित्रण करे तो कहना चाहिये कि वह कलना था उस युग की आकांक्षा

प्रगट कर रहा है। हां। अगर किसी बात के कोई दूसरे जवर्दस्त प्रमाण मिलें और पता लगे कि अमुक कारण से अमुक आविष्कार लुप्त हो गया था तो उसको प्रमाण माना जाय। यह भी देखना चाहिये कि किसप्रकार उस युग की वैज्ञानिकता विकसित हुई थी। विकास की अन्य अवस्थाओं के विचार से भी इसमें सहायता मिल सकती है। इसप्रकार सम्भवता का विचार करना चाहिये।

३-अहितकर न हो।

जो बातें प्रत्यक्ष अनुमान से सिद्ध हैं, उनकी बात दूसरी है, वे तो मान्य हैं ही, परन्तु जिन्हें जो प्रत्यक्ष अनुमान से सिद्ध नहीं कर सकता उसके लिये शास्त्र का उपयोग है। पर ये तीन बातें देख लेना चाहिये।

प्रत्यक्षोपम शास्त्र (इन्दूर ईनो)

व्यवहार में बहुतसी चीजें ऐसी होती हैं जिन्हें हमने देखा नहीं होता पर उनकी प्रामाणिकता प्रत्यक्ष के समान होती है। जैसे बहुत से आदमी ऐसे हैं जिनने इंग्लैण्ड अमेरिका रूस चीन जापान आफ्रिका आदि नहीं देखे, भारतमें रहने पर भी बहुतों ने बम्बई कलकत्ता मद्रास आदि भी नहीं देखे, सिर्फ भूगोल की पुस्तकों में या समाचार पत्रों में पढ़े हैं, लोगों के मुँह से सुने हैं, पर इनकी प्रामाणिकता इतनी अधिक है कि इन्हें शास्त्र सरीखा विवादास्पद नहीं कह सकते। यद्यपि इनका ज्ञान बहुतों को है तो शास्त्र-ज्ञान ही, फिर भी इनकी प्रामाणिकता इतनी प्रबल और निर्विवाद है कि इन्हें प्रत्यक्ष या तर्क की कोटिमें रक्खा जा सकता है। जिसमें हमने प्रत्यक्ष नहीं किया किन्तु सेंकड़ों ने प्रत्यक्ष किया और जिसमें अप्रामाणिकता की कोई सम्भावना नहीं है उस शास्त्र या पुस्तकीय ज्ञान को शास्त्र या तर्क के समान ही प्रबल मानना चाहिये। उसे प्रत्यक्षोपम शास्त्र कहना चाहिये।

४। जिन बातों में यह पता लगे कि वे किसी पक्ष के कारण या अन्वयविश्वास के कारण

ही या तिली जा रही हैं ऐसी बातों को समझ लेवकर परमाणु मानना चाहिये। जैसे ठंडे या गर्म युद्ध के समय में एक राष्ट्र के समाचार पत्र बेरोबी राष्ट्र के बारे में खूब झूठी झूठी बातें श्राव्य करते हैं, विज्ञापनदाता लोगों को ठगने के लिये झूठी या अतिशयोक्तिपूर्ण बातें छपवाया करते हैं ये सब बातें साधारणतः तबतक परमाणु न मानना चाहिये जब तक किसी दूसरे परबल परमाणु से समर्थित न होजायें। इसीप्रकार बहुत से लोग भूत-पिशाचों की, परलोक की स्मृति की, या और भी चमत्कारों की कहानियाँ पत्रों में छपवाया करते हैं ये सब अन्धश्रद्धा, साम्प्रदायिक पक्षपात आदि के कारण असत्य होती है। इन्हें प्रत्यक्षोपम शास्त्र तो किसी भी तरह नहीं कह सकते किन्तु साधारण शास्त्र गोटि में भी सुझिकल से डाल सकते हैं।

साधारण शास्त्रों की अपेक्षा प्रत्यक्षोपम शास्त्रों की परामर्शिता अत्यधिक या कई गुणी है।

प्रत्यक्ष का उपयोग (इन्हो उशो)

सबसे अधिक परबल परमाणु प्रत्यक्ष है। यानी दूसरे परमाणु प्रत्यक्ष के सहारे ही खड़े होते हैं। यस्तु के साथ निरन्तरतम सम्पर्क इसी का होता है। और यान ताक जीभ और स्पर्शन इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है उसमें विषाद की धम से कम गुंजाइश रहती है। दूसरे परमाणु की परामर्शिता की अन्तिम जांच भी प्रत्यक्ष से की जाती है।

फिर भी इसका ठीक ठीक उपयोग करने के लिये सापेक्षता का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। सापेक्षता के बिना प्रत्यक्ष का ठीक समझ भी नहीं आसकता। सूर्य और चन्द्र हमें करीब करीब परास्पर दिखाई देते हैं जब कि चन्द्र से सूर्य लाखों गुणा बड़ा है। चन्द्र हमसे बिल्कुल दूर है, मील दूर है और सूर्य करीब तब करीब मील दूर, इस निरन्तर दूरी के कारण दोनों उगकर दिखाई देते हैं। उदय तब से भी आगे गुणा बढ़े हैं।

पर दूर होने से सूर्य से बहुत छोटे और निजरभ दिखाई देते हैं। इस दूरी के कारण भूतकाल की भी घटना वर्तमान रूप होती है। सूर्य से यहां तक प्रकाश आने में करीब सात आठ मिनट लगते हैं इसका मतलब यह हुआ कि सूर्य उदय होने के सात आठ मिनट बाद हमें उगता हुआ दिखाई देता है, इसी प्रकार अस्त होजाने के सात आठ मिनट बाद अस्त होता दिखाई देता है। इसप्रकार सात आठ मिनट का भूत हमारे लिये वर्तमान होता है। आसमान में जो तारे हमें जिस रूप में दिखाई दे रहे हैं वह उनकी वर्तमान अवस्था नहीं है किन्तु सैकड़ों हजारों वर्ष पुरानी अवस्था हमें इस समय दिखाई दे रही है। वे इतने दूर हैं कि एक लाख ध्रुवासी हजार मील प्रतिसेकण्ड के हिसाब से चलनेवाला प्रकाश वहां तक सैकड़ों वर्षों में आपाता है, इसलिये सैकड़ों वर्ष बाद हमें उनकी अवस्था दिखाई देती है।

सिर्फ आकाश के प्रत्यक्ष में ऐसा अन्तर पड़ता है सो बात नहीं है, हर एक इन्द्रिय के प्रत्यक्ष में वह बात होती है। शब्द का अन्तर तो हमें तुरंत मालूम होता है। कई मील दूर किसी पहाड़ की चोटीसे तोप दागी जाय तो प्रकाश की गति तीव्र होने से उसका धुआँ तो तोप दागते ही दिख जायगा किन्तु उसका शब्द कई सेकण्ड बाद सुनाई देगा क्योंकि शब्द की गति हवा में प्रतिसेकण्ड सिर्फ १०९० फुट ही है। मित्र मित्र माध्यमों से शब्द के आने में काफी अन्तर पड़ता है इसलिये उनके सुत्तन में भी अन्तर पड़ता है। १६२० फुट का शब्द अगर लोहेकी पट्टी के माध्यम से सुना जाय तो एक सेकण्ड बाद ही सुनलिया जायगा किन्तु वही शब्द हवा के जरिये करीब साढ़े पन्द्रह सेकण्ड लेगा। जबकि विज्ञानी के माध्यम से किसी शब्द का प्रसारण किया जाता है तब हजारों मील दूर से आने पर भी एक सेकण्ड भी नहीं लेता। इसप्रकार शब्द भी अपनी दूरी के कारण भूत वर्तमान में गड़बड़ी पैदा करेता है।

इसके सिवाय इन्द्रियों की अपनी अपनी विशेष अवस्था का भी संवेदन पर प्रभाव पड़ता है। एक आदमी को साधारण अवस्था में सौ डिग्री की चीज कुछ गरम मालूम होगी, परन्तु जब उसे १०३ डिग्री बुखार होगा तो सौ डिग्री की चीज ठंडी मालूम होगी। साधारण अवस्था में नीम कड़वी मालूम होती है, किल्लु सांप का विष चढ़ने पर कड़वी नहीं मालूम होती, और पिच्छ-ज्वर में दूध भी कड़वा मालूम होता है। किसी जानवर को साधारण अवस्था में भी नीम कड़वी नहीं मालूम होती। यह सब इन्द्रियों की विशेष अवस्था के कारण होता है। सापेक्षवाद का ध्यान रखने से इनकी गड़बड़ियों से बचा जाता है।

प्रत्यक्ष में सापेक्षवाद का विचार सिर्फ गति या इन्द्रिय की अवस्था के कारण ही नहीं करना पड़ता किन्तु मस्तिष्क के कारण भी करना पड़ता है, क्योंकि संवेदन का मुख्य आधार तो मस्तिष्क है। इन्द्रिय के द्वार से मस्तिष्क तक जैसी लहरे जाती हैं वैसा संवेदन होता है। पदार्थ के न होने पर भी अगर वैसी लहरें मस्तिष्क तक पहुँचें तो मस्तिष्क उस पदार्थ का संवेदन करने लगेगा। पदार्थ के बिना भी कृत्रिम रूपमें वैसी लहरे मस्तिष्क में पहुँचायी जासकती हैं इसलिये मस्तिष्क उसका संवेदन कर सकता है। चित्रपट में इसका अनुभव सदा होता है। सिनेमा के पर्दे पर आग पानी मकान आदि कुछ नहीं होता, सिर्फ उस तरह की क्रियाएँ पर्दे पर से आँखों पर आती हैं इसलिये उन पदार्थों के न होने पर भी उन पदार्थों का भाव वहाँ होता है। कृत्रिमता से अन्य इन्द्रियों के विषय में भी ऐसा किया जासकता है।

इसप्रकार प्रत्यक्ष सब से अधिक स्पष्ट, सब से अधिक साधार, इसलिये सबसे अधिक प्रमाण होने पर भी उसकी जांच करना पड़ती है, उसके बारे में सतर्क (तर्कसहित) रहना पड़ता है। पर ऊपर जो गड़बड़ियाँ बतलाई गई हैं उनमें यदि सापेक्षवाद का ध्यान रक्खा जाय तो प्रायः सभी उलझनें दूर होजाती हैं।

अपवाप्त कारणों से या किसी बाधा के कारण जहाँ भ्रम या संशय होता है वहाँ भी प्रत्यक्ष की जांच अन्य प्रत्यक्षों से या तर्क आदि से होजाती है।

अनुभव की दुहाई (इदो पे खूहो)

प्रत्यक्ष एक अनुभव है और परीक्षकता में अनुभव सब से बड़ी और अन्तिम कसौटी है। परन्तु कल्पना के स्वप्न को अनुभव नहीं कह सकते। बहुत से लोग भूत-पिशाचों का, अलौकिक चमत्कारों का, अनुभव होने की दुहाई देकर अविश्वसनीय बातों का समर्थन करने लगते हैं। जब कि ये सब एक तरह के स्वप्न होते हैं। जिस तरह के विचार हमारे मन में या वासनाओं में भरे रहते हैं वे साधारणतः स्वप्न में इस तरह दिखाई देने लगते हैं जैसे प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। ये स्वप्न सोते समय आते हैं। पर भावना की तीव्रता होनेपर जागते समय भी दिखाई देने लगते हैं। प्रेमोन्माद की अवस्था में आदमी अपने प्रिय को शून्य में ही प्रत्यक्ष के समान देखता है और उसकी तरफ दौड़कर दीवार से या खम्भे आदि से टकराजाता है। यही वृत्ति कभी कभी तीव्र उपासकों में देखी जाती है। वे ऐसी ही तीव्र कल्पना से अपने भगवान को अपने इच्छित रूप में देखते हैं। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के तीव्रभावुक उपासकों को भगवान या इष्ट देव भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देते हैं। इसलिये यह लोकोक्ति प्रचलित है—

जाकी रही भावना जैसी।

प्रभु मूर्ति देखी तिन तैसी॥

भावनाओं के इस प्रवृद्ध रूप को या प्रत्यक्ष न कहना चाहिये। ये कल्पनाएँ हैं इन कल्पित भावनाओं से एक तरह का आल्लिखा जासकता है पर ये परीक्षकता की नहीं बन सकती।

हा! जीवन व्यवहारमें या मानव प्रकृति अभ्यास में जो अनेक प्रकार के अनुभव मिलते

पड़ती है। इसलिये कहना चाहिये कि तर्क ही परबल और व्यापक परमाण है।

परन्तु बहुत से लोग तर्क को तब तक मानते हैं जब तक वह उनकी मान्यताओं का समर्थक होता है। जब तर्क उनकी मान्यताओं का खण्डन करने लगता है तब वे तर्क की निन्दा करने लगते हैं और भावना की दुहाई देते हुए कहने लगते हैं—“उह! तर्क से क्या होता है, वह तो बुद्धि का खेल है जैसा वनाओ बनजाता है, मानवी बुद्धि परिपूर्ण नहीं है। आज एक तर्क से एक बात सिद्ध होती है कल दूसरे तर्क से वह खण्डित होजाती है, असली और दृढ़ वस्तु तो भावना और श्रद्धा है। तर्क तो भावना का दास है, भावना स्वामिनी है, क्योंकि जीवन के सारे काम भावना के अनुसार होते हैं। तर्कशास्त्री महीनो में जो बात दृढ़ नहीं पाते वह मावुक और श्रद्धालु दिनों में दृढ़जाते हैं। तर्क का क्षेत्र सीमित है और उसके निर्णय अस्थिर हैं। भावना का क्षेत्र असीम है, सीधा है और उसमें स्थिरता है।”

इसप्रकार तर्क का विरोध करनेवालों को निम्नलिखित बातों पर विचार करना चाहिये।

१—अन्धाल बौधना या अपनी बात के समर्थन में कोई उपमा देवेना तर्क नहीं है। तर्क कार्यकारण या वस्तुत्वभाव के नियत सम्बन्ध पर अवलम्बित रहता है। तर्क के दृष्टान्त में भी साध्यसाधन का नियत सम्बन्ध स्पष्ट होता है, इसलिये तर्क के निर्णय उच्छ्रंखल या अस्थिर नहीं कहे जा सकते। तर्क किसी परमाण का विरोध नहीं करता। जहाँ उसकी गति नहीं होती वहाँ अपने आप अटक जाता है। जैसे—विश्व कितना बड़ा है इस प्रश्न का उत्तर तर्क अभी नहीं देसकता क्योंकि अग्रे जहाँ मीलों से जो प्रकाश आता है उससे सिर्फ इतना ही मालूम होता है कि अग्रे जहाँ मीलों तक विश्व है परन्तु ऐसा कोई चिन्ह नहीं मिलता जिससे उसके बाद अनन्त क्षेत्र तक शून्यता का पता लगे इसलिये तर्क विश्व की सीमा बता देने में अक्षम कहा जासकता है। परन्तु क्षेत्र (जगह) काल को वह

अनन्त सिद्ध कर सकता है। क्योंकि ऐसी कोई जगह नहीं है जिसके बाद जगह न हो, ऐसा कोई समय नहीं है जिसके बाद समय न हो, इसप्रकार तर्क उन्हें अनन्त सिद्ध करदेता है। इस प्रकार तर्क जहाँ निश्चित रूप से खंडन कर सकता है वहाँ खंडन कर देता है, जहाँ मंडन कर सकता है वहाँ मंडन कर देता है, जहाँ उसकी गति नहीं होती अर्थात् जहाँ किसी बात का साधक हेतु नहीं मिलता वहाँ चुप रहजाता है। जिस चाहे को सिद्ध कर देना, और जिस चाहे को अग्रमाखित कहदेना या कैसा भी वक्तवाद करने लगना वह सब तर्क नहीं है। हाँ! कभी कभी कोई विशेष बुद्धिमान आदमी तर्कभासो का प्रयोग कर सत्य को असत्य या असत्य को सत्य सिद्ध कर सकता है पर यह बात कभी कहीं ही सम्भव है, वह टिकाऊ नहीं होती। सब आदमियों को सब जगह चिरकाल तक धोखा नहीं दिया जासकता। सच्चा तर्क हो तो कम प्रतिभाशाली भी अपने से अधिक प्रतिभाशाली को परास्त कर सकता है। हाँ! कभी कभी सत्य के एक एक अंश को लेकर दो पक्ष लड़ने लगते हैं, तर्क दोनों सत्यशो का समर्थन करता है, इसलिये तर्क विरोधी लोग तर्क को अस्थिर कहते हैं पर इसमें तर्क का अपराध नहीं होता। वह तो दोनों सत्यशो को साबित करता है। ऐसे अवसर पर तर्क को गाली न देकर दोनों का सम्बन्ध कर सत्य प्राप्त करना चाहिये। तब तर्क से उच्छ्रंखलता अस्थिरता न मालूम होगी।

२—कभी कभी एक तर्क से निश्चित की हुई बात दूसरे तर्क से कट जाती है पर उसका मुख्य कारण यह है कि पहिले मनुष्य तर्क के साथ कुछ कल्पना का मिश्रण कर जाता है इसप्रकार तर्क और कल्पना को मिलाकर एक निर्णय करता है और उसे तर्क का निश्चय समझ लेता है। बाद में जब वह कल्पना का अंश कटता है तो लोग कहने लगते हैं कि तर्क कटगया। पर यह अपराध तर्क का नहीं है किन्तु तर्क के साथ कल्पना के मिश्रण का है। जैसे—जब लोगो ने देखा कि पदार्थ पृथ्वीतल के ऊपर गिरता है

तब उस जमाने के लोगों ने निर्णय किया कि पदार्थ में गुरुत्व नामका एक धर्म है जिसमें चीज नीचे गिरती है। इस निर्णय में तर्क के साथ कल्पना का मिश्रण था। पदार्थ ऊपर से नीचे अर्थात् पृथ्वी की ओर जाता है इसका एक कारण यह कहा जा सकता था कि पदार्थ में गुरुत्व धर्म हो, दूसरा यह कहा जा सकता था कि पृथ्वी में आकर्षणशक्ति हो। यहाँ तर्क का काम इतना ही था कि दोनोंमें या दोनोंमें से किसी एक में किसी शक्ति या धर्मका सद्भाव सिद्ध किये। परन्तु पुराने तर्कियों ने इस सामान्य निर्णय के साथ विशेष कल्पना को मिलाकर गिरनेवाली वस्तुमें ही गुरुत्व धर्म मानलिया जब कि इसकालिये उनके पास विशेष तर्क नहीं था। बाद में जब विशेष खोज हुई तब यही मालूम हुआ कि गुरुत्व नामका कोई धर्म नहीं है, प्रत्येक भौतिक पदार्थ (Matter) में आकर्षण शक्ति है जिससे वे एक दूसरे को खींचते हैं। पृथ्वी विशाल पिंड होने से वह छोटे पिंडों को अपनी ओर खींच लेती है। इसीका नाम गिरना है। इस नये सिद्धान्त ने पुरानी बात का खंडन कर दिया परन्तु पुरानी बातमें जितना तर्क का अंश था उसका खंडन नहीं किया। तर्क के साथ जो कल्पना के द्वारा विशेष निर्णय किया गया था उसीका खंडन किया गया।

इसी प्रकार दिनरात का भेद देखकर मनुष्य ने सूर्य के गमनकी कल्पना की, परन्तु यहाँ भी तर्क में कलरवा मिली। तर्क ने तो सिर्फ इतना ही निर्णय किया कि दोनों में कुछ अन्तर पड़ता है। वह अन्तर सूर्य की गति से भी होसकता है, पृथ्वी की गतिसे भी होसकता है, दोनों की गति से भी होसकता है। तर्क ने तो सिर्फ सामान्य गति और अन्तर को सिद्ध किया। वह अन्तर किसकी गति से पैदा होता है इसकालिये विशेष हेतु की आवश्यकता थी जोकि उस समय मिला नहीं, इसलिये विद्वानों ने कल्पना से सूर्यको चल मानलिया। पीछे इस बातका खंडन होगया परन्तु इसे तर्क का खंडन न समझना चाहिये। तर्क ने

जो अन्तर सिद्ध किया था वह में खंड भी मिला है। अन्तर के जमानों में विषयमें जो तर्कहीन कहना सी गंत भी पर उभरा गंतन हुआ है।

इसी प्रकार जो कुछ मनुष्यों ने कल्पनाओं की हैं, अर्थात् विज्ञान कला में में रचिये सम्मान्यता के आधार पर किमो एक तर्कों परनलेने से है। ऐसे तर्कों का मन्त्र नहीं कर सकते।

इतिहास पुरा। समय मनुष्य का तब नहीं ज्ञानकाया और भविष्यमें ज्ञान कायना उभरी कोई सम्मानना नहीं। हा। जगत्पर प्रविष्ट रहना था पता यह लगाना जागा। अभी अवस्था में वह व्यापक है कि पुराने ज्ञान में कुछ भुला था पता नगें इसलिये हममें थोड़ा बहुत परिवर्तन करना पड़े। वह नो मन्त्र जो गाम्भीर्य और विकास का मार्ग है। इसे तर्क या या विज्ञान का शेष नहीं रह सकते, बल्कि प्रसुप्त शक्ति ने तुम ही रह सकते हैं। किसी पुराने हस्तर प्रत्यभूत जमाने के ज्ञान से स्थिरता तो गाम्भीर्य ही पर मन्त्र गाम्भीर्य ही होना। इन के तर्कमें गति जाऊ का तर्क पाये रहा है और कुछ बदला है तो उभरा प्रार्थना यही है कि कल का तर्क मन्त्र में अमभर दूर था, तो आज का तर्क मीलम या फर्कगमर दूर है किन्तु पुराना रूप तो यादों दूर था। अस्थिरता के नामपर सत्यके मार्ग में पागे बढ़ने से उभरा और पुराने रूप से चिस्टे रहना तो स्थिरता के नामपर जीवन से उभरा और मौनसे चिस्टे रहना है। कोई बालक जयानी की ओर बटंगा तो उभरी आज भी बहुतसी चीजें बेकार होती जायगी, अगर स्थिरता के नामपर ममी की तरह उने मनाले में पोतकर रख दिया जाय तो सैकड़ों वर्ष स्थिर रहेगा, क्या हमीलिये बालक का ज्ञान जतने की अपेक्षा ममी वनजाना अच्छा कहा जासकता है ?

एक दिन मनुष्यने पृथ्वी का ऊचला कहा, और सूर्य को उसके चारों ओर घूमता माना, कालान्तर में मनुष्य को विशेष ज्ञान हुआ, उसका मत बदला तब उसने गुरुत्वाकर्षण मानकर

पृथ्वी को सूर्यके चारों ओर घूमती हुई माना, इस प्रकार मनुष्य सत्य के मार्ग में आगे बढ़ा। अब होसकना है कि कल गुरुत्वाकर्षण के बलके किसी दूसरे सिद्धान्त का पता लगे, इससे वे चलमनें भी सुलभताएँ जो गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से नहीं सुलभ पातीं तो यह सत्यके और निकट पहुँचना कहलायगा। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त कदाचिन् आगामी कल के सिद्धान्त दृष्टि से असत्य कहाजासके पर भूतकाल के अचला और चपटी पृथ्वी के सिद्धान्त से तो हजार गुणा सत्य है। इसलिये सत्य की खोज में स्थिर होने के कारण भावना का कल्पना का या श्रद्धा का मूल्य बढ़ नहीं जाता। और अस्थिरता के कारण तर्क का मूल्य घट नहीं जाता। स्थिरता-अस्थिरता का विचार छोड़कर देखना यही चाहिये कि सत्य के अधिक निकट कौन है और किसके जरिये पहुँचा जासकता है। कल्पना या भावना के जरिये सत्य की तरफ गति नहीं होती या नाममात्र की होती है, किन्तु तर्क के जरिये उससे हजारों गुणी होती है।

४-कुछ लोग तर्क के विरोधी इसलिये हो जाते हैं कि उससे उनके धर्म का खण्डन होने लगता है। धर्मपर तो उनका अटल विश्वास होता है और उसे कल्याणकर समझते हैं इसलिये जब तर्क उसका भी खण्डन कर देता है तब वे तर्क के निन्दक बनजाते हैं। पर इस विषय में उनकी भूल यह होती है कि वे धर्म और धर्म के बाहरी उपकरणों के भेद को भूल जाते हैं। समाज के जीवन को सुखमय बनाने की स्वेच्छा-प्रधान व्यवस्था का नाम धर्म है। धर्म के खंडन के नामपर इसका खण्डन प्रायः नहीं किया जाता। किन्तु इस व्यवस्था को टिकाने के नामपर जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालनेवाली कल्पनाएँ की जाती हैं उनका खण्डन किया जाता है। जैसे—हिन्दूधर्म के खण्डन के नामपर उसके पितृलोक आदि की व्यवस्थाएँ, पौराणिक कथाएँ आदि खण्डित की जाती हैं, जैनधर्म के नामपर उसके लाख बोजन के पेरारवत हाथी, जम्बूद्वीप आदि की विचित्र कल्पनाएँ, समवशरख आदि के

वर्णन आदि खण्डित किये जाते हैं, ईसाई-धर्म के नामपर ईसामसीह मनुष्य पिता के बिना कैसे पैदा हुए आदि बातों का खण्डन किया जाता है, इसलाम के नामपर जन्नत बहिश्त हूरे गिलमे आदि का खण्डन किया जाता है। इन सब खण्डनों से वास्तविक धर्म का खण्डन नहीं होता। ये तो धर्म के उपकरणमात्र हैं। जिस जमाने में जहां जित लोगों में तर्क इतना प्रबल नहीं था वह इनका उपयोग कर लिया गया, आज तर्क बढ़गया तो इन्हे हटा देना चाहिये, दूसरे उपकरण दूसरे ढंग से लाना चाहिये इससे धर्म के प्राण न निकलेंगे।

दूसरी बात यह भी है कि धर्म देशकाल के अनुसार मानव जीवन की चिकित्सा करता है। देशकाल बदल जानेपर चिकित्सा की औपचारिकता होसकती है, अब अगर तर्क उसे बेकार सिद्ध करता है तो उससे क्यों धराना चाहिये? धर्म ने अपने देशकाल के अनुसार काफी काम किया, उसके दृष्टिकोण के अनुसार अगर आजका देशकाल देखकर कुछ अदलबदलकर काम करना पड़े तो इससे धर्म का क्या नुकसान है? तर्क तो इस काम में उसे सहायता देता है, युगसत्य के पास लेजाता है, इस कारण तर्क से द्वेष क्यों करना चाहिये?

५-थोड़ा बहुत धोखा खाने की सम्भावना हरएक प्रमाण में है। सब से जवर्दस्त प्रमाण जो प्रत्यक्ष कहा जाता है उसमें भी मनुष्य धोखा ख जाता है। साप को रस्सी या रस्सी को साप समझता है। सौरजगत् की दृष्टि से स्थिर सूर्य चलता हुआ देखता है। सूखी बालू में पानी का ज्ञान कर जाता है, इत्यादि। इसीप्रकार कभी कभी मनुष्य में तर्क भी धोखा खाजाता है। पर प्रत्यक्षमें धोखा खानेसे जिसप्रकार हर प्रत्यक्ष अप्रमाण नहीं मानता प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास का भेद करता है उसी प्रकार अगर तर्क में धोखा खाजाय तो उसे भी अप्रमाण नहीं मान चाहिये। तर्क और तर्कभास का भेद करना चाहिये। तर्क को प्रमाण और तर्कभास को अप्र

माण मानना चाहिये।

६-यद्यपि कहीं कहीं तर्क की जांच प्रत्यक्ष से करना पड़ती है परन्तु उससे भी अधिक तथा महत्वपूर्ण स्थानों में प्रत्यक्ष की भी जांच तर्क से करना पड़ती है। क्योंकि प्रत्यक्ष तो किसी एक जगह और एक काल में होता है इसलिये उसमें धोखा जाने की सम्भावना अधिक है परन्तु तर्क तो सैकड़ों प्रत्यक्षों के आधार पर खड़ा होता है, वे स्थूल सूक्ष्म स्थानों के और सैकड़ों समयों के होने से काफ़ी अवसरों हुए होते हैं इसलिये उनके आधार से जो निर्णय होता है वह काफ़ी विश्वसनीय, किसी एक समय के प्रत्यक्ष से भी विश्वसनीय होता है।

७-भावना और श्रद्धा का स्थान काफ़ी ऊँचा है, पर भावना और कल्पना को एक न समझना चाहिये। भावना और श्रद्धा कल्पना का भी सशुद्ध लेखकता है और तर्क आदि का भी सहारा लेखकता है। भावना और श्रद्धा को सच्चाई के समान समझना ठीक है क्योंकि मानव जीवन की गति भावना और श्रद्धा के अनुसार होती है, पर तर्क को उसका दास न समझना चाहिये किन्तु मन्त्री समझना चाहिये। गलत का काम मालिक की इच्छा के अनुसार नाचना होता है, जब कि मन्त्री का काम मालिक के हित के अनुसार सलाह देना होता है। सान्ता न सान्ता मालिक के हाथ में है। परन्तु मालिक का अधिकार विशेष होने से मन्त्री की विशेष योग्यता उसे नहीं मिलजाती। इसलिये निर्णय करने में तर्क को प्रधानता देना चाहिये।

८-यद्यपि कल्पना का स्थान तर्क से विराटल है परन्तु उसमें प्रामाणिकता न होने से उसका मूल्य तर्क के सामने न कुछ के समान है। कल्पना में तथ्यावस्था का विवेक नहीं रहता, तर्क अपनी आशा को पूर्ण करने की इच्छा करती है। जैसे सपने में अमृत पीने की अपेक्षा प्रासंगिकता का साधारण भोजन अधिक मूल्यमान है वही तरह कल्पना के स्वप्नों की अपेक्षा तर्क की प्रासंगिकता अधिक मूल्यमान है।

कल्पना के मार्ग मनुष्य मूल भविष्य, यद्यपि वह लोक परलोक आदिक गमन चाहते निर्णय का मरता है भोले लोगों पर शक जमाने के लिए उन्हें अनुभव विव्यञ्जान, योगभञ्जान, अलौकिक प्रत्यक्ष, फेबलज्ञान आदि नाम देमरता है, पर सत्य के मार्ग में इनका मूल्य कुछ नहीं के बराबर है।

सत्य खंडित नहीं होमरता। पर ये अलौकिक कल्पनाएँ गंठित होजाती हैं। उदाहरणार्थ कुछ लोगो ने यह कल्पना की कि एक मनुष्य अनादि अनंत काल की सब अवस्थाओं ज्ञान लेता है और एक माय ज्ञान लेता है। नरक ने कहा कि भूतकाल की सब अवस्थाओं का ज्ञान तभी कहा जासकता है जब क्रमवर्ती सब अवस्थाओं से सबसे पहिली अवस्था जानली जाय, परन्तु परार्थ अनादि होने से उसकी मय से पहिली अवस्था मानी नहीं जानकती तब जानी कैसे जायगी, इसीप्रकार परार्थ की प्रथम पर्याय कोई मानी नहीं जासकती, तब उसे भी कोई नहीं ज्ञान सकता तब भूत-भविष्य की दृष्टिसे कोई पूर परार्थ को कैसे जान सकता है इसप्रकार ऐसी सर्वज्ञता सिध्दा है। ऐसी भूतों यातो को अन्धश्रद्धा आदि के कारण ठिका भजे ही लिखा जाय पर वास्तव में ऐसी बातें दुनिया की घड़ी से घटी भूट है।

इसीप्रकार विश्वरचना आदि की बहुतसी घाने हैं जिन्हें लोगो ने विव्यञ्जान आदि के नाम से मानलिया है पर तर्क ने उनका अनेक तरह से खंडन कर दिया है। तर्कसे खंडित होनेपर भी किसी बात को अनुभव या प्रत्यक्ष कहना गलत है, ये मिर्क कल्पनाएँ हैं।

बहुत से लोग इन कल्पनाओं को अनुभव आदि का विषय कहकर कहा करते हैं कि ये बातें तर्कका विषय नहीं हैं। पर यदि ये तर्कके विषय न होती तो तर्क स खंडित कैसे होजाती। आश्चर्य तो यह है कि जो बात अनुभव के क्षेत्रके बाहर है उसे तो अनुभव का विषय कह दिया जाता है और जिसका तर्क से खंडन होजाता है उसे तर्क

के बाहर कह दिया जाता है। एक आदमी मनमें कुछ विचार रहा है, हम उसकी विचारधारा को उसके अनुभव का विषय कहते, सम्भवतः कोई वास्तविक न मिलने से तर्क का अविषय कहते तो यह ठीक है परन्तु भूत-भविष्य तथा अत्यन्त दूर गाने के कारण परोक्ष वस्तुओं को, जिनके प्रत्यक्ष कानने का कोई साधन ही न हो, और जिनके विषयमें भिन्न-भिन्न लोगो या मतों की भिन्न-भिन्न मान्यता के कारण कल्पना के सिवाय जिनका कोई कारण समझने न आता हो, उन्हें अनुभव के नामपर कैसे माना जासकता है। और तर्क से स्वच्छेद होजानेपर भी तर्क क्षेत्र के बाहर कैसे कहा जासकता है। मतलब यह कि ये मत्र कल्पनाएँ हैं। तर्क के आगे इनका कोई मूल्य नहीं। इनके आधारपर कोई भावना या श्रद्धा खड़ी होगी तो उसका भी मूल्य तर्क के आधारपर खड़े होने की अपेक्षा नहीं के बराबर होगा।

सत्य की दृष्टि से जिसका मूल्य न हो, उसका क्षेत्र यदि विशाल हो, निर्णय शीघ्र से शीघ्र हो तो भी किस कामका? क्योंकि वास्तव में तो वह शून्य के बराबर ही हुआ।

६—कल्पनाएँ तो अप्रामाणिक हैं उनकी बात छोड़ दी जाय, इसके बाद बाकी सब प्रमाणोंमें तर्क का क्षेत्र विशाल है। अथवा सभी ज्ञानों का मूल प्रत्यक्ष है इसलिये तर्क का मूल भी प्रत्यक्ष है परन्तु प्रत्यक्ष भूत-भविष्य के तथा देशान्तरित पदार्थों को नहीं जानसकता, जब तर्क उन्हें जानसकता है इसलिये विषयकी दृष्टिसे तर्क प्रत्यक्ष से भी विशाल है। यों कहना चाहिये कि यह प्रत्यक्षों का फैला हुआ प्रकाश है।

१०—तर्क की महत्ता बतलाने का मतलब यह नहीं है कि श्रद्धा की महत्ता कम की जाय। तर्क और श्रद्धा दोनों ही जीवन के लिये अत्युपयोगी हैं। इतना ही नहीं अगर सत्येश्वर के आगे से चलना चाहे तो दोनों का परस्पर सहायक होना आवश्यक है। अन्यथा तर्कहीन श्रद्धा श्रवणश्रद्धा होने के कारण कुछ काम न कर

सकेगी बल्कि कुपथ में लेजायगी, और श्रद्धाहीन तर्क फोरी कसरत होगी। इसलिये जरूरत इस बात की है कि कल्पना, या रुढ़ि आदि के आधारपर श्रद्धा को खड़ा न किया जाय उसे तर्क के आधारपर खड़ा किया जाय। हाँ यथा-शक्य तर्क का उपयोग करने के बाद भ्रुण्य को श्रद्धा का सहारा अवश्य लेना चाहिये। क्योंकि श्रद्धा की स्थिरता के बिना ज्ञान का उपयोग नहीं होता।

११—कल्पना भावना सम्भावना अनुभव तर्क श्रद्धा इन शब्दों का ठीक ठीक अर्थ उनका उपयोग आदि जान लेने से इस प्रकार का समझने में बहुत सुभीता होगा।

कल्पना [फुँडो] इसका वस्तुस्थिति से सम्बन्ध नहीं होता, संस्कार में जमे हुए चित्रों को रुचिके अनुसार जोड़ तोड़कर या गुणाकार कर इसका निर्माण किया जाता है। सत्य के मार्ग में इसका कोई उपयोग नहीं।

भावना [भावो] यह एक विचार है जो कल्पना सरीखा निगाधार नहीं है, पर प्रमाण के आधारपर भी नहीं खड़ा है। इच्छा या रुचि का प्रगट करता है।

सम्भावना (माचा) यह तर्क का हल्का रूप है। इसमें किसी न किसी हेतु से किसी बात के होने की आशा की जाती है। तर्क के समान निश्चित सम्बन्ध न होने से इसपर पूरा विश्वास तो नहीं किया जासकता पर आशे से व्यापक किया जासकता है। कभी कभी इसका नियत सम्बन्ध ऐसा अन्यतः होता है कि शब्दोंमें नहीं कहा जासकता।

अनुभव [इकिजे] इसका अर्थ है वास्तविकता या घटनाओं से कुछ विचारपूर्ण शिक्षा लेना। साधारण अनुभव कानने से यहाँ मतलब नहीं है। जिससे भ्रुण्य अनुभवनी कहलाता है उसीसे यह मतलब है। यह सम्भावना से भी अधिक प्रामाणिक है। तर्क के पछिले नाना प्रयोगोंसे जो अनुभव होता है उसीसे तर्क को जीवन मिलना है।

तर्क (हम्मो) अनुभवों के आधार से पदार्थों के परस्पर सम्बन्धों का जब पूर्ण निश्चय होजाता है तब तर्क होता है। इसकी प्रमाणता ऊपर की सब बातों से अधिक है।

श्रद्धा (आश) यह विचार की ऐसी स्थिरता है जिसके सहारे मनुष्य विचार को कार्यपरिणत करने के लिये निःशंक बढ़ता है। इसका अधिकार सब से अधिक है। यह कल्पना भावना सम्भावना अनुभव तर्क प्रत्यक्ष आदि किसी का सहारा लेसकती है। यह जिसका सहारा लेगी उसीके अनुसार कार्य किया जायगा। इसलिये इसका अधिक से अधिक महत्व है। श्रद्धा न हो तो तर्क भी बेकार होगा, श्रद्धा हो तो कल्पना के भी अनुसार प्रवृत्ति होने लगेगी भले ही उसका फल कुछ भी न हो, इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि श्रद्धा को अधिक से अधिक प्रामाणिक आधारपर खड़ा किया जाय।

इन ग्यारह वक्तव्यों से तर्क के ऊपर काफी प्रकाश पड़ता है। कल्पना से उसका भेद, उसकी स्थिरता, श्रद्धा से अनुकूलता आदि बातों का पता लग जाता है। इस विषयकी समस्याओं को सुलभाने के मार्ग में बढ़ानेवाला तर्क ही है। प्रत्यक्ष तो रास्ते में गड़े हुए भील के पत्थरों की तरह हमें सूचना ही देता है। वाक्य सब काम तर्क का है। इसलिये तर्क का स्थान विशाल है। वह हजारों प्रत्यक्षों का निचोड़ होने से अधिक उपयोगी है। अन्वयश्रद्धा के कारण या प्राचीनता के कारण अपनी पुरानी मान्यताओं को सुरक्षित रखने के लिये तर्क का विरोध न करना चाहिये।

इस प्रकार प्रमाण ज्ञान से मनुष्य को परीक्षकता की कसौटी हाथ लगती है। प्रमाण ज्ञान न हो तो प्रमाणों के बलाबल का पता न लगे और उसके बिना मनुष्य निर्णय न कर सके, इसलिये प्रमाणों के वास्तविक स्वरूप, उनका बलाबल, अवसरपर उनकी उपयोगिता आदि को समझकर परीक्षक बनना चाहिये।

इसप्रकार विचारकता, प्रतीनता और प्रमाणज्ञान के सहयोग से मनुष्य को परीक्षक बनकर सत्येश्वर का दर्शन करना चाहिये।

३—समन्वयशीलता (शंखेरा)

निपक्वता और परीक्षकता के द्वारा मनुष्य को सत्यदर्शन की सामग्री मिलजाती है। परन्तु उस सामग्रीका तब तक ठीक ठीक उपयोग नहीं हो सकता जब तक उसमें समन्वयशीलता न हो। मकान बनाने की सब सामग्री किसी के पास हो, पर किस सामान का कड़ा कैसा उपयोग है उस बात का पता न हो, तो सब सामग्री रहते हुए भी मकान न बनेगा। यह बात ज्ञानसामग्री के बारे में भी है। प्रमाणों के द्वारा ठीक ठीक ज्ञानशक्ति होजाने पर भी जिस सामग्री का कब कड़ा कैसा उपयोग है यह पता न हो तो ज्ञानसामग्री भी सफल न होगी। समन्वयहीन ज्ञानशक्ति में तथ्य होसकता है पर सत्य नहीं। समन्वय के द्वारा तथ्य सत्य बनजाता है, अर्थात् कल्याणकारी बनजाता है। समन्वय सत्यशक्ति को ठीक रूप में मिलाकर कल्याणोपयोगी चीज तैयार कर देता है। भूढ़ी सच्ची बातों को किसी तरह मिला देने का नाम समन्वय नहीं है वह तो समन्वयाभास (निशक्तो) है। सत्याश को ठीक तौर से यथास्थान बैठकर, सत्य का अंग बनाकर, कल्याणोपयोगी बनादेगा ही समन्वय है।

समन्वय करते समय समन्वयाभास (निशक्तो) से बचते रहना चाहिये। इसलिये साधारण रूप का और परिस्थिति विशेष का विचार करना आवश्यक है। कोई चीज ऐसी होती है जो सामान्यरूप में कल्याणकारी है और जिस अवसरपर उसका उपयोग किया जायगा है उस अवसरपर भी कल्याणकारी है उसे उभयकल्याणकारी, उभयसत्य, कहना चाहिये। जैसे उसका समन्वय उभयसमन्वय (दुम शक्तो) कहलायगा। कैसी चीज है। साधारणतः मैत्री धर्म है और जिस प्राणमी से हमें मैत्री करना है वह भी मैत्री का पात्र होने से उसकी मैत्री से स्वयं-कल्याण होनेवाला है इस

दृष्टि से यह अवसर पर भी सत्य है, इसलिये इसे उभय-सत्य (दुमसत्य) कहेंगे।

पर ऐसे भी अवसर आते हैं जब कोई सामान्य सत्य किसी विशेष परिस्थिति में असत्य (अकल्याणकारी) हो जाता है। जैसे मैत्री करना सामान्य सत्य है पर किसी ऐसे दुर्जन से मैत्री की जाय जिसकी संगति से चरित्रपतन की सम्भावना हो तो, उसी मैत्री असत्य हो जायगी। ऐसी अवस्था में मैत्री का सामान्य रूप में ही समन्वय (समन्वय) लिया जा सकता है उस विशेष अवसर पर नहीं।

कभी कभी ऐसे अवसर भी आते हैं जब सामान्य रूप में अकल्याणकारी बात विशेष अवसरपर कल्याणकारी हो सकती है। जैसे अभिमान करना अकल्याणकारी है पर जो व्यक्ति अत्यन्त बमरूटी और नम्रता का दुरुपयोग करने वाला हो, उसके सामने आवश्यक घण्टड़ बताना सत्य है इसलिये इसे सामान्य सत्य न कहकर अवसर-सत्य कहना चाहिये। इसका समन्वय अवसर-समन्वय (वससत्य) कहा जायगा।

जो जिस रूप में सत्य है उसका उसी रूप में समन्वय करना चाहिये। अन्य रूप में समन्वय करना निशतो (मिथ्या समन्वय) है।

जो बात सामान्य रूप में भी असत्य हो और जिस अवसरपर उसका उपयोग हो रहा है उस रूप में भी असत्य हो उसका समन्वय करना अनुचित है। जैसे जातिपाति मानना सामान्य रूप में असत्य है और आजकल भी अकल्याणकारी है इसलिये आज उसका समन्वय नहीं किया जा सकता।

कभी कभी किसी चीज का समन्वय मात्रा के आधार से होता है। बहुत मात्रा में किसी बात से लाभ होता है अधिक मात्रा से नुकसान होता है। लाभप्रद मात्रा को समन्वय मात्रा (शतो उंटो) कहते हैं। जैसे भोजन करना अच्छा है पर पचने की शक्ति से अधिक कर लिया जाय तो हानिप्रद हो जायगा। इसी तरह

वत्सजता मैत्री वया आदि की भी बात है। मात्रा से अधिक होनेपर जीवन में इनका समन्वय नहीं हो पाता है।

ऊपर जो वस्तुओं का समन्वय बताया गया है उसमें परिस्थिति का विचार मुख्य है इसलिये यह समन्वय पारिस्थितिक समन्वय (संस्थितिक-सत्य) कहलाया। समन्वय का गही तरीका श्रेष्ठ है। इस समन्वय को मुलाकर हम ऐतिहासिक घटनाओं को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। जिन दिनों अन्न पैदा न होता हो, जंगलों को मिटाकर काफी मात्रा में खेती के लिये जमीन न निकाली गई हो, जंगली जानवरों के कारण खेती की रक्षा अशक्य हो, उन दिनों लोग जंगली जानवरों को मारते हों वह स्वाभाविक है। पर जब परिस्थिति बदलजाय जमीन काफी हो, अन्न काफी हो, जंगली जानवरों का उपद्रव न हो तब जानवरों को मारना अनुचित है। इन परिस्थितियों को मुलाकर हम एक परिस्थिति में रहकर अपनी परिस्थिति को कसौटी बनाकर दूसरी परिस्थिति के कार्यों की निम्ना करें तो यह अज्ञान कहा जायगा। पारिस्थितिक समन्वय से सत्य का दर्शन होता है। इसके कारण हम दूसरे युग के सत्य की न निम्ना करते हैं, न उसका अनुकरण (मोल्क लुचो) करते हैं न अपने युग के सत्य को मुलाते हैं।

कुछ लोग वस्तु वा अर्थ को मुलाकर शब्दों को पकड़कर समन्वय का ढोल करते हैं। वे शब्दों का अर्थ बदलकर प्रकरण-संगत सम्भव अर्थ को छोड़कर आवश्यकता के अनुसार अर्थ करके समन्वय करते हैं। यद्यपि इस समन्वय में भी बात कल्याणकर ही कही जायी है फिर भी वह विश्वसनीय नहीं होती। अर्थ बदल देने से एक तरह से वह शब्द का ही समन्वय होता है। जैसे कि कोई गोवध को आवश्यक बतलाये तो गो का अर्थ गाय न करके इन्द्रिय करना सिर्फ शब्द-समन्वय हुआ, वास्तविक अर्थको छोड़ देने से अर्थ समन्वय न हुआ।

इसकी अपेक्षा यह कहना कि गोवध (गाय

का वध) है तो अनुचित, परन्तु जिसदेश में रेगिस्तान होनेसे ऊंट की अपेक्षा गाय की उपयोगिता कम है, और भरपूर वनस्पति न होने से मांसभक्षण किया जाता है वह। गोवध सन्तुल्य है, आज इसकी यहाँ कोई जरूरत नहीं तो वह अर्थ-समन्वय या पारिस्थितिक-समन्वय कहला-या। इसमें विश्वसनीयता अधिक है, विद्वानोंको भी इससे सन्तोष होता है।

राज-समन्वय में तरह तरह से लक्षणा श्लेष रूपक आदि से अर्थ बदला जाता है इसलिये वास्तविकता को चाहनेवाले लोग सन्तुष्ट नहीं होते, यत्कि मजाक उढाते हैं।

हा। जहाँ अभिधा अर्थ सम्भव न हो वहाँ लक्षणा से अर्थ करना अनुचित नहीं कहा जा-सकता। जैसे-हमें नई दुनिया बनाना चाहिये, या अमुक व्यक्तिने नई सृष्टि की। यहाँ दुनिया बनाने का अर्थ सूर्य ग्रह नक्षत्र आदि बनाना सम्भव नहीं है, इसलिये लक्षणा से यही अर्थ लेना पड़ेगा कि नई समाज-व्यवस्था करना चाहिये। यह समन्वय ठीक है। यद्यपि इसमें राज का अर्थ बदला गया है अभिधेय अर्थ से लक्ष्य अर्थ लिया गया है फिर भी इसे अनुचित नहीं कह सकते क्योंकि लक्ष्य अर्थ ही यहाँ वास्तविक अर्थ है।

इसप्रकार समन्वय दो तरह का होगा।

१-पारिस्थितिक-समन्वय (लंजिज्ज शत्तो)

२-राज-समन्वय (ईकं शत्तो) इसमें अर्थ बदलने के लिये काव्य के अलंकारों (श्लेष उपमा रूपक आदि) का उपयोग किया जाता है, इसलिये इसे आलंकारिक-समन्वय (भायहूर शत्तो) भी कहते हैं। परन्तु राज-समन्वय नाम सरल और अधिक ठीक है क्योंकि इसमें शब्द भी प्रधानता है।

ऊपर इन दोनों समन्वयों का विस्तृत विवे-चन किया गया है।

राज समन्वय भी दो तरह का होता है।

१-सयुक्तिक २-अयुक्तिक।

१-सयुक्तिक [डम्भिर] जिसमें राज के अर्थ बदलने में ऐसी कोई युक्ति तर्क हो जिससे राज का अर्थ बदलना उचित और अनिवार्य हो, वह सयुक्तिक राज-समन्वय है। जैसे 'अमुक व्यक्ति ने नई दुनिया बनाई' इस वाक्य में दुनिया का अर्थ समाज-रचना करना आदि अनिवार्य है, क्योंकि आदमी पृथ्वी ग्रह नक्षत्र आदि नहीं बना सकता। इसलिये यह सयुक्तिक राज-समन्वय कहलाया।

२-अयुक्तिक (नोडम्भिर) जिसमें राज का अर्थ बदलना सयुक्तिक न हो, सिर्फ किसी कारण से वह अर्थ हमें पसन्द नहीं है इसलिये किसी दूसरे ढंग से श्लेष उपमा रूपक आदि से अर्थ बदला जा रहा है। जैसे गोवध का अर्थ श्लेष के द्वारा इन्द्रियवध करना। इतिहास पर विचार करने से गोवध अशक्य, या असंगत नहीं मानलूम होता, ऐसी हालत में उसका अर्थ बदलना सयुक्तिक नहीं कहा जासकता।

कुछ ऐसे अयुक्तिक राज-समन्वय होते हैं जिन्हें सिर्फ अयुक्तिक न कहकर अत्ययुक्तिक (मे-नोडम्भिर) कहना चाहिये। इनमें अर्थ बदलने के लिये लक्षणा का तो विचार किया ही नहीं जाता किन्तु श्लेष के लिये कोष का भी ध्यान नहीं रक्खा जाता, उपमा आदि से अर्थ बदला जाता है अथवा एकाक्षरी कोष का सहारा लेकर अर्थ बदला जाता है। जैसे-'पुराने समयमें आर्य लोग अग्नि की उपासना करते थे'। इति-हाम की इस सिद्ध बात को वगलकर यह अर्थ करना कि 'वे अग्नि की उपासना नहीं करते थे किन्तु ध्यान लगाते थे। ध्यान का अर्थ अग्नि है। अग्नि जैसे कचरे को या मैल को जलाती है उसी प्रकार ध्यान भी आत्मा के मैल को या पाप को जलाता है इसी ध्यान को अग्नि कहा गया है। इसलिये अग्नि की उपासना अर्थात् ध्यान की उपासना अर्थात् ध्यान करना'।

इसप्रकार की र्वीचिवात करने से राज निरर्थक होजाते हैं क्योंकि इस तरह जिस चाहे वाक्य का जैसा चाहे अर्थ किया जासकेगा।

उपमा रूपक आदि की कोई सीमा नहीं है, और उनका वस्तुस्थिति से इतना सम्बन्ध नहीं होता, जितना हमारी इच्छा या कल्पनाओं से। इसलिये ऐसे अर्थों का तब तक कोई उपयोग न करना चाहिये जब तक सीधा अर्थ लगाने में कोई प्रामाणिक बाधा न हो।

एकाक्षरी कोष का उपयोग करके अर्थ बदलना भी इसी तरह व्यर्थ है। अगर कहा जाय कि 'पुराने जमाने में लोगों को प्राकृतिक शक्तियों के बारे में बहुत अज्ञान था' इसका सीधा अर्थ यही है कि उन्हें जानकारी नहीं थी। पर अज्ञान का ईश्वरीय ज्ञान अर्थ करना, और कहना कि उन्हें प्राकृतिक शक्तियों का ईश्वरीय ज्ञान था, तो यह अन्धेरे है। निःसन्देह एकाक्षरी कोषमें 'अ' का अर्थ 'विष्णु' किया गया है (अकारो वासुदेवः स्यात्) इसलिये अ-ज्ञान अर्थात् 'अ' का 'विष्णु' का ज्ञान कहा जा सकता है। पर काव्य शास्त्रके चमत्कार के लिये जो बातें काम में लाने की हैं उन्हें इतिहास की कसौटी न बनाना चाहिये।

समन्वय के इन भेदों को ध्यान में रखकर हमें समन्वय कार्य में निम्नलिखित मर्यादाओं का पालन करना चाहिये।

१—पारिस्थितिक समन्वय (लैलिज्जशक्तौ) ही सर्वश्रेष्ठ है। समन्वय में मुख्यता से इसी का

उपयोग करना चाहिये।

२—संयुक्तिक शब्द-समन्वय (हम्मिर ईकं शक्तौ) भी उपयोग में लाया जा सकता है। पर उसकी संयुक्तिकता काफी स्पष्ट हो।

३—अयुक्तिक शब्द-समन्वय (नोहम्मिर ईकं शक्तौ) का उपयोग न करना चाहिये। इनका उपयोग काव्य चमत्कार दिखाने में है वस्तुस्थिति के निर्णय में नहीं। एकाधवार कदाचित् इससे सत्प्रेरणा दी जासके पर तरीका गलत होने से लाभ से अधिक हानि है। समझदारों के सामने विश्वासयोग्यता न होने से एक बात के कारण दस बातें अविश्वसनीय होजाती हैं। इसलिये वस्तुस्थिति के निरूपण में इसका उपयोग कभी न करना चाहिये।

४—अत्ययुक्तिक शब्द-समन्वय (मे-नोहम्मिर ईकं शक्तौ) तो और भी बुरा है। विद्वानों के सामने ही नहीं, किन्तु साधारण जनता के सामने भी इसकी अविश्वसनीयता प्रगट होजाती है।

समन्वय दृष्टि आजाने से हरएक बात का सदुपयोग होने लगता है।

इसप्रकार निष्पक्षता परीक्षकता समन्वय-शीलता से सत्येश्वर के दर्शन के मार्ग की बाधायें हटजाती हैं और सत्येश्वर का गुणदर्शन होजाता है। उससे सत्येश्वर की साधना होसकती है।

दूसरा अध्याय [मानव होपमो]

ध्येय दृष्टि (नीमो लंको)

अंतिम ध्येय (लुस नीमो)

निष्पत्त परीक्षक और समन्वयशील बनने में मनुष्यमें सत्यदर्शन की पात्रता आ जाती है, उसके बाद उसे जिस बात को सब से पहिले सम्मना है वह है जीवन का ध्येय। जीवन का ध्येय निश्चित हो जाने पर मार्ग ढूढ़ने और सम्म करने में सुविधा होती है।

ध्येय और उपध्येय (नीमो अं फूनीमो)

जीवन का ध्येय अनेक राज्यों में कहा जाता है। जैसे—स्वतन्त्रता, सुक्ति, ईश्वरप्राप्ति, दृढता, यश, वैभव, सुख आदि। अगर व्यापक और गहराई से विचार किया जाय तो किसी भी ध्येय से मानव-जीवन सफल हो सकता है, फिर भी जब तक ध्येय और उपध्येयों को ठीक तौर से न समझ लिया जाय मनुष्य के गुमराह होने की काफी आशंका रहती है। इसलिये अंतिम ध्येय और उसे पाने के लिये जिस जिस साधन को पहिले प्राप्त करना हो वह उपध्येय बुझनी तब से समझ लेना चाहिये। ध्येय और उपध्येय में जहाँ विरोध हो वहाँ उपध्येय को छोड़कर ध्येय को अपनाना चाहिये। इस दृष्टि से रहना चाहिये कि—

१-विश्वसुखवर्धन हमारा ध्येय है।

२-स्वतन्त्रता, सुक्ति, ईश्वरप्राप्ति, स्वर्ग, मान और शक्ति उपध्येय हैं।

ध्यान के लिये उपध्येय हैं इसलिये उपध्येय को ध्येय की नीमोटीपर कसते रहना चाहिये।

उपध्येय के लिये हम पृष्ठ करते हैं कि वह किस-किस कारणों से ध्येय के लिये वह ढूढ़ने की जरूरत

नहीं होती। एक आदमी नौकरी करता है तो हम पूछ सकते हैं—नौकरी किसलिये ? उत्तर मिलेगा—पैसे के लिये। पैसा किसलिये ? रोटी के लिये। रोटी किसलिये ? जीवन के लिये। जीवन किसलिये ? सुख के लिये। इसके बाद प्रश्न समाप्त है। सुख किसलिये यह नहीं पूछा जाता इसलिये सुख अन्तिम ध्येय कहालाय।

स्वतन्त्रता उपध्येय (मुक्को फूनीमो)

प्रश्न—ध्येय और उपध्येय के निर्णय की एक कसौटी यह है कि परस्पर विरोध होने पर ध्येय के लिये उपध्येय का बलिदान कर दिया जाता है। देखा जाता है कि कभी कभी स्वतन्त्रता के लिये सुख का बलिदान कर दिया जाता है। अनेक जनसेवक या देशसेवक स्वतन्त्रता के लिये अपना सुख छोड़ देते हैं वे जेल और मृत्युदण्ड को स्वीकार कर लेते हैं पर स्वतन्त्रता को नहीं छोड़ना चाहते।

उत्तर—इसमें ध्येय और उपध्येय का प्रश्न नहीं है किन्तु किसी एक ही बात की मात्रा का प्रश्न है। यहाँ देश के सुख के लिये अपने सुख का बलिदान है, देश की स्वतन्त्रता के लिये अपनी स्वतन्त्रता का बलिदान है। जो आदमी जेल जाता है उसकी स्वतन्त्रता बाहर रहने की अपेक्षा द्विगुणी होती है, इसलिये देश के सुख के लिये यह स्वतन्त्रता का बलिदान कहालाय। और इसे चाहे स्वतन्त्रता का बलिदान क्यों, चाहे सुख का बलिदान क्यों मुख्य बात इनमें समाप्त के सुख के लिये व्यक्ति के सुख का बलिदान है।

जीवन में इसप्रकार के अनुभव आचार आते हैं जिससे माहूम होता है कि स्वतन्त्रता के

लिये सुख नहीं है, किन्तु सुख के लिये स्वतन्त्रता है। समाज के संगठन में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को थोड़ा-बहुत धक्का लगता है पर सहयोग के सुख के लिये उतनी स्वतन्त्रता का बलिदान सभी लोग करते हैं। विवाह के द्वारा भी स्त्री और पुरुष की स्वतन्त्रता पर कुछ न कुछ थंक्रुश लगता है फिर भी परस्पर के सहयोग से मिलनेवाले सुख के लिये लोग उतनी अस्वतन्त्रता को स्वीकार करते हैं। जो स्वतन्त्रता सामाजिक सुख में बाधा पहुँचाती है उस स्वतन्त्रता को उन्झूँखलता कहकर निन्दा की जाने लगती है। इन सब बातों से मालूम होता है कि स्वतन्त्रता उपभोग्य है सुख अर्थात् विश्वसुख ध्येय है। हाँ! कभी कभी ऐसा होता है कि गुलामी का दुःख अत्यधिक होने से लोग जीवन तक देदेते हैं। इसका कारण प्राणियों का विकसित हृदय है। जो लोग खाने-पीने आदि के सुखा की अपेक्षा, मानसिक सुख को अधिक महत्व देते हैं, और गुलामी में मानसिक कष्ट अधिक मालूम होता है वे भविष्य की निराशा-जनक परिस्थिति में जीना पसन्द नहीं करते। पर इससे भी सुख-दुःख का मापतौल ही मुख्य है।

स्वतन्त्रता अगर सबके सुख के लिये उपयोगी हो तभी उसका आदर किया जासकता है, सबके सुख की अपेक्षा करके स्वतन्त्रता पर अधिक जोर दिया जाय तो जगत नरक की ओर बढ़ने लगे। व्यक्ति यह सोचने लगे कि कुटुम्ब बनाने में पराधीनता है इसलिये कुटुम्ब न बनाना चाहिये, कुटुम्ब यह सोचें कि गाव का अंग बनने में पराधीनता है इसलिये गाव न बनाना चाहिये, गांव यह सोचें कि देश का अंग बनने में पराधीनता है इसलिये देश न बनें, तो दुनिया में हैवानियत और शैतानियत का नागा नाच होने लगे। स्वतन्त्रता एक तरह की जुदाई पैदा करती है और जुदाई से सहयोग टूटता है और सहयोग के अभाव में सब तरह के विकास रुकते हैं। इसलिये स्वतन्त्रता को सबके सुख से अधिक महत्व न देना चाहिये।

स्वतन्त्रता के नामपर लोग राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े करने को उतारु होजाते हैं। भले ही उससे दोनों टुकड़ों के शासन-खर्च का बोझ असह्य होजाय, दोनों कमजोर होजायें, निर्बलता और गरीबी से विकास रुकजाय इससे मनुष्य दुख की ओर ही जाता है। इसी स्वतन्त्रता के नामपर वह मानवराष्ट्र बनाने में हिचकिचाता है। इससे राष्ट्र-राष्ट्र के बीच में आर्थिक और राजनैतिक द्वन्द होते हैं युद्ध और महायुद्ध होते हैं इससे जगत नरक बनता है। इसलिये स्वतन्त्रता को विश्वसुख के अंक्रुश में रखना चाहिये उसे अन्तिम ध्येय नहीं, उपभोग्य बनाना चाहिये।

शान्ति उपभोग्य (शमो फूनीमो)

प्रश्न—शान्ति को जीवनका ध्येय माने तो ?

उत्तर—जो शान्ति, सुख के लिये उपयोगी है वही शान्ति उपयोगी कही जासकती है। पूर्ण शान्ति जीवन का ध्येय नहीं है। प्रलय में पूर्ण शान्ति है पर इसीलिये प्रलय की इच्छा नहीं होती। एक आदमी को ऐसे द्वीप में छोड़दिया जाय जहाँ उसे खाने-पीने की सब सुविधा हो, और अशान्ति पैदा करने के लिये दूसरा कोई प्राणी न हो, तो आदमी ऐसे स्थान को पसन्द न करेगा। हाँ! जब मनुष्य ऐसे कोलाहल या संवर्ष में पड़जाता है जो उसे दुःखी कर देते हैं, तब वह उनसे बचना चाहता है। इससे वह भर्था-दित या अमुक प्रकार की शान्ति चाहता है। पर जब मनुष्य को खेल, कूद, क्रीड़ा, विनोद आदि में आनन्द आता है तब वह इन्हें पसन्द करता है, और उल्ल-कूद की इस अशान्ति को आवश्यक समझता है। इससे मालूम होता है कि ध्येय शान्ति नहीं है, ध्येय सुख है। जब जहाँ जिसे जितनी शान्ति सुख के अनुकूल मालूम होती है तब वहाँ वह उतनी शान्ति को स्वीकार करता है, सुख विरोधी शान्ति को अस्वीकार करता है।

मोक्ष उपभोग्य (जिप्रो फूनीमो)

प्रश्न—मोक्ष तो अतन्त शान्ति है और उसके लिये मनुष्य अपने सर्वस्व का, जीवन के सब सुखों का त्यागकर जीवनभर कठिन, २५।

एक बार एक राजा ने अपने बड़े बगीचे के दो हिस्से करके दो मालियों को सौंप दिये। एक माली ने खूब श्रम करके बगीचे को अच्छा बना पूरा बनाया, दूसरे ने बगीचे को तो उजाड़ दिया पर हर दिन तीन-तीन बार महल में जाकर राजा के सामने झुक-झुककर सलाम अवश्य की और कहता रहा 'हुजूर की गादी सलामत रहे।' एक दिन राजा ने जब बगीचा देखा तो सलाम की पर्वाह न करनेवाले माली का बगीचा देखकर बहुत खुश हुआ पर सलाम करनेवाले माली का बगीचा देखकर बहुत नाखुश हुआ और कहा—'कम-बख्त, हर दिन तुने तीन-तीन बार कहा कि हुजूर की गादी सलामत रहे पर मेरा बगीचा बेसलामत कर दिया, अब हुजूर की गादी क्या खाक सलामत रहेगी? निकल यहाँ से।' इस प्रकार सलाम करनेवाले माली को उसने निकाल दिया।

राजाने जितने विवेक का परिचय दिया, ईश्वर ने उससे अधिक विवेक की आशा करना चाहिये।

ईश्वर मानने का वास्तविक उपयोग यह है कि यह दुनिया ईश्वर का बगीचा है, उसे सलामत रखना ही ईश्वर की भक्ति है। और ईश्वर अन्येरे में भी देखता है सदा देखता है, सर्वशक्तिमान है इसलिये उससे बचकर कोई निकल नहीं सकता, ऐसी हालत में कोई कितना भी ताकतवर हो, कितने भी छिपकर काम करे ईश्वर की नजर से बचेगा नहीं। इस प्रकार अन्याय आदि से बचे रहना और दुनिया का हित करना ही सच्ची ईश्वर भक्ति है। उसका नामस्मरण बगैरह कर्तव्य में प्रेरणा प्राप्त करने के लिये है।

इस प्रकार विश्वसुखवर्धन को मुख्य ध्येय बनाना, और उसके साधन के रूप में उपधेय मानकर ईश्वर-भक्ति करना, ही ठीक मार्ग है।

दुःखाभाव अंश ध्येय (दुःखनोलोसो अंश तोमो)

बहुत से लोगों का यह कहना है कि "संसार में सुख कम हो या ज्यादा, इसकी चिन्ता नहीं है, चिन्ता है इस बात की कि दुःख न हो। पर संसार में दुःख और सुख मिश्रित है। बिना

दुःख के सुख नहीं मिलता। भूख प्यास के कष्ट के बिना खाने पीने का आनन्द नहीं आता। यो भी संसार में एक न एक दुःख प्राणी के पीछे लगा रहता है, उस दुःख से अगर हम छूटना चाहें तो हमें सुख का भी त्याग करना पड़ेगा। इसलिये हमारा ध्येय एक ऐसी अवस्था प्राप्त करना होना चाहिये जिसमें न सुख हो न दुःख। इसीलिये कुछ दार्शनिकों ने मोक्षमें दुःख और सुख दोनों का अभाव माना है। वही हमारा ध्येय रहे।

यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि यह एक तरह की जड़ता होगी। प्राणी को जो संवेदना होती है वह या तो दुःखात्मक होती है या सुखात्मक, अथवा किसी में सुखदुःख दोनों के अंश मिले रहते हैं। अनुकूल संवेदना को सुख कहते हैं, प्रतिकूल संवेदना को दुःख कहते हैं। ऐसी कोई संवेदना नहीं हो सकती जिसमें नाममात्रका भी सुख या दुःख न हो। संवेदना का अभाव होजाना एक तरह की बेहोशी है। अर्थात् चेतना का सुप्त होजाना है। पैर न होकर भी अचेतन बनना जीवन का ध्येय नहीं है। सृष्टि और प्रलय में से सृष्टि का ही चुनाव करना चाहिये।

हा। यह अवश्य है कि मनुष्य दुःख कमसे कम करना चाहता है क्योंकि इससे उसका सुख बढ़ता है। इसलिये दुःखाभाव को अश ध्येय कह सकते हैं। सिर्फ इतने से ही मनुष्य को सन्तोष नहीं होसकता। हर एक क्षेत्रमें वह दुःखाभाव के साथ सुख चाहता है। वह यह चाहता है कि कोई अधिब आदमी उसके सम्पर्क में न आये, पर इस दुःखाभाव से वह सन्तुष्ट न होगा, वह यह भी चाहेगा कि प्रिय आदमी सम्पर्क में रहे, प्रिय वस्तु नहीं तो कोई प्रिय वस्तु या प्रिय विषय अपने सम्पर्क में चाहेगा।

प्रश्न—संसार में दुःख ही अधिक है, बहुत अधिक है, और सुख बहुत कम है, ऐसी अवस्था में कितनी भी कोशिश की जाय दुःख तो सुख से अधिक ही रहेगा। अगर दुःखाभाव को ध्येय बनाया जाय तो सम्भव है दुःख के साथ सुख भी

चला जाय । सो चला जाय । अगर सेर भर दुःख दूर होने से तोला भर सुख भी दूर होता है तो क्या हानि है ? टोटल में तो लाभ ही है ।

उत्तर—संसार को अधिकदुःखमय मानना भ्रम है । संसार में दुःख और सुख दोनों हैं और दुःखसे अधिक सुख है । किसी व्यक्ति विशेष की बात जुदी है सम्भव है उसके जीवन में सुखसे अधिक दुःख हो पर साधारण प्राणी के जीवनमें और टोटल मिलाकर सारी प्राणिसृष्टि में दुःख से अधिक सुख है । इसलिये दुःखसुख दोनों का अभाव कर देने से जगत् या प्राणिसृष्टि घाटे में ही रहेगी । दुःखसुख की मात्रा जानने के लिये निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१-जीवन ज्ञानमय है और ज्ञान सुखमय है । जिन बातों के जानने से प्राणी को कोई शारीरिक सुख नहीं होता उनसे भी उसे मानसिक सुख होता है । एक बच्चा किसी भी नवीन चीज को देखकर क्लिप्त होता है । नई चीज को जानने का आनन्द ही एक निरपेक्ष आनन्द है जो संसार में भरा पड़ा है । देशाटन करने में घर के बराबर आराम नहीं होता फिर भी नये नये अनुभवों और जानकारीयों का आनन्द लेने के लिये मनुष्य पैसों के खर्च की और शारीरिक कष्टों की पर्वाह नहीं करता । नाटक सिनेमा देखने, खगोल भूगोल की किताबें पढ़ने, कहानी आदि सुनने में मनुष्य को शारीरिक आनन्द कुछ नहीं मिलता फिर भी इनकी जानकारी से मन आनन्द रस से भर जाता है । इसकेलिये वह पैसों भी खर्च करता है, एक जगह बैठने का कष्ट भी उठाता है, निद्रा बगैर रह न लेपाने का कष्ट भी सहता है फिर भी जानकारी के कारण अपने को लाभ में समझता है । इस जानकारी के अन्य परिणाम हों चाहें न हों इसकी पर्वाह किये बिना ही प्राणी आनन्दानुभव करता है । इससे मालूम होता है कि ज्ञान आनन्दमय है, और जीवन ज्ञानमय है इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन आनन्दमय है ।

२-जीवन की स्थिति और वृद्धि के लिये जो जो कार्य प्राणी करता है उनमें भी अधिकांश में आनन्द आता है । खाना-पीना शरीरस्थितिके लिये जरूरी है पर उनसे आनन्द आता है । साधारणतः चवानेकी और पेटमें बोझालादनेकी तकलीफ हमें नहीं मालूम होती पर स्वाद का और वृत्ति का आनन्द मालूम होता है । वंशवृद्धि के लिये नरनारी सहवास की जो क्रिया जरूरी है वह भी प्रकृति ने आनन्दमय बना दी है । इस प्रकार जीवन तो आनन्दमय है ही, पर जीवनस्थिति की जो क्रियायें हैं वे भी आनन्दमय हैं ।

३-सामाजिकता का आनन्द भी एक सुलभ आनन्द है । कुछ लेन-देन का व्यवहार न भी किया जाय पर एक दूसरे के सान्निध्य से ही प्राणी को आनन्द आता है । इससे जो आराम निर्भयता आदि पैदा होती है वह आनन्द तो विशेष है ही, पर भय का कारण न होने पर भी, कोई आशा न होनेपर भी प्राणी अकेलेपन की अपेक्षा साथियों के साथ रहने में आनन्द का अनुभव करता है । यह बात मनुष्यों में ही नहीं देखी जाती पशुपक्षियों में भी देखी जाती है । यद्यत्कि सजातीय प्राणी न मिलनेपर विजातीय प्राणी तक से यह सामाजिकता पैदा होती है और उसमें आनन्द आता है । मनुष्य कुत्तों से हरिणों से तोतों से तथा भिन्न-भिन्न तरह के पशुपक्षियों से निस्वार्थ प्रेम से सामाजिकता स्थापित करता है और आनन्द पाता है । इसे दूसरे शब्दों में प्रेमानन्द कह सकते हैं । यह भी संसार में भरपूर है ।

४-प्रकृतिने चौथा आनन्द रसानन्द भी देरक्ला है । उसने पांच इन्द्रियों ही उनका उपयोग जीवन टिकाने रखने में तो हुआ ही, साथ ही उनके विशेष विषयों से आनन्द का श्रोत भी बढ़ा । आँखों ने तरह तरह के सौंदर्य का, जो प्रकृति ने भर रक्खा है, रस लूटा, स्वाद पदार्थों में नाना तरह के स्वादिष्ट रस भरे हुए हैं, फूलोंमें सुगन्ध है, कीकल आदि का संगीत है, शीतल पवन है आदि सभी इन्द्रियों के लिये असाधारण

रसानन्द की सामग्री भरी पड़ी है इससे भी जगत् आनन्दमय है।

यह ठीक है कि इस रसानन्द के साथ कहीं कहीं विरसता की सामग्री भी है पर चुनाव के साधन हमें प्राप्त हैं उससे हम रस सामग्री काफ़ी सरलता से चुनसकते हैं, चुनते भी हैं। अगर कोई नहीं चुनता तो वह उसकी सुखता है प्रकृति का अपराध नहीं। रसोई घर में सुन्दर स्वादिष्ट सुपाच्य भोजन-सामग्री तैयार हो और कोई उसे न लेकर चूल्हे में से कोयला लकड़ी या राख निकालकर चबाने लगे और फिर कहे कि इस रसोई घर में बेव्वाद चीजें बहुत हैं तो वह उसका पागलपन होगा, रसोईघर का अपराध नहीं। इसीप्रकार प्रकृति के रसमण्डार में से रस चुनना चाहिये। वस! फिर जीवन में आनन्द ही आनन्द है।

ये चार प्रकार के आनन्द ऐसे हैं जिनसे प्राणियों का जीवन ओतप्रोत है। अधिकांश प्राणियों का अधिकांश काल इन्हीं आनन्दों में घोंतता है। और यह सब आनन्द इतना अधिक है कि जिन्हें हम दुखी कहते हैं वे भी इन्हीं आनन्दों के कारण मरने को तैयार नहीं होते।

१-इसके सिवाय यश, महत्व आदि के और भी आनन्द दुनिया में हैं। यद्यपि ये विरल हैं पर हैं। इन सब आनन्दों से यह बात साफ़ मालूम होती है कि संसार आनन्दमय है।

६-हा। इस बात को सुनाया नहीं जासकता कि संसार में दुख भी हैं। उनमें से सब से बड़ा दुःख मृत्यु का है जो कुछ क्षणों के लिये होता है। साधारणतः जीवन की अपेक्षा मृत्यु के क्षण बहुत कम होते हैं और उससमय प्राणी को अधिक कष्ट का अनुभव न हो इसलिये प्रकृति मरते समय प्राणी को बेहोश कर देती है। इतना ही नहीं, किसी भी तरह की असह्य वेदना के समय प्रकृति प्राणि को बेहोश कर देती है। इसमें लिये साधारणतः मृत्यु का कष्ट चिन्तनीय नहीं है या अन्य जीवन के निर्माण रक्षण स्थानदान संश्रानि या श्रुति में उपयोगी भी है।

७-दूसरा बड़ा कष्ट है बीमारी का। साधारणतः यह कष्ट ऐसा ही है जैसा कि दिवाली के समय घर की सफाई आदि करने से होता है। बीमारी भी शरीर की सफाई है। जो सफाई प्रतिदिन होने से रहजाती है वह सब जुड़कर साल-बोसाल में इकट्ठी करना पड़ती है। इसके बाद शरीर अच्छा होजाता है।

हा। कोई कोई असाधारण बीमारियाँ होती हैं जोकि अधिकतर मनुष्य के अज्ञान लापरवाही या असंयम का परिणाम होती हैं। पर ऐसी बीमारियों से हमें एकाध को होती है और इसमें मनुष्य की गलती या समाज की गलती अधिकतर होती है, प्रकृति का अपराध बहुत कम। इसलिये इसकेलिये भी हम संसार को दुःखमय नहीं कह सकते।

८-कुछ प्राकृतिक कष्ट जरूर ऐसे हैं जिनकी जिम्मेदारी मनुष्यपर नहीं है जैसे बिजली गिरना, बाढ़ आना, भूकम्प होना आदि। पर इनसे मनुष्य-जाति इतना भी संहार नहीं होता जितना बीमारी आदि से होजाता है। लाखों में से एकाध आदमी पर कभी बिजली गिरती है, करोड़ों आदमियों में से दसपाच वर्ष में कुछ आदमी भूकम्प आदि से मरते हैं। अन्य कारणाँ से जो दुःख या मोते होती हैं उनके आगे ये ज कुछ के समान हैं।

९-मानव के सिरपर जो असली दुःख है और अन्य कष्टों का भी जोर जिससे बढ़जाता है वह है मनुष्यकृत। गरीबी, बेकारी, अपमान, लूट, मारकाट, युद्ध, दूरेप ईर्ष्या, कृतघ्नता, असहयोग, आदि कष्ट ही जीवन के वास्तविक कष्ट हैं और इन कष्टों के जो बीज हैं उन्हीं के कारण अन्य कष्ट बहुत बढ़जाते हैं या बड़े मालूम होते हैं। पर इन सब कष्टों की जिम्मेदारी मनुष्य पर है प्रकृतिपर नहीं। ये अनिवार्य कष्ट नहीं हैं इनपर विजय पाई जासकती है और ये विलकुल कम किये जासकते हैं।

पर प्राणिकृत और भी थोड़े बहुत कष्ट मिलजायेंगे पर उनपर मनुष्य सरलता से विजय

पासकता है, बहुत कुछ पा भी चुका है।

१८—पर इन सब कष्टों का जोड़ लगाकर भी इतना नहीं होता कि पहिले जो चार प्रकार के सुख बनाये गये हैं उनकी बराबरी कर सके या पासंग में भी उतर सके। ये सब दुःख होने पर भी संसार में सुख इतना अधिक है कि संसार को दुःखमय नहीं कह सकते।

बुध वृहस्पति आदि ग्रहों पर या चन्द्र आदि उपग्रहों पर निर्जीवता है। बुध और चन्द्र पर तो हवा भी नहीं है इसलिये प्राणिसृष्टि भी नहीं है। इसी कारण वहाँ कोई दुःख भी नहीं है। दुःखवादियों से कहा जाता कि क्या तुम पृथ्वी को भी बुध या चन्द्र के समान या अग्निपिंड के समान जीव शून्य बनाना पसंद करते हो ? तो दुःखवादी भी इसकेलिये तैयार नहीं होंगे साधारण लोग भी इसी कारण मरने को तैयार नहीं होते। इन सब बातों का कारण यही है कि संसार में दुःख की अपेक्षा सुख अधिक है। कभी किसी को थोड़ी देर को दुःख की वेदना भले ही अधिक हाँ परन्तु उसके बाद ही सुख की मात्रा काफी रहती है इसलिये उस दुःख को वर्णन करके भी लोग सुख की आशा में जीना चाहते हैं। इसलिये संसार को हम दुःखमय नहीं कह सकते।

१९—पर इसका मतलब यह नहीं है कि संसार में जितना दुःख है उसे घटाने की और जितना सुख है उसे बढ़ाने की कोशिश न की जाय। प्रकृति ने जितने साधन दिये हैं और मनुष्य के पास जितनी विद्या बुद्धि है उनका पूरा सदुपयोग किया जाय तो दुःख नाममात्र का रहजायगा और सुख कई गुणा होजायगा। इसकेलिये इस दुनिया से भागने की जरूरत नहीं है किन्तु आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, क्रांति करके इस संसार को नया संसार स्वर्गोपम संसार बनाने की जरूरत है। ऐसा होनेपर अधिक से अधिक दुःखभाव और सुखबुद्धि होगी।

जो लोग संसार को दुःखमय मानते हैं वे संसार के साथ अन्याय तो करते ही हैं, अगर कोई ईश्वर है तो उसे भी नासमझ या क्रूर कहते हैं (क्योंकि उसने ऐसा दुःखमय संसार बनाकर प्राणियों के साथ अन्याय क्यों किया) और सत्य की भी अवहेलना करते हैं, पर सब से बुरी बात यह है कि वे एक ऐसे निराशावाद का प्रचार करते हैं जिससे मनुष्य दुःख घटाने और सुख बढ़ाने के काम में हताश शिथिल और किर्तव्यविमूढ़ होजाता है। जब दुःख को संसार का स्वभाव ही मान लिया जाता है तब आदमी वह सोचकर रहजाता है कि स्वभाव की दवा क्या, संसार तो सुधारा नहीं जासकता, इसलिये संसार से भागो। पर भागना तो इन भगोड़ों के बश की बात नहीं है, भागकर जायेंगे कहा ? क्योंकि बिना मरे भाग नहीं सकते और मरने से भी वह दुनिया उन्हें मिल नहीं सकती जो उनमें कल्पना से गढ़ रक्खी है या किसी की कल्पना से मान रक्खी है, इसलिये भागने का झौलकर वे अपनी जिम्मेदारियों को छोड़कर दूसरों के बोझ बनते हैं, और जो शक्ति संसार का सुख बढ़ाने और दुःख घटाने में लगाई जासकती थी उसे बेकार बर्बाद करते हैं।

प्रश्न—संसार को दुःखमय मानने से दुःख में एक प्रकार का सन्तोष होता है कि संसार तो दुःखमय है इसलिये क्या किया जाय, दुःखमय संसार में सुख की आशा ही क्यों की जाय ? यह सन्तोष भी एक लाभ है जो संसार को दुःखमय मानने से मिलता है। तब संसार को दुःखमय मानना बुरा क्यों ?

उत्तर—सन्तोष तीन तरह का होता है। १—सुखसन्तोष, २—दुःखसन्तोष, ३—भ्रमसन्तोष या वृथासन्तोष। पहिला उत्तम है, दूसरा मध्यम, तीसरा जपन्मय।

सुखसन्तोष—सुख या सुखसाधन प्राप्त होने से, सफलता प्राप्त होने से, या सफलता का भान होने से, सुख या सफलता की आशा से जो सन्तोष होता है वह सुखसन्तोष है। यही सन्तोष

वास्तविक सन्तोष है और उत्तम है।

दुःख सन्तोष—दुःख को स्वाभाविक, या अनुपाय मानने से, या अपने समान दूसरों को भी दुःखी देखने से जो सन्तोष होता है वह दुःख सन्तोष है। इसमें सन्तोष का कारण यह होता है कि मनुष्य सोचता है कि दुःख के कारण मैं दूसरों से कमजोर अभागा या गयाबीता नहीं हूँ, यह स्वाभाविक या अनिवार्य है इसलिये कोई कुछ नहीं कर सकता इसलिये मैं भी कुछ नहीं कर सकता, ऐसा दुःख सभी के पीछे पड़ा है आखिर मैं अकेला ही तो दुःखी नहीं हूँ।' इस प्रकार दुःख स्वाभाविक और सर्वसाधारण में व्यापक मानने से अपने गौरव की रक्षा होती है और इस बात से एक प्रकार का सन्तोष होता है। जहाँ सुख-सन्तोष का अवसर न हो वहाँ यह दुःख-सन्तोष उचित है। सुख-सन्तोष की वगवगी तो यह नहीं कर सकता, फिर भी 'न कुछ से कुछ अच्छा' इस दृष्टि से सुखसन्तोष के अभाव में यह अच्छा है।

भ्रमसन्तोष—जहाँ सन्तोष का कोई कारण नहीं होता किन्तु मोह या अहंकार से सन्तोष-सामग्री के विषय में भ्रम होजाता है वह मूढ़ा और व्यर्थ सन्तोष भ्रम-सन्तोष या वृथा-सन्तोष है। जैसे वर्षा तो अपने प्राकृतिक कारणों से होती है कदाचित् उचित कारण न मिलने से कभी रुकजाती है तो दसपाच दिन बाद अनुकूल कारण मिलनेपर फिर होजाती है। ऐसे अवसरपर कोई दसपाच दिन भजन-पूजन मंत्र या अनुष्ठान करे और जब प्राकृतिक कारण से वर्षा होजाय तो कहने लगे कि मेरे भजन-पूजन मंत्र अनुष्ठान से वर्षा हुई है तो यह भ्रम-सन्तोष या वृथा-सन्तोष कहलायगा। यह सन्तोष मूढ़ा है।

संसार को दुःखमय मानने से दुःख-सन्तोष अर्थात् मध्यम श्रेणी का सन्तोष होसकता है। पर जहाँपर उत्तम श्रेणी का सन्तोष अर्थात् सुख-सन्तोष होना चाहिये था वहाँ मध्यम श्रेणी का सन्तोष होना जीवन का घाटा है। जिस रसोई घर में न्यायिष्ठ भोजन मिलसकता हो वहाँ

कोयले चवाना और फिर यह सन्तोष करना कि 'कोयला तो संसार के सभी रसोईघरों में रहेगा ही, वह हमारे ही क्या सभी के भान्य में बड़ा है इसलिये कोयला चवाने की हमें चिन्ता क्यों करना चाहिये' तो यह मूर्खता होगी। जो संसार सुखमय है और उससे भी अधिक सुखमय बनाया जासकता है, उसके थोड़े से दुःख को और भी कम किया जासकता है, उसे दुःखमय मानकर निराश होजाना, भागने का बेकार डौल करना, सुखसन्तोष की जगह दुःखसन्तोष करना, मुहर लुटाकर कौड़ी का सन्तोष करना है।

घाटे का यह व्यापार बन्द करना चाहिये और संसार का जो वास्तविक रूप है उसका विचारकर सुख बढ़ाने की और दुःख घटाने की कोशिश करना चाहिये।

इन ग्यारह बातों से पता लगता है कि संसार में दुःख सेरभर और सुख तोलाभर नहीं है कि दुःखामाव के लिये सुख को भी छोड़ा जासके। यह अगर सम्भव होता तो प्रणी घाटे में रहता।

इसके सिवाय इस ध्येय में यह आपत्ति तो है ही कि मरने के बाद सुखदुःखरहित ऐसी मुकावस्था सम्भव नहीं है जैसी कि कुछ दार्शनिकाने मानी है।

इसप्रकार दुःखामाव रूप ध्येय असम्भव है और सम्भव हो तो इससे प्राणिजगत् घाटे में रहेगा। इसलिये यह ध्येय स्वीकार नहीं किया जासकता।

हा। जितना दुःख है उसे हमें घटाना है और जितना सुख है उसे हमें बढ़ाना है, इस-प्रकार ध्येय के एक अंश रूप में दुःखामाव को भी स्वीकार किया जासकता है, पर वह पूर्ण ध्येय नहीं कहा जासकता। पूर्ण ध्येय विश्वसुखवृद्धि है, दुःखामाव उसका एक अंश है।

सुख और पाप (शिम्पो अं पापो)

प्रश्न—जीवन के ध्येय में सुखपर अगर इतना जोर दिया जायगा तो पाप और अत्याचार

की मनुष्य को पर्वान्न न रहेगी। हिंसा भूत चोरी आदि से भी मनुष्य सुखी होने की कोशिश करेगा।

उत्तर—पाप से सुख की वृद्धि नहीं होती, बल्कि सुख की वृद्धि में घातक होने से ही कोई कार्य या विचार पाप कहलाता है। पाप से भी सुखी होने की जो बात कही गई है उसमें सुख पर पूरा विचार नहीं किया गया है। थोड़ी देर को किसी व्यक्ति को पाप भले ही सुखवर्धक मालूम हो परन्तु विश्वसुख की दृष्टि से पाप सुखघातक ही होता है। अगर कोई कार्य पापसरीखा दिखने पर भी विश्वसुख घातक नहीं है तो सम्भन्ता चाहिये कि उस अवसरपर वह पाप ही नहीं है। जो पाप है वह विश्वसुखघातक है, दुःखवर्धक है। निम्नलिखित सूचनाओं पर ध्यान देने से पता लगेगा कि पाप विश्वसुखवर्धक नहीं है।

१-पाप थोड़ी देर के लिये ही सुखवर्धक मालूम होता है बाद में उसका परिणाम बुरा होता है। इसप्रकार आगे-पीछे का टोटल मिलाने पर सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा अधिक हो-जाती है।

२-पाप एकाध व्यक्ति को सुख देसकता है पर पाप का वह सुख दूसरों के कई गुणों दुःखपर अवलम्बित रहता है, इसलिये एक व्यक्ति का थोड़ा-सा सुख अनेक व्यक्तियों के कई गुणों दुःख को बढ़ाता है, इस प्रकार सब व्यक्तियों के सुख-दुःख का टोटल मिलानेपर उसमें दुःख का पलड़ा ही भारी होता है।

३-होसकता है कि किसी अवसरपर पापका दुष्परिणाम दिखाई न दे, या वह इतना थोड़ा हो कि किसीपर उसका असर ही न हो, पर उससे जो पापी की आगत बिगड़ती है उसका दुष्फल एक दिन बहुत बड़ा होता है। इस प्रकार भविष्य की इस सम्भावना, अविश्वास, दूषित मनोवृत्ति आदि के कारण विश्वसुख का घात ही होता है।

४-पाप करते समय भी मनुष्य को दुःख का काफी संवेदन करना पड़ता है। इसलिये

पाप करना स्वयं एक दुःखप्रद कार्य है क्रोध के समय मनुष्य का संवेदन सुखात्मक नहीं दुःखात्मक होता है, चोरी करते समय जो भय होता है वह भी दुःख की ही अवस्था है। अज्ञान या असंयम के नशे के कारण इन दुःख-संवेदनों की तरफ मनुष्य ध्यान न दे यह बात दूसरी है, पर उसे ये सब भोगना पड़ते हैं अन्तर। इस दृष्टि से भी पाप से दुःख बढ़ता है।

इन बातों से पता लगता है कि पाप विश्व-सुखवर्धक नहीं है। विश्वसुखवर्धन का अर्थ है—सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से अधिकतम प्राणियों का अधिकतम सुख। यही जीवन का ध्येय है। यह ध्येय पाप से पूरा नहीं होसकता। पाप एक जगह सुख देसकता है पर जब जगह उससे अधिक दुःख ही होगा, एक समय सुख देसकता है पर सब समय उससे अधिक दुःख ही होगा, एक प्राणी को सुख देसकता है पर उससे कई गुणों प्राणियों को उससे दुःख ही होगा, वह थोड़ा-सा सुख देसकता है पर परिणाम में अधिक से अधिक दुःख ही देगा, इसलिये कहना चाहिये कि विश्वसुखवर्धन की नीति का पालन करने और उसे ध्येय बनाने से मनुष्य पाप के पथपर नहीं चल सकता। विश्वसुखवर्धन पर जितना जोर दिया जायगा, उससे पाप घटेगा ही। उससे पाप को उत्तेजन नहीं मिल सकता।

निजसुख और सर्वसुख (एयमिशमो अर्पुणशिमो)

प्रश्न—प्रत्येक प्राणी खुद सुखी होना चाहता है दुनिया के सुख से उसे क्या लेना देना? इसलिये आत्मसुख या आत्मोद्धार ही उसके जीवन का ध्येय होना चाहिये, विश्वसुख की परेशानी के चक्कर में वह क्यों पड़े?

उत्तर—विश्वसुख की नीति को अपनाने बिना प्राणी न आत्मोद्धार कर सकता है न सुखी हो सकता है। आत्मसुख या आत्मोद्धार ध्येय बनाने से मनुष्य गुमराह होजाता है। वह आत्मसुख के नामपर ऐसे स्वार्थ के चक्कर में पड़जाता है कि स्वार्थ और परार्थ दोनों ह

चौपट कर जाता है। विश्वसुख को भोग बनाने से आत्मोद्धार भी होता है और सर्वोद्धार भी होता है, आत्मोद्धार पर जोर देने से आत्मोद्धार भी नहीं होपाता और सर्वोद्धार भी नहीं होपाता। निम्नलिखित विवेक से यह बात ध्यान में आजायगी।

यदि तुम अपने सुखको ही जीवनका ध्येय समझोगे तो दूसरे भी अपने सुखको अपने जीवन का ध्येय समझेंगे। तुम अपने स्वार्थके कारण दूसरोंकी पर्वाह न करोगे, दूसरा भी इसी प्रकार तुम्हारी पर्वाह न करेगा। इस पारस्परिक असहयोग और लापवाही का परिणाम यह होगा कि संसारमें जितना सुख है उसका शतांश मात्र रह जायगा, और दुःख भी गुणा बढ़ जायगा। तब तुम्हारे हिस्से में भी सुख कम और दुःख अधिक पड़ेगा। जब संसार में अधिक से अधिक सुख होगा तब व्यक्ति को भी अधिक से अधिक सुख मिल सकेगा। सहयोग से सुख बढ़ता है और स्वार्थपरता से दुःख बढ़ता है। यह कदापि न भूलना चाहिये कि दूसरों का सुख बढ़ाने से अपने सुख बढ़ाने में मदद मिलती है इसलिये कहना चाहिये कि परसुख या सर्वसुख में निजसुख है।

अगर मा-बाप सोचें कि बालवच्चो के पालन-पोषण की तकलीफ क्यों उठाई जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि मनुष्यजाति जान-बुर होजायगी, और मा-बाप को भी दुःखों में सेवा करने को कोई न रहेगा। इससे मा-बाप कल्याणवाले भी परेगान होंगे और समतान कल्याणवाले भी, इस प्रकार सारी मानवजाति का पतन होजायगा, और उससे सभी दुःखी होंगे। सुगमभरदार को दृष्टि से मनुष्यजाति कगल हो-जायगी और दुःख सैरवा गुणा बढ़जायगा। इसलिये व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने-परायण का भेद गौणकर संसार में सुख बढ़ाने की कोशिश करे। दूसरे का उपकार करने में जितना सुख हमें सतना पड़ता है उससे कई गुणा सुख दूसरे को मिलता है, इसी प्रकार हमारे लिये दूसरा और रात्रि रात्र उठाना है तो उसके दुःख में कई गुणा सुख हमें मिलता है इसप्रकार बर्तनायगी से

दोनों को सुख अधिक मिलजाता है।

एक आदमी गहड़े में गिरपड़ा हो और उसके निकालने का हम प्रयत्न करें तो हमें कुछ कष्ट तो होगा, पर जितना हमें कष्ट होगा उससे कईगुणा आनन्द उस आदमी को मिलजायगा। इस प्रकार सामूहिक रूप में संसार में सुख कृत्रि होती है।

जिस प्रकार एक बीज को मिट्टी में मिलाने से कई गुणा बीज और फल मिलता है उसी-प्रकार परोपकार रूपी वृक्ष के लिये हम अपने सुख का जितना बलिदान करते हैं उससे कई गुणा सुख दूसरोंको मिलता है। इसी प्रकार कभी हमारा भी अवसर आता है जब हम दूसरे के त्याग का फल पाते हैं इसप्रकार परस्पर के उपकार से सब सुखी होते हैं।

कमी कमी तो हमारी थोड़ी सी भी सेवा से दूसरों का हजारों गुणा उपकार होजाता है। एक आदमी कुएँ में गिर पड़ा, उसके बचाने में हमें जो कष्ट सहना पड़ेगा उससे हजारों गुणा सुख उसके प्राण बचनेपर उसे मिलेगा। इस प्रकार अपने थोड़े से प्रयत्न से दूसरे को कई गुणा सुख मिला और दूसरे के थोड़े से प्रयत्न से अपने को कई गुणा सुख मिला, इस प्रकार दोनों के हिस्से अधिक सुख आया। इसलिये कहना चाहिये कि परसुख में निजसुख है।

मनुष्य जितने अंश में स्वार्थान्व होता है उतने अंश में सुख कम पाता है। परस्पर के उपकार से, सहयोग से सब सुखी होते हैं। मान लो दो व्यक्ति ऐसे हैं जो बिलकुल जुद्ध-मुद रहते हैं, एक दूसरे को जरा भी सहायता नहीं करते दोनों ही सालोंमें ग्यारह माह बीरोग रहते हैं और एक माह बीमार। बीमारी में कोई किसी को सहायता नहीं करता। अब कल्पना कीजिये बिना परिचर्या के एक नहीं तक बीमार रहनेवाला व्यक्ति कितना दुःखी होगा। ग्यारह माहों की बीरोगता का सुख भी उसके आगे फीका पड़ जायगा। अगर वे बीमारी में एक दूसरे की सेवा करें तो सेवा करने में जितना कष्ट बढ़ेगा उससे दस गुणा

कष्ट दूसरे से परिचर्या पाने में घटलायगा। सेवा करने के कष्ट की अगर दस मात्राएँ हों तो सेवा पाने के आनन्द की सौ मात्राएँ होंगी। इस प्रकार दोनों ही दस-दस देकर सौ-सौ पाने से नब्बे-नब्बे के लाभ में रहेंगे। मतलब यह कि प्रणी में स्वार्थान्वता जितनी कम होगी, परस्पर उपकार का प्रयत्न जितना अधिक होगा, सुख की वृद्धि उतनी ही अधिक होगी। स्वार्थान्वता के कारण जो संघर्ष होता है उसकी द्वीनात्मपटी में सुख पैदा ही नहीं होपाता, अथवा जो पैदा होता है उसका बहुभाग मिट्टी में मिलजाता है अर्थात् नष्ट होजाता है। इसलिये स्वार्थान्वता जितनी कम हो, परोपकार और सहयोग जितना अधिक हो उतना ही अच्छा है। इससे समाज में सुख अधिक बढ़ता है और हर एक व्यक्ति के हिस्से में अधिक आता है। इसलिये मनुष्य का प्रयत्न सार्वदेशिक और सार्वकालिक दृष्टि से व्यासम्भव अधिक से अधिक सुख होना चाहिये। इसी को कसौटी बनाकर हम नीति-अनीति का निर्णय कर सकते हैं।

प्रश्न—परोपकार की कोशिश कितनी भी की जाय, पर है व्यर्थ ही। क्योंकि हर एक प्यारी जो सुख-दुःख भोगता है वह पूर्व पुण्यपाप के उदय से। सो वह तो भोगना ही पड़ेगा, तब किसी के उपकार से क्या होने जानेवाला है ? ऐसी हालत में उपकार के भ्रम में क्यों पड़ना चाहिये ?

उत्तर—प्यारी के पास पुण्य-पाप आता है कहाँ से ? जब प्यारी किसी का उपकार करता है तब पुण्य होता है और जब किसी का अपकार करता है तब पाप होता है। अगर उपकार अपकार का कुछ अर्थ न हो तो पुण्यपाप भी न हो, तब भोगने के लिये पुण्यपाप कहाँ से आयगा ? यदि उपकार करने से पहिले जन्म से हमें पुण्य-बन्ध हुआ था तो इस जन्म में भी उपकार करने से पुण्यबन्ध होगा इसलिये अपनी भलाई के लिये, अपने पुण्यबन्ध के लिये, अधिक से अधिक परोपकार करना चाहिये।

यदि वह मानलिया जाय कि जो कुछ होता है वह मनुष्य के पुण्य पाप कर्म के उदय से ही होता है, तो अपने कार्यों की जिम्मेदारी से हर एक आदमी बचजायगा। यदि चोर चोरी करता है तो कहना होगा कि उसने कोई बुराई नहीं की, क्योंकि जिसकी चोरी हुई उसके पाप-कर्म के उदय से चोरी हुई, चोर बेचारे को तो निमित्त बनता पड़ा, जिसका खून हुआ उसका पाप-कर्म उदय में आया, खुनी तो बेचारा निमित्तमात्र बना। इस प्रकार जगत में जितने पापी हैं सब वास्तव में पापी न कहलायेंगे, निमित्तमात्र कहलायेंगे। जैसे चोर को जेल जाने का दण्ड दिया जाय तो चोर को जेल में बन्द रखनेवाला जेलर पापी नहीं कहलाता उसी प्रकार पाप-कर्म के उदय को भोगने के लिये चोर खुनी आदि बनकर जो पापोदय के निमित्त बनते हैं वे पापी न कहलायेंगे। इस सिद्धान्त का परिणाम यह होगा कि संसार में कोई पापी न कहा जासकेगा। तब दूसरी समस्या यह खड़ी होगी कि जब ससार में कोई पापी बनता ही नहीं, तब जिस आदमी की चोरी हुई वह पहिले जन्म में पापी कैसे बना होगा ? जो भी उसने पाप किया होगा वह किसी दूसरे को सदाकर किया होगा, पर उसके सताने में तो पूर्वजन्म में भी वह उस दूसरे के कर्मादय में निमित्तमात्र बना होगा इसलिये वह पापी नहीं कहा जासकता। जब वह पापी नहीं तो इस जन्म में जो उसकी चोरी करता है वह किस बात में निमित्त बनता है ? पाप कर्म के उदय में तो निमित्त बन नहीं सकता, क्योंकि वह पापी तो है ही नहीं।

मतलब यह कि हर कार्य की जिम्मेदारी यदि पूर्वजन्म के पाप-पुण्य पर डाली जाय तो जगत में पुण्य-पाप की व्यवस्था ही न बने। इसलिये जो लोग पुण्य पाप की व्यवस्था मानते हैं उन्हें भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सारी जिम्मेदारी उस पूर्व पुण्यपाप की नहीं है, मनुष्य के कर्तव्य की भी है। ऐसी हालत में मनुष्य को अपना कर्तव्य करना ही चाहिये। नहीं तो पुण्य-

पाप ही व्यवस्था ही न घनेगी।

इस बात को ठीक समझने के लिये न्याय-देवता ही एक रूपक कथा का काफी उपयोग होगा, इससे बात और साफ होजायगी।

न्यायदेवता की कथा (उकोजीसापे कीही)

न्यायदेवता के दरबार में एक बार चिकक (साहु-वार) नाम के आदमी ने शिकायत की कि चुरक (चोर) नाम के आदमी ने मेरी चोरी की है इस लिये उसे दंड मिलना चाहिये। दरबार में चुरक बुलाया गया।

चुरक ने कहा—हुजूर, मैंने चिकक की चोरी तो जल्द ही ही पर इसमें मेरा अपराध नहीं है। मुझे तो बिचग होकर चोर का कार्य करना पड़ा। चिकक ने पहिले जन्म में नीरहेर (जिसके पास स घोड़े चीन इतनी जाती हो) नामक आदमी के पामने धन हरण किया था, उस पाप का वजन इस जन्म में चिकक के आधा। पाप के वजन उसरी चोरी होना ही चाहिये थी, और किसी न किसी को वह सजा देना ही पड़ती, इसलिये मुझे चिकक की चोरी करके उसे सजा देना पनी। इसलिये मैं निर्दोष हूँ।

न्यायदेवता ने चिकक की तरफ देखा। चिकक ने गगन-गङ्गा, मैंने पहिले जन्म में नीरहेर का धन हरण तो किया था, पर मैं तो निमित्त मात्र था, क्योंकि उसरी भी पहिले जन्म में नीरहेर ने लुटोरा (तो लूटा जाता हो) का धन लूटा था, उस पाप का बदला उस मिशना ही नाशिये था, इसलिये मैं उन पापों में निर्दोष माना जानगया, और नीरहेर का धन हरण किया। इसलिये मैं निर्दोष हूँ, पर जब मैं निर्दोष हूँ तब क्या निर्दोष ही चोरी करने का पाप नहीं क्या बरिखा था। इसलिये वह दोषी है।

न्यायदेवता ने फिर चुरक की तरफ देखा। हुजूर गगन-गङ्गा अगर नीरहेर के पापों में मैं निर्दोष माना जानगया हूँ और निर्दोषरी चोरी करने में मैं निर्दोष हूँ तो फिर भी सजावही। क्योंकि निर्दोषरी चुरक नीरहेर का धन हरण किया था पर नीरहेर लुटोरा ने पापों में निर्दोष माना

था इसलिये नीरहेर निर्दोष था, और निर्दोष का धन हरण करने में चिकक सदाप हुआ और सदापकी चोरी करने से पापों में मैं निमित्त मात्र होने से, मैं निर्दोष हुआ।

चिकक ने कहा—परम्परा कुछ भी रही हो, पर यह तो निश्चित है कि नीरहेर ने लुटोरा को लूटा था इसलिये मैं नीरहेर का धन हरण होने में निमित्त मात्र था, इसलिये मैं निर्दोष हूँ।

चुरक ने भी कहा—परम्परा कुछ भी रही हो, पर यह तो निश्चित है कि चिकक ने नीरहेर का धन हरण किया था इसलिये चिकक की चोरी होने में मैं तो निमित्त मात्र था इसलिये मैं निर्दोष हूँ।

न्यायदेवता ने कुछ जोर से कहा—जब तुम और तुम्हारे पहिले के सब चोर तुम्हारे निर्दोष हैं तब यह दण्ड परम्परा क्यों चल रही है ?

चुरक ने कहा—मैं क्या समझूँ हुजूर।

चिकक ने कहा—मैं क्या जानूँ हुजूर !

न्यायदेवता ने कहा—अच्छा ! यह मुझ-हमा पिताजी (विवेकदेव-इकोजीमा) के दरबार में पेश किया जायगा।

जब विवेकदेव के दरबार में यह मुकदमा पहुँचा और उनने जब सब मिसल पढ़ी तब वे मुसकराए और उनने फैसला किया—

“इस मुकदमे में चुरक अपराधी और दण्डनीय है। चिकक नीरहेर और लुटोरा भी अपने अपने समय में अपराधी रहे हैं पर प्रकृति ने उन्हें अपने तरीके से दण्ड दिया होगा, इसलिये चिकक को दण्ड देने का काम चुरक का, नीरहेर को दण्ड देने का काम चिकक का, और लुटोरा को दण्ड देने का काम नीरहेर का नहीं होजाया। किसी भी शासन-स्थानी में यह आवश्यक है कि कोई कानून अपने हाथ में न ले। लुटोरा, नीरहेर और चिकक के परोक्ष अपराधों का दण्ड देने का काम प्रकृति का था न्यायदेवता का है, न कि नीरहेर चिकक और चुरक का। इसलिये जन्म में किसी को भी निरपराध नहीं कहा जासकता। चोरी करते समय चुरक न तो न्यायाधीश की भण्डवृत्ति रखता था, न उसने

पास इस बात के प्रमाण थे कि किसने क्या पाप किया है जिन्हें मैं दण्ड दूँ, न उसके हाथ में न्याय का कोई अधिकार था जिससे दूसरे के अपराध का बदला लेने के लिये वह दण्डदाता बन जाय। इसलिये कहना चाहिये कि चुरक ने न्याय अन्याय का विचार न करके अपने स्वार्थ-वश नीतिकी मर्यादा को तोड़ा और संसार का दुःख बढ़ाया है। प्रकृति या न्याय देवता अपने ढंग से अपना काम करेंगे पर प्राणी को चाहिये कि वह यथाशक्त अधिक से अधिक सब का उपकार करे, अपकार किसीका न करे।

सत्येश्वर की या प्रकृति की ऐसी व्यवस्था नहीं है कि किसीको अपने पार का दंड दिया जाय तो उसनेलिये किसी अन्य प्राणी को पाप करना पड़े। पुण्य पाप के फल देने का काम किसी अन्य प्राणी को नहीं सौंपा गया। सत्येश्वर ने फल देने की तीन प्रणालियों ही ठीक मानी हैं।

१-पुण्य पाप के अनुसार प्राणी को जन्म देना, जहाँ उसे मन तन तथा परिस्थिति कर्म के अनुसार अच्छी बुरी मिले।

२-आचार विचार का शरीर के ऊपर प्रभाव पड़ना। क्रोध आने से शरीर का खून जलता है, ईर्ष्या आदि से अशान्ति पैदा होती है स्वानुपान के असंयम से बीमारी आती है, प्रेम से मन प्रसन्न रहता है इससे शरीर भी स्वस्थ रहता है, इत्यादि दण्डानुग्रह सत्येश्वर की व्यवस्था है।

३-प्रगट रूप में अच्छे बुरे जो काम प्राणी करता है उसके दंडानुग्रह की योग्य व्यवस्था करने का अधिकार प्राणियों को सौंपा गया है। इसी अधिकार के अनुसार राज्य व्यवस्था, पंचायत आदि की व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है, न्यायोचित आत्मरक्षा के लिये व्यक्ति को भी दंड का अधिकार है। पर इसमें विश्वसुख वर्धन की कसौटी पर कसकर निर्णय करना चाहिये।

चुरक ने जो चोरी की उसे दंड व्यवस्था

नहीं कह सकते, क्योंकि वह उपर्युक्त तीन प्रकार की दंड शैलियों में से किसी में शामिल नहीं होती। जिस तीसरी शैली में प्राणी के हाथमें दंडानुग्रह की सत्ता आती है वह चुरक पर लागू नहीं होती, क्योंकि उसने जो चोरी की, वह विक्रम के किसी अपराध के कारण नहीं, न्यायोचित आत्मरक्षा के कारण भी नहीं, समाज के किसी नियम कानून के आधार पर भी नहीं, इसलिये चुरक अपराधी है।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखना चाहिये कि प्राणी के ऊपर जितने दुःख आते हैं वे सब पहिले के पुण्य पाप के अनुसार नहीं आते। जो सुख दुःख कर्मानुसार आते हैं वे ऊपर की तीन शैलियों में आगये हैं बाकी बहुतसे सुखदुःख प्रारम्भिक या बीजरूप होते हैं, जिनका बदला पीछे मिलता है। जैसे रावण ने सीता को दुःख दिया, तो इसका यद् मतलब नहीं है कि वह सीता के किसी पूर्व पाप का फल था। ऐसा होता तो रावण इसका जिम्मेदार न होता। जब कि रावण इस पाप का पूरा जिम्मेदार था और मरने के बाद तब उसका फल भोगना पड़ा। और सीता ने जितना निरपराध कष्ट उठाया उसका फल उसे मरने के बाद मिल सकता है। हाँ! निरपराध कष्टका ही फल पीछे मिल सकता है, सापराध कष्ट का नहीं। अपनी लापवाही असंयम अज्ञान यशोलिप्ता आदिसे जो कष्ट उठाये जाते हैं वे व्यर्थ जाते हैं। एक आदमी यशोलिप्ताके चक्करसे पड़कर उपवासों का प्रदर्शन करे, कांटों पर सोने का प्रदर्शन करे और भी तपस्या आदि के नाम पर निरर्थक कष्ट सहन करे तो उन कष्टों का कोई सफल न होगा।

प्राणी उपकार का प्रारम्भ भी कर सकता है और अपकार का प्रारम्भ भी कर सकता है। इस प्रकार वह जगत को स्वर्ग भी बना सकता है और नरक भी बना सकता है। इसलिये चुरक ने जो चोरी की वह अपकार का प्रारम्भ है, किसीके पूर्वपाप का दंड नहीं, इसलिये चुरक दण्डनीय है।

विवेक देव के इस फैसले से इस प्रश्न का

त्तर अच्छी तरह हो जाता है। इसलिये यह सोचना ठीक नहीं कि मनुष्य भला बुरा नहीं कर सकता। वह भला भी कर सकता है बुरा भी कर सकता है। अपनी इस जिम्मेदारी का ध्यान रखते हुए मनुष्य को सर्वदेशिक और सार्वकालिक दृष्टि से यथासम्भव अधिक से अधिक सुख की ओरिश करना चाहिये।

प्रश्न—माना कि सब के सुखमें निजसुख है इसलिये कर्तव्यकर्तव्य के निरर्थक में सब के सुख का ही विचार करना पड़ेगा, पर सब का सुख कैसे हो सकता है। संसार में तो एक का सुख दूसरे का दुख बनेगा। राम का सुख रावण का दुःख है और रावण का सुख राम का दुःख है। ऐसी हालतमें कोई न कोई दुखी रहेगा ही, इसलिये यही कहा जा सकता है कि जिसमें व्याज से व्याज या अधिक आदमियों का सुख हो उसीमें अपना सुख है। पर इसमें एक बड़ी अड़चन यह है कि कभीकभी अधिक आदमी अन्याय के तरफ होते हैं इसलिये अधिक आदमी के हित को भूल देना हो तो अन्याय का समर्थन करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ—राम रावण के युद्ध में अधिक आदमों रावण की तरफ थे, इसलिये अधिक आदमी का हित करना हो तो रावण की रक्षा करना चाहिये अर्थात् अन्याय का समर्थन करना चाहिये। पर जिस कसौटी से अन्याय का समर्थन होता हो उसे कर्तव्य की कसौटी कैसे कह सकते हैं? और उसके आधार से ज्येष्ठ का निरर्थक कैसे बन सकते हैं।

उत्तर—किसी एक समय के और किसी एक जगह के ही बहुजनहित का विचार करने से यह गड़बड़ी होती है पर अगर सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से बहुजन के बहुसुख का विचार किया जाय तो यह गड़बड़ी नहीं रहती। रावण ने परस्त्री हरण किया पर इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि परस्त्री हरण से अधिक प्राणियों का हित होता है। रावण की सना थायवश ही पर अगर उन मैतियों की संख्या

का हरण किया जाता तो उनके सुख की वृद्धि नहीं हो सकती थी। मतलब यह कि एक सीता के हरण में रावण के सैनिक किसी स्वार्थवश या मोहवश अपना सुख देख रहे हो पर एक सीता को छोड़कर अपने अपने घर की सीताओं के हरण में वे सुख नहीं देख रहे थे। इसका मतलब यह कि सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे परस्त्रीहरण में बहुजन सुख नहीं है।

जब हम कहते हैं कि बहुजन अन्याय के पक्ष में है तब उनका यही मतलब है कि अमुक जगह का या अमुक समय का बहुजन अपने म बड़े सार्वत्रिक और सार्वकालिक बहुजनहित के विरोध में है। निम्नलिखित दोहों में यही बात और साफ शब्दों में कही गई है।

एक जगह ही देख मत चागें और निहार।
अपरिमेय संसार है अपना दृष्टि पसार ॥ १
वर्तमान ही देख मत जो छान है दो चार।
कर तू निरर्थक के लिये भूत भविष्य विचार ॥ २
सार्वत्रिक पर डाल तू सार्वकालिकी दृष्टि।
सत्य तुझे मित्र जायगा होगी निरर्थक सृष्टि ॥ ३
रावण की यदि जीत हो रामचन्द्र की हार।
तो घर-घर रावण बने हूय लाय संसार ॥ ४
होती रावण की विजय तो घर घर व्यभिचार—
करता तांडव रातदिन मिट जावे धरधार ॥ ५
परिमित रावण दल सरा हुआ पाप का अन्त।
अगणित सीताएँ बची फूला पुण्य वसन्त ॥ ६
सुखदुःख निरर्थक की तुला आत्मोपम्यविचार।
परको समझ आत्मसम मिला आत्म का सार ॥ ७
अपने में ही भूल मत रख सब जग पर दृष्टि।
फिर यदि सुत्रवर्धन हुआ दुई धर्म को दृष्टि ॥ ८
वर्तमान ही देख मत भूत-भविष्य विचार।
हिा अपना कर्तव्य कर कर सुखमय संसार ॥ ९
परम निष्काम कर्तव्य की सुखवर्धन है एक।
सुख वर्धन कर विश्व का रखकर पूर्ण विवेक ॥ १०
शुद्धात्मता (शुद्धिमा)

प्रश्न—जब सुखवर्धन जीवन का अन्तिम ध्येय होजायगा तब आत्मशुद्धिपर उपेक्षा होगी। धर्म का सम्बन्ध सिर्फ वचन और तन से रह

जायगा। मन से दुष्ट भावना रहनेपर भी वचन और तन से सुखवर्धन का कार्य कर देने से धर्म की समाप्ति होजायगी। ईमानदार और मायाचारी में कोई फर्क न रहजायगा।

उत्तर—सुखवर्धन के कार्य को स्थिर और निश्चित बनाने के लिये, सुखवर्धन के कार्य में परस्पर विश्वास और सहयोग की जो आवश्यकता है उसे पूरा करने के लिये, सुखवर्धन के कार्य में अपने को जो सुख-सन्तोष और शान्ति मिलती है उसे प्राप्त करने के लिये आत्मशुद्धि या शुद्धात्मता आवश्यक है। अधिक से अधिक सुखवर्धन जब हमारा ध्येय है तब उसके साथ अधिक से अधिक आत्मशुद्धि उपधेय के रूप में होती ही है। आत्मशुद्धि के बिना जो सुखवर्धन का कार्य किया जायगा वह क्षणिक, अनिश्चित, और अपूर्ण होगा, इसलिये अपने सुखवर्धन से धर्म की समाप्ति नहीं होसकती।

इस बात को समझने के लिये एक सरीखा व्यवहार करनेवाले किन्तु भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति रखनेवाले मनुष्यों को लें। फिर देखें कि सुखवर्धन की दृष्टि से किसका क्या स्थान है? और ईमानदार और मायाचारी के सुखवर्धन में कितना अन्तर है?

१—एक मनुष्य मन में प्रेम भोके आदि होने से सद्व्यवहार कर रहा है। २—दूसरा व्यक्ति मन में प्रेम न होनेपर भी सद्व्यवहार कर रहा है पर सोचना यह है कि किसी से द्वेष क्यों रखना चाहिये? द्वेष किसी स्वार्थपरता का परिणाम है, मुझे वह स्वार्थपरता उबाना चाहिये। ३—तीसरा व्यक्ति इसलिये सद्व्यवहार कर रहा है कि सद्व्यवहार प्रगट न किया जायगा तो अशान्ति बढेगी इससे आगे और दुख उठाना पड़ेगा इसलिये पूरी तरह शिष्टाचार निभाना ही अच्छा। ४—चौथा इसलिये सद्व्यवहार कर रहा है कि मैं निर्बल हूँ गरीब हूँ, सद्व्यवहार न करूँगा तो इसका पतितफल अच्छा न होगा, बहुत से लाभों से वंचित रहजाऊँगा या परेशानी उठाऊँगा। ५—पाचवा इसलिये सद्व्यव-

हार कर रहा है कि यह मौका ही ऐसा है कि सद्व्यवहार करना चाहिये। दूसरा अवसर आनेपर सारी कसर निकाल ली जायगी। ६—छठा इसलिये सद्व्यवहार कर रहा है कि सद्व्यवहार से ही विश्वास में लेकर धोखा दिया जासकता है ठगा जासकता है, उधार आदि के बहाने रुपये लेकर हजम किये जासकते हैं या किसी जाल में फसाया जासकता है।

इसप्रकार एक सरीखे व्यवहार के कारण, ऊपरी सुखवर्धकता समान होनेपर भी ब्रह्म आदि-भियों की ब्रह्म तरह की मनोवृत्ति है। पर आगे-पीछे का हिसाब लगाकर देखा जाय तो पता लगेगा कि जिसकी आत्मशुद्धि कम है उसकी सुखवर्धकता भी कम है, जिसकी आत्मशुद्धि अधिक है उसकी सुखवर्धकता भी अधिक है। निम्नलिखित विवेचन से यह बात स्पष्ट होगी।

१—शुद्धात्मा (शुधिम्य) जिसके मन में प्रेमभक्ति है उसका सद्व्यवहार स्थायी है, भविष्य में भी उसकी आशा की जासकती है इस विश्वास से एक तरह की आत्मीयता पैदा होती है और इससे सहयोग बढता है। साथ ही सद्व्यवहार करनेवाले को भी प्रसन्नता होती है, इस कार्य में कोई श्रम आदि खर्च करना पड़े तो उसका दर्द नहीं मालूम होता, इसप्रकार यह शुद्धात्मता स्वपर सुखवर्धन की दृष्टि से सर्वोत्तम है।

२—जो अपनी आत्मा को शुद्ध करने की तैयारी में है (शुधेलरिम्य) वह शुधिम्य के बराबर तो नहीं, फिर भी काफी सुखवर्धन करता है। शुधिम्य की बुद्धि और मन दोनों ही सद्व्यवहार में लगे हैं पर शुधेलरिम्य की बुद्धि तो सद्व्यवहार में लगी है पर मन हिचकिचा रहा है। इसलिये शुधिम्य की अपेक्षा वह, कुछ दुःखी है। मन की कुछ हिचकिचाहट (हिच्यो) उसके दुःख के बोझ को बढा रही है, सद्व्यवहार पर भी इसका असर पड़ता ही है, हालांकि वह इतना सूक्ष्म है जिसके साथ सद्व्यवहार किया जा रहा है (सुहा जगेर) उसे मुश्किल से ही पता लगसकता है फिर भी शुधिम्य और शुधेलरिम्य के ६ ०

के स्वाद में फर्क पैदा हो ही जाता है। इतना अन्तर होनेपर भी शुषेतरिम्प बहुत कुछ सुख-वर्धन करता है।

३-तीसरी श्रेणी का मनुष्य चतुरात्मा (चन्तिम्प) है, वह चतुरता से काम लेता है, और सहिष्णुता (फीशो) का परिचय देता है। बाहर से सद्गुणवहार इसका भी ठीक है। परन्तु वह परिस्थिति से पैदा होनेवाली विचारा का अनुभव कर रहा है। इसलिये शुषेतरिम्प की अपेक्षा भी भीतर ही भीतर बहुत दुःखी है। उसकी इस मनोवृत्ति का असर उसके व्यवहार पर पड़ने ही वाला है, जो शुषेतरिम्प के व्यवहार से भी अधिक स्पष्ट होगा। परिस्थिति बदलते ही वह सद्गुणवहार छोड़ देगा अशान्ति का डर न हो तो सद्गुणवहार न करेगा, इसलिये उसकी अपूर्णता के साथ उसकी अनिश्चितता भी बढ़ जाती है। इसलिये सुखवर्धन घट जाता है।

४-चौथा दीनता के कारण सद्गुणवहार करता है इसलिये यह दीनता (नूदिम्प) है। इसके मनमें भय और दीनता की वेदना है अथवा आशा की व्याकुलता है इसलिये चन्तिम्प (चतुरात्मा) की अपेक्षा यह अधिक दुःखी है। उसकी इस मनोवृत्ति का असर व्यवहार पर भी पड़ता है इसलिये दूसरे को भी इसका रस पूरा नहीं मिल पाता। दीनता की परिस्थिति हटवाने पर वह सद्गुणवहार भी हट जायगा इसलिये उसमें अस्थिरता और अनिश्चितता भी है। इन सब बातों से इसका सुखवर्धन और भी कम है।

५-पाचवीं अवसरवादी (चन्तिम्प-अवसरत्मा) अथवा बालाक (चुन्त) है। इसे सद्गुणवहार में कोई आनन्द नहीं आ रहा है, काफी योग्य अनुभव कर रहा है, इसकी दृष्टि परिस्थिति बदलते ही सारी कसर निकलनेपर है, इसलिये चिन्ता से भी काफी परेशान है, उसकी अस्थिरता तथा अनिश्चितता नूदिम्प (दीनता) से भी अधिक है, इन सब बातों का असर सद्गुणवहार पर भी इतना पड़ता है कि सदाजगेर [जिसके साथ सद्गुणवहार किया जाता

है] को भी इसका पता लग जाता है, इसलिये उसको उतना सुख-सन्तोष भी नहीं मिलता जितना नूदिम्प [दीनता] आदि से मिल जाता है। इस प्रकार इसका सुखवर्धन और भी कम है शक्ति अवसर निकलनेपर जल्दी ही दुःख-वर्धन की सम्भावना है।

६-छठा वज्रकात्मा [चीटिम्प] है। इसका सुखवर्धन तो नाममात्र है और दुःख-वर्धन असीम है। स्वयं तो यह अशान्त चिन्ता-तुरभीत है ही, पर इसके चकार में पड़नेपर सुहाजगेर भी काफी दुःखी हो जाता है।

इन छह व्यक्तियों के विवेचन से मालूम होता है कि जिसमें जितनी आत्मशुद्धि होती है सुखवर्धकता भी उतनी अधिक होती है और जितनी आत्मशुद्धि कम होती है उतनी सुख-वर्धकता भी कम होती है। इसलिये सुखवर्धकता के लिये आत्मशुद्धि आवश्यक है। अगर सुखवर्धन ध्येय को पूरा करना हो तो उसके पहिले आत्मशुद्धि उपधेय को पूरा करना ही पड़ेगा। इस प्रकार सुखवर्धन ध्येय में आत्मशुद्धि उपधेय आ जाता है।

प्रश्न—देखा जाता है कि अगर किसी आदमी से कोई काम विगड़ जाता है—उससे दुःख बढ़ जाता है—परन्तु यदि उसका मन शुद्ध हो तो हम उसे बोधी नहीं ठहराते, परन्तु यदि किसी का मन अशुद्ध हो, उसमें द्वेषादि भरा हो किन्तु उसने हमें कोई दुःख न पहुँचाया हो तोभी हम उसे बोधी मानते हैं उसके प्रति मनमें विरोध लाते हैं, इससे मालूम होता है कि हमें सुखवर्धकता की अपेक्षा आत्मशुद्धि की अधिक चिन्ता है इसलिये आत्मशुद्धि को ही मुख्य ध्येय क्यों न माना जाय ?

उत्तर—उपबुद्धि अवसरपर भी आत्मशुद्धि की जो चाह मनुष्य को होती है वह भी टोटल मिलानेपर सुखवर्धकता अधिक होने के कारण। जिस मनुष्य से किसी अवसर पर काम विगड़ गया है किन्तु हृदय शुद्ध है उसपर हमें द्वेष नहीं होता इसका कारण यह है कि हम

जानते हैं कि “काम बिगड़ने में इसका कोई अपराध नहीं है, दूसरा अज्ञात या जवर्दस्त कारण आजाते से यह काम बिगड़ा है, ऐसे कारण सदा नहीं आया, इसलिये शुद्ध हृदय व्यक्ति पर विश्वास रक्खा जा सकता है। वह जानबूझकर अहित नहीं करेगा।” इस विचारधारा से हमें शुद्ध हृदय व्यक्ति के बारे में निश्चिन्तता बनी रहती है, विश्वास बना रहता है। और यह काफी सुख-सन्तोष की बात है। किन्तु जिसके मनसे द्वेष है, किन्तु किसी कारण या अवसर आदि न मिलने से वह प्रगट या सफल नहीं हो पाया है उसके विषयमें चिन्ता बनी रहती है। न जाने कब मौका मिल जाय और वह हमें सता डाले। इस प्रकार सदा की वैचैनीसे काफी दुःख होता है। सहयोग की आशा न रहने से भी सुख हानि होती है। इसलिये लोग आत्मशुद्धि को देखते हैं। किन्तु उसका ध्येय सुखवर्धन ही होता है।

प्रश्न—जब कोई मनुष्य हमें गाली देता है तब उसकी गालियों से हमें कोई चोट नहीं लगती। अच्छे शत्रुओं की तरह बुरे शत्रु भी हवा में उड़ जाते हैं फिर भी तो हमें दुःख होता है वह इसी बात का कि इसका मन अशुद्ध है। मतलब यह कि दुःखवर्धन न होनेपर भी मन की अशुद्धिसे हम किसी बात को अकर्तव्य मान लेते हैं। इससे तो यही मालूम होता है कि आत्मा की शुद्धि ही असली ध्येय है।

उत्तर—आत्मा या मन की अशुद्धि तो तब भी कही जा सकती है जब कोई हमें गाली न देकर हमारे दुश्मन को गाली दे, पर उस समय हमें दुःख नहीं होता या बहुत कम होता है। इसका मतलब यह हुआ कि गाली को हमने इसलिये बुरा नहीं माना कि इससे उसका आत्मा अशुद्ध हुआ, किन्तु इसलिये बुरा माना कि उससे हमारा अपमान हुआ। और जितना अपमान हुआ उतना दुःख हुआ। एक आदमी हमारे परोक्ष में हमें गाली दे तो इसपर हम उपेक्षा कर जायेंगे। क्योंकि परोक्ष में गाली देने से हमपर कोई यह आक्षेप न लगायगा कि तुम गाली

खाग्ये इसलिये कमजोर हो। पर जनता के बीच हमारे सामने कोई हमें गाली दे तो हम न सहेंगे क्योंकि उसमें हमारा काफी अपमान होता है। अपमान एक बड़ा भारी मानसिक दुःख है जो गाली से मिलता है इसलिये हम इसके विरोधी होते हैं। यहाँ हमारी दृष्टि सुखवर्धन करने और दुःख घटाने की रहती है। आत्मशुद्धि इस कार्य में जितनी सहायता पहुँचाती है उतने अंश में उसे भी उपभोग के रूपमें स्वीकार किया जाता है।

प्रश्न—जैसे यह कहा जा सकता है कि सुखवर्धन के साथ आत्मशुद्धि होती है उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि आत्मशुद्धि के साथ सुखवर्धन होता है। सुखवर्धन को ध्येय मानने में आपत्ति नहीं है पर आत्मशुद्धि को ध्येय मानने में भी क्या आपत्ति है?

उत्तर—चार आपत्तियाँ हैं १-अनिश्चितार्थता २-अनिष्टार्थता ३-विपक्षाश्रयता, ४-अज्ञात विज्ञासा।

१—अनिश्चितार्थता (नोनिशागो) आत्मशुद्धि शब्द का अर्थ ही निश्चित नहीं है। आत्मा क्या है? वह नित्य द्रव्य है या द्रव्यों के मिश्रण से बनी कोई अनित्य वस्तु है, वह परमाणु बराबर है या शरीर परिमाण है या विश्वव्यापक है? उसके साथ अशुद्धि क्या है? वह कोई भौतिक पिंड है, या उसका गुण है? या माया है? भौतिक-अभौतिक का बन्ध कैसे और कब हो सका है? उसकी शुद्धि का क्या मतलब है? वह होता कैसे है? इन प्रश्नों के साथ मोक्ष-अमोक्ष ब्रह्म माया आदि के ऐसे प्रश्न खड़े हो जाते हैं कि आत्मशुद्धि का ठीक रूप ही स्पष्टता से ध्यान में नहीं आता फिर उसको ध्येय कैसे माना जाय।

२—अनिष्टार्थता (नोइशानो) आत्मशुद्धि का साधारणतः यह मतलब समझा जाता है कि चित्त स्थिर हो, निर्बिक्ल हो, राग द्वेष आदि किसी तरह की भावना उसमें पैदा न हो, आत्मा समाधिमें लीन हो, या आत्मा मे लीन हो, मन वचन शरीर की क्रियाएँ बन्द

आदि। ऐसी अवस्था असम्भव तो है ही, किंतु इससे भी बुरी बात यह है कि यह सब बेकार है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है आनन्द रूप है और ज्ञान और आनन्द स्वयं एक विकल्प है, क्योंकि उसमें नाता न रहती अनुभूतियाँ हैं ऐसी अवस्था में आत्मा को निर्विकल्प बना देने का अर्थ है उसे ज्ञानशून्य आनन्दशून्य बना कर जड़ बना देना।

आत्मा में अगर भलाई से राग न हो, घुराई से द्वेष न हो, गुस्सो में गुणानुलो में उपकारियों में अगर भक्ति कृतज्ञता न हो, जीवित रहने के लिये खानपान आदि की चेष्टा न हो, खानपान सामग्री के लिये अर्जन का कोई यत्न न हो, तो ऐसा जीवन एक तो टिकेगा नहीं, अगर टिक भी गया तो ममी (मिश्र के विगमिष्ठ में निकली हुई हजायें वर्ष पुरानी लाशें) को तरह वह बेकार होगा। जगत को तो उससे कोई लाभ है ही नहीं, पर जड़ता में समाजाने से, या एक तरह के नशे में लीन हो-जाने से उसका भी कोई लाभ नहीं। व्यवहार में जो इससे असीम हानि होगी वह यह कि निर्विकल्प समाधि आदि की साधना के नामपर कृपाशीवियों (मुपनगरो) की एक पकटन गड़ी होजायगी।

मे लोग स्थिरता को शुद्धि और चंचलता को अशुद्धि मानने लगते हैं, जब कि शुद्धि-अशुद्धि का इसमें कोई निश्चय सम्भव नहीं। एक गट्टे में पानी रक्खा तो वह शुद्ध न होजायगा, और आम्रामान में घाटल के रूप में सनी चंचलता से अगर का उधर नौका रहे तो अशुद्ध नहीं होजायगा। चंचल पानी भी शुद्ध होसकता है और अशुद्ध होसकता है और स्थिर पानी भी शुद्ध होसकता है और अशुद्ध होस-सकता है। आम्रामान में पानी चंचल होनेपर भी शुद्ध है, गट्ट में चला हुआ पानी चंचल होने पर भी अशुद्ध है। बर्फ का पानी जमीन में पड़ने के पल में गाढ़, योजन में भरकर रख दिया जाये तो फिर गट्टे में भी शुद्ध है और गट्ट में रखा गया पानी स्थिर रहनेपर भी

अशुद्ध है। इसलिये यह समझन गलत है कि जो आदमी एक जगह बैठेजायगा, मन बचन काय को स्थिर करलेगा सो शुद्ध होजायगा और सत्कार्यों में लगा रहेगा तो अशुद्ध होजायगा। पूर्ण अक्रियता से मङ्गलीपर ध्यान लगातेवाला बरुला अशुद्ध है और विभूतिपिता से दुनिया भर पर नजर डालनेवाला साधु शुद्ध है।

यही कारण है कि तीर्थंकर पैगम्बर अव-तार कहलातेवाले व्यक्ति जीवनभर समाजसेवा में लगे रहते हैं फिर भी शुद्धात्मा बने रहते हैं। जो लोग ईश्वरवादी हैं उनके अनुसार ईश्वर जगत् की व्यवस्था में लगा रहता है फिर भी वह शुद्धात्मा है। इसलिये निश्चलता को शुद्धि और अस्थिरता को अशुद्धि मानना असत्य है। पर बहुत से लोग या सम्प्रदाय आत्मशुद्धि के नामपर इसी तरह के अनेक अनिष्ट अर्थ मानते हैं इसलिये आत्मशुद्धि को ध्येय मानना ठीक नहीं।

हा। जो आत्मशुद्धि या ध्यान आदि की प्रशंसा सुनकर शुद्धि और दुःख हानि के लिये उत्तरी है उसे सुखवर्धन ध्येय के साधन रूप में अपनाया जासकता है पर ऐसी हालत में उसे उपध्येय कहेंगे, ध्येय नहीं।

प्रश्न-निर्विकल्प समाधि आदि हम छोड़ देते हैं पर क्रोध मान माया लोभ आदि कपाया का त्याग करना आत्मशुद्धि है यही अकपा-यता रूप आत्मशुद्धि को ध्येय माने तो क्या हानि है इसमें अनिष्टार्थता क्या है ?

उत्तर-आत्मशुद्धि के नामपर जैसी अकपा-यता का रूप माना जाता है वह सुख की तरह निर्विवाद नहीं है, और अनिष्टार्थ भी है। क्रोध आदि वृत्तियों का पूर्णनाश हो सकता है या नहीं। अथवा उनके पूर्णनाश से चैतन्य की जाग्रत अवस्था रहेगी कि नहीं ये जाने विवादास्पद या अविश्वसनीय है। गौरी विचार से यही मालूम होता है कि क्रोध मान माया लोभ का पूर्णनाश नहीं किया जासकता, न किया जाना चाहिये, इनका दुरुपयोग गेरा जासकता है, उनके वि-रुद्ध का गेरा जासकता है, इनका प्रदर्शन सर्वा-

दित किया जासकता है यह करना चाहिये, यही इष्ट है, इनका पूर्णनाश अनिष्ट है। अन्यायपर आवश्यक क्रोध आना धर्म है, अन्यायपर उपेक्षा या लापरवाही करना निर्बलता या कायरता है अधर्म है। अभिमान से दूसरों का अपमान करना पाप है, अहंकारियों या अत्याचारियों के सामने आत्मगौरव या लोकगौरव या न्याय-गौरव की रक्षा करना धर्म है। स्वार्थवश दूसरों को झूलना पाप है किन्तु उसके कल्याण के लिये अतथ्य भाषण पाप नहीं है। लोभ पाप है पर प्रेम सितव्ययिता आदि उसीके अच्छे रूप पाप नहीं हैं। मतलब यह कि स्वपरकल्याण के लिये इनकी जहाँ जितने जैसे रूपमें आवश्यकता है वहाँ उनको रखना चाहिये। पूर्ण रूप में अक-पाय होनेपर मनुष्य बेकार या जड़तुल्य होजायगा। अकपायता के ध्येय को अपनाने के भ्रम में पड़कर बहुत से जैन ग्रंथों में म महावीर के जीवन की बिहन्वना होगई है। वे भोजन नहीं कर सकते, किसी से बात नहीं कर सकते, स्वेच्छा से कहाँ आ जा नहीं सकते, आदि अस्वाभाविक चित्रण पूर्ण अकपायता के दुष्परिणाम है। इसलिये अकपायता का ध्येय भी अनिष्ट है। हा। जितने अंश में वह स्वपरकल्याणकारी अर्थात् विश्वसुखवर्धक है उतने अंश में उपध्वेय के रूप में उसे माना जासकता है।

३-विपत्तश्रयता (राफ़शु जां) आत्मशुद्धि का अर्थ अनिश्चित या अनिष्ट होने से अन्त में उसका यही अर्थ ठीक माना जाता है कि जिसके द्वारा मनवचन तन की प्रवृत्ति स्वपरकल्याणकारी अर्थात् विश्वसुखवर्धक हो, वह आत्मशुद्धि है और जिसके द्वारा मन वचन तनकी प्रवृत्ति अकल्याणकारी या दुस्वर्धक हो वह अशुद्धि है। ऐसी हालत में आत्मशुद्धि सुखवर्धन के आश्रित होजाती है। सुखवर्धन को हटाकर हम आत्मशुद्धि को ध्येय बनाना चाहते थे, इसलिये इस प्रकार में सुखवर्धन आत्मशुद्धि का प्रतिस्पर्धी या विपक्ष था और उसी प्रतिस्पर्धी का आश्रय लेनेपर आत्मशुद्धि का अर्थ ठीक बैठ

सका। ऐसी हालत में आत्मशुद्धि को ध्येय मानने का कोई अर्थ नहीं। ध्येय तो सुखवर्धन ही रहा और आत्मशुद्धि उपध्वेय हुआ।

४-अशान्त जिज्ञासा-(नोशम जानिशो) चौथी बात यह है कि आत्मशुद्धि से जिज्ञासा शान्त नहीं होती। आत्मशुद्धि किसलिये, यह जिज्ञासा बनी ही रहती है। प्राणीको सुख चाहिये। आत्मशुद्धि से सुख मिलता हो तो आत्मशुद्धि ठीक है, नहीं मिलता हो तो आत्मशुद्धि बेकार है। स्वतंत्रता, मोक्ष, ईश्वर, आत्मशुद्धि, आदि सब के बाद भी यह प्रश्न खड़ा होसकता है कि यह सब किसलिये? किन्तु सुख के बाद यह जिज्ञासा शान्त हो जाती है इसलिये विश्वसुखवर्धन को अंतिम ध्येय और कर्तव्य निर्णय की कसौटी मानना चाहिये।

प्रश्न—सुखवर्धन ध्येय ठीक होनेपर भी उसमें एक बड़ी भारी आपत्ति यह है कि उसका दुरुपयोग काफी होसकता है। सुखवर्धन के नाम पर सभी स्वार्थियों और पापियों को अपना स्वार्थ या पाप छिपाने की ओट मिलजाती है। किसी पाप को सुखवर्धक सिद्ध करना जितना सरल है उतना सरल उसे आत्मशुद्धि रूप सिद्ध करना नहीं है।

उत्तर—विश्वसुखवर्धन की कसौटीपर कसकर कोई कार्य किया जाय तो उसमें पाप और दुस्वार्थ नहीं छिपसकता। झूठी दुहाई देकर कोई पाप छिपाने को दुरुपयोग नहीं कहते। इसे दुरुपयोग कहा जाय तो ऐसा दुरुपयोग तो किसी भी सच्ची बात का होसकता है। आत्मशुद्धि का भी होसकता है। आत्मशुद्धि की ओट में मनुष्य यकर्मण्य बनजाता है वन्मी धमरवा और लापरवाही बनजाता है। उसमें एक तरह की ठन्डी कहरता आजाती है। अन्याय अत्याचार को रोकने की शक्ति होनेपर भी और कर्तव्य का अंग होनेपर भी उसे न रोकना ठन्डी कहरता है। आत्मशुद्धि के नामपर जो उदासीनता लापरवाही आदि का नाटक किया जाता है वह दुरुपयोग तो स्पष्ट ही है।

कहा जासकता है कि जहाँ आत्मशुद्धि है

इहा अहंकार आदि कैसे रहसकते हैं। सुखवच नहीं रह सकते, ठीक उसी तरह जिस तरह विश्व-सुखवर्धन के होनेपर दुःस्वार्थ और पाप नहीं रहसकते। वह तो मूठी दुहाई देकर पाप छिपाने की बात है सो मूठी दुहाई को कहां कहां रोक सकते हैं ? इसलिये मूठी दुहाई को पचाह न कर हमें ठीक अर्थ लेकर चलना चाहिये। ठीक अर्थ मानकर भी अगर दुरुपयोग हो तो दुरुपयोग मानना चाहिये। विश्वसुखवर्धन का ठीक अर्थ लेनेपर उसकी ओट में पाप या दुःस्वार्थ नहीं छिपसकते जिससे उसे ध्येय न माना जाय।

प्रश्न—माना कि विश्वसुखवर्धन की ओट में पाप नहीं छिपसकते। फिर भी यह बात तो साफ है कि सुखवर्धन की कोशिश करनेपर भी दुःखवर्धन होता है। किसी भूखे को मांस खिलाने में जैसे एक को थोड़ा सुखवर्धन और दूसरे को काफी दुःखवर्धन होता है उसीप्रकार पानी पिलाने आदि हर एक कार्यमें है। हम परोपकार के नामपर असंख्य शुद्ध जीवों का जीवन नष्ट कर देते हैं इसप्रकार एक प्राणी के सुखवर्धन के लिये असंख्य प्राणियों का दुःखवर्धन करते हैं। इसलिये अच्छा तो यही है कि मनुष्य परोपकारी बनने की अपेक्षा अहिंसक बने। सुखवर्धन की अपेक्षा दुःख न बढ़ाने का कार्य करें, यही हमारा ध्येय होना चाहिये। सधे शत्रु में अहिंसा हमारे जीवन का ध्येय होना चाहिये।

उत्तर—अहिंसा दुःख को रोकना है। और दुःखको रोकना भी एक तरह का सुखवर्धन है। इसलिये अहिंसा में भी सुखवर्धन की दृष्टि काम करती है। फिर भी सुखवर्धनपर उभेना करके केवल अहिंसा को जीवन का ध्येय नहीं बना सकते। क्योंकि वह अत्यावहारिक है और व्यावहारिक भी होती तो अनिष्टता के कारण उसे स्वीकार नहीं किया जासकता था।

अगर हम मूख हिसा रोकने की कोशिश करें तो एक तरह से सामाजिक प्रलय फैलाय, पानी पीने में और आन लेने में जो मूख जीव

मरते हैं उन्हें बचाने के लिये हमें पानी पीना और स्वाद लेना बन्द करना पड़ेगा इस तरह मानवसमाजका या प्राणिसमाज का सर्वनाश ही होजायगा। इस प्रकार जब जीवन ही नहीं रहेगा तब जीवन का ध्येय या धर्म क्या रहेगा ?

प्रश्न—अपने जीने के लिये भले ही सूक्ष्म हिंसा होती रहे पर दूसरों के लिये हम हिंसा क्यों करें ?

उत्तर—यदि सूक्ष्म हिंसा भी न होने देना हमारे जीवन का ध्येय है तब उस ध्येय को सब से पहिले अपने ही ऊपर अजमाना चाहिये। अगर सूक्ष्म हिंसा पाप है तो सभी के लिये पाप हैं ? एक पाप अपने लिये किया जाय तो पाप नहीं है या क्षन्तव्य है और परोपकार की दृष्टि से दूसरों के लिये किया जाय तो पाप है, इस स्वार्थ-परता और पक्षपात को बर्ण कैसे कह सकते हैं ? और तब यह अहिंसा का शुद्ध विचार भी नहीं रहता।

दूसरी बात यह है कि हमें अपने लिये भी परोपकार की उत्तरत है। अगर हम किसी बीमार आदमी को पानी न पिलायें तो हमारी नीतिके अनुसार हमारी बीमारीमें दूसरा हमें पानी नहीं पिलायगा। हमारी सेवा के बिना दूसरे मर जायेंगे और दूसरों की सेवा के बिना हम मर जायेंगे। इसलिये यह हृदय दर्ज की मूर्खता और कृतज्ज्ञता है कि हमें अपनी भलाई के लिये ही सूक्ष्महिंसा करना चाहिये पर दूसरे की भलाई से क्या लेना-देना ? दूसरे की भलाई के बिना हमारी भलाई भी टिक नहीं सकती। इसलिये पूर्ण स्वार्थ के लिये पूर्ण परार्थ अन्यावश्यक है ? सब पूछा जाय तो परोपकार भी एक तरह का अणु चुकाना है। व्यक्तिगत अणु चुकाना उसे भले ही न कहाजाय किन्तु सामाजिक अणु चुकाना इसे कहना चाहिये। हम देशाटन करते हैं व गृह जगह दूसरों के बनवाये हुए कुओं का पानी पीते हैं दूसरे के द्वारा बनवाई हुई र्मशाला में उदरत हैं और दूसरों की अनेक वस्तुओं का उपयोग करते हैं इस अणु को चुकाने के लिये यदि हम भी

दूसरो के लिये कुआ खुदवादे धर्मशास्त्रा वनवर्मे तो यह पाप न होगा, ऋण चुकाना रूप धर्म होगा, इसे एक तरह की ईमानदारी का कर्तव्य कहना चाहिये।

प्रश्न—जो अपने कुटुम्बी है या जो संयमी हैं उनका उपकार करना ठीक है, पर हर एक का उपकार करके हिंसा क्यों बढ़ाना चाहिये? अन्तिम वार्त्त और संयमवर्धक उपकार ही करना चाहिये।

उत्तर—कुटुम्बियों के साथ हमारा घनिष्ट सम्बन्ध होता है इसलिये उपकार का आदान प्रदान भी उनसे विशेष मात्रा में है पर हमारा साग जीवन इनेगिने कुटुम्बियों में ही समाप्त नहीं होजाता। घर में आग लगनेपर अकेले कुटुम्बी ही उसे नहीं बुझाते, दूसरो से भी मदद लेना पड़ती है, प्रवास में या घर के बाहर कुटुम्बी ही काम नहीं आते किसी से भी मदद लेना पड़ती है, इसलिये एक तरह की विश्वकुटुम्बिता को अपनाये बिना गुनर नहीं है। इसप्रकार प्रत्येक व्यक्ति विश्व का ऋणी है और यथाशक्त उसे विश्व का ऋण चुकाना चाहिये, वह विश्व का कुटुम्बी है और यथाशक्त विश्व से कौटुम्बिकता निभाना चाहिये। इस विषय में जितनी संकुचित दृष्टि से काम लिया जायगा, वह उतनी ही स्वार्थपरता और नाशानी होगी।

संयमियों के उपकार करने का अर्थ है कि उनका विशेष उपकार करना चाहिये, क्योंकि वे अपने समयपूर्ण जीवन से जगत् का विशेष उपकार करते हैं। पर संयम का अर्थ अमुक सम्प्रदाय की साधुसंस्था के सदस्य, या अमुक वेपथारी मनुष्य नहीं है किन्तु जहाँ जो संयम का परिचय दे वहाँ वही संयमी है। इसप्रकार संयमी का क्षेत्र भी विशाल है, इसलिये परोपकार का क्षेत्र भी विशाल होजाता है।

जब ज्ञात-अज्ञात सभी मनुष्यों से हमें उपकार का आदान-प्रदान करना पड़ता है, सभी जगह ज्ञात-अज्ञात मनुष्यों में संयमी हैं, तब हर एक का उपकार करने से ही उपकार का आदान-

प्रदान उचित कहा जासकता है।

प्रश्न—इसप्रकार तो थोड़े प्राणियों के लिये अधिक प्राणियों का नाश होता ही रहेगा। इससे दुःखवर्धन ही होगा। तब सुखवर्धन ध्येय कैसे पूरा होगा? आप गाय की जान बचाने के लिये असंख्य वनस्पतिजीवों का नाश करेंगे, वह स्पष्ट ही एक के सुख के लिये असंख्य प्राणियों का दुःख है, अब सुखवर्धन ध्येय कहाँ रहा?

उत्तर—इतना विवेक तो हमें रखना ही चाहिये कि जहाँ टोटल मिलातेपर सुखवर्धन से अधिक दुःखवर्धन होता हो वहाँ सुखवर्धन छोड़ देना चाहिये। अगर दुःखवर्धन की अपेक्षा सुखवर्धन अधिक मालूम हो तो वह करना चाहिये। इतना विवेक न हो तो ध्येयदर्शन या कर्तव्या-कर्तव्य निर्णय नहीं हो सकता।

हां! सुखदुःख का विचार करते समय सिर्फ प्राणियों की गणना का विचार न करना चाहिये, किन्तु सुखदुःख की मात्रा का विचार करना चाहिये। निम्न श्रेणी के असंख्य प्राणियों के सुखदुःख की अपेक्षा, उच्च श्रेणी के एक प्राणि में सुखदुःख अधिक होता है। वनस्पतियों के सुखदुःख की अपेक्षा कीट-पतंगों का सुखदुःख असंख्य गुणा है, उनसे असंख्य गुणा पशु-पक्षियों का है उनसे असंख्य गुणा मनुष्य का है। ज्ञान का, चैतन्यशक्ति का, अर्थात् संवेदन शक्ति का जितना जितना विकास होता जाता है उतना उतना सुखदुःख बढ़ता जाता है। दुःखसुख के मापतौल में हमें चैतन्य की मात्रा का विचार न छोड़ देना चाहिये। इसलिये साधारणतः अनेक पशुओं की अपेक्षा एक मनुष्य का बचाना अधिक कर्तव्य है। हा। इतनेपर भी उसकी मर्यादा है। मनुष्यपर प्राणसंकट आया हो तो उसके बचाने के लिये पशु का जीवन लगाया जासकता है, पर मनुष्य के सिर्फ विलास के ज़िन्ने पशु का जीवन नहीं लगाया जासकता। खाने के लिये परिपूर्ण अन्नदि सामग्री रहनेपर भी स्वाद के लिये मांस-मक्षण करना और बसके लिये पशुवध करना करना अनुचित है।

चलने-फिरने, साफ-सफाई करने आदि ~

ये सूत्र प्राणिवध होता है, उसका विचार नहीं किया जा सकता। बहुत से लोग सूत्र प्राणियों की इतनी अधिक पर्वाह करते हैं कि उनकी रक्षा के नाम पर मनुष्य की भी पर्वाह नहीं करते, या मनुष्य के प्रति मनुष्योचित कर्तव्य भी नहीं करते, वे हिंसा-अहिंसा विचार में या सुखदुःख विचार में अविचेकी हैं।

इस प्रकार सुखवर्धन के कार्य में दुःख-वर्धन कुछ होता भी हो तो चैतन्य की मात्रा का विचारकर टोटल मिलान चाहिये। टोटल मिलान पर सुखवर्धन अगर अधिक मात्तम हो तो सुख-वर्धन करना चाहिये। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि टोटल मिलान में सिर्फ प्राणियों की संख्या का विचार नहीं करना है उनकी चैतन्य मात्रा का विचार करना है।

प्रश्न—कोई जीव छोटा हो या बड़ा, उसका सुख उसको उतना ही प्यारा है जितना बड़े प्राणी को अपना बड़ा सुख प्यारा है। जीने का जन्म-सिद्ध अधिकार भी जितना हमें है उतना उसे भी है फिर हम असंख्य प्राणियों का वध करके स्वयं जिन्दे रहें या सुखी बने यह कहा तक उचित कहा जा सकता है ?

उत्तर—इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीने का जन्मसिद्ध अधिकार हर एक को है, पर दो प्राणियों के जन्मसिद्ध अधिकारों में जब संघर्ष हो तब किसका जन्मसिद्ध अधिकार सुरक्षित रखना चाहिये इसके लिये कोई न कोई निश्चित नीति बनाना पड़ती है। और वह नीति है विश्व सुख वर्धन की। इस तरह के प्राकृतिक या अनिवार्य संघर्ष में अधिक चैतन्यवाले प्राणी की रक्षा करना चाहिये। इसलिये मनुष्य को जीवित रखने के लिये अन्य प्राणियों का वध किया जा सकता है, पशुपक्षी आदि को जीवित रखने के लिये वनस्पति आदि का वध किया जा सकता है। पर शेर को जीवित रखने के लिये गाय हरिय आदि प्राणियों का वध नहीं किया जा सकता। क्योंकि शेर का चैतन्य गाय आदि से अधिक नहीं है। बल्कि सामाजिकता धार्मिक

आदि संयम शेरकी अपेक्षा गाय में अधिक है। इसलिये गाय शेर की अपेक्षा अधिक चैतन्य वाली है संयम चैतन्यके विकास का बहुत बड़ा बिन्दु है। शारीरिक शक्ति से चैतन्य विकास का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये गाय वचाने के लिये सिंह वध किया जा सकता है।

प्रश्न—तब तो मांसभजना आदि का पूरी तरह समर्पण किया जायगा; शिकार की कन्न प्रथा भी ठीक समझी जायगी।

उत्तर—मांसभक्षण का अनुमति सिर्फ वही दी जा सकती है जहां अन्न आदि अन्य सामग्री इतनी न होती हो जिससे मनुष्य जिन्दा रह सके। स्वान लोचुपता आदि के कारण संस-भक्षण को अनुमति न दी जा सकेगी। शिकार के विषय में भी वही नीति रहेगी। जहां अन्न नहीं होता वहां शिकार करना अनिवार्य होगा ही, साथ ही अगर जानवरों के आक्रमण के कारण खेती बगीचा, आदि का नारा होता है और अन्य-वपार्थों से रोक नहीं जा सकता वहां भी शिकार की अनुमति देना होगी। फिर भी यह उचित है कि हमें ऐसी व्यवस्था बनाना चाहिये जिससे पशुवध न करना पड़े। निम्नलिखित सूचनाओं का पालन हो सके तो अच्छा।

१—अधिक से अधिक अन्न पैदा किया जाय और जितना अन्न पैदा हो सकेता हो उसी के अनुसार जनसंख्या को नियन्त्रित रखा जाय। इसके लिये सन्तति-नियमन की प्रथा अपनाई जाय।

२—कृषिधातक जो प्राणी पकड़े जा सकेंगे वो उन्हें पकड़ कर ऐसी जगह छोड़ा जाय जहां से आकर वे फिर कृषिधात न कर सकें।

३—कृषिधातक तर मात्रा पशुओं को पकड़कर अलग-अलग अहातों में बन्द किया जाय। वे बड़ा, समयपर आयु पूरी कर भर जायेंगे और आगे सन्तान पैदा न होने से निर्वास हो जायेंगे।

४—कृषिधातक नरपशुओं को पकड़कर या तो उन्हें बधिया कर दिया जाय या ऐसा

अपरेशन किया जाय जिससे सन्तान पैदा न होसके। इसप्रकार उन्हें निर्वाश किया जाय।

५—कटीले तार आदि लगाकर कृपिघातक पशुओं का आना रोका जाय।

यथाशक्त्वे ये उपाय किये जायें, अगर ये उपाय पूरी मात्रा में न किये जासके और कृपि-रक्षण के लिये कृपिघातक या धनजन नाशक जानवरों का शिकार आवश्यक हो तो करने की अनुमति दी जासकती है।

प्रश्न—अनुमति क्यों दीजाय ? उपर्युक्त पांच सूचनाओं का पालन किया जाय। न होसके तो सब अपने भाग्य भरोसे रहे। किसी का शिकार क्या किया जाय ?

उत्तर—पहिला उपाय तो पांच सूचनाओं का पालन ही है पर जब उनसे इतनी सफलता न मिल सके कि सब मनुष्यों को खाने लायक अन्न मिलजाय, तब भाग्य भरोसे बैठने से कैसे काम चलेगा ? पशुपक्षियों और मनुष्यों में से किसी एक वर्ग को प्राण देने के लिये चुनना होगा। पशुपक्षियों को बचाकर मनुष्यों को मरने देना विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से अनुचित तो है ही, साथ ही कोई आशी इस तरह जानबूझकर भूखा मरना पसन्द नहीं करता फिर मनुष्य कैसे पसन्द करेगा इसलिये अस्वाभाविक भी है। इसके बाद सवाल होगा कि भूखों मरने के लिये कौनसे मनुष्य चुने जाय और किस प्रकार चुने जायें ? जो लोग पशुओं को बचाने के लिये मनुष्यों के भी मर जाने की पर्वाह न करनेवाले हैं क्या वे पशुओं पर क्या से प्रेरित होकर खुद भूख से प्राण छोड़ने को राजी होजायेंगे ? वे खुद मरने को राजी नहीं हैं तो पशुओं के ऊपर आतृता दया दिखाकर मनुष्य की अवहेलना का क्या अर्थ है ?

यह सोच लेना कि 'हमारे पास तो पैसा है हम तो मंहेंगे से मंहेंगा अन्न खरीदकर खा लेंगे इसलिये हमें तो मरना ही न पड़ेगा, मरनेवाले तो गरीब होंगे, सो मरें' उनका भाग्य, इस पशु-पक्षियोंपर दया दिखाने से क्यों चूके ? अथवा

हम तो पंडितजी बनकर पढ़ाने का धंधा करते हैं, या व्याज का या सट्टे आदि का धंधा करते हैं, किसी का खेत जानवर खाते हैं इससे हमारे धंधे को क्या नुकसान ? तब हम पशुओंपर दया बताने से क्यों चूके ? यह सब क्यालुता नहीं है घोर स्वार्थपरता है इसलिये अर्थ है। धर्म का विचार तो वही होगा जिसमें मनुष्यमात्र के हित का ध्यान रक्खा जायगा ? और प्राणिमात्र के हित का विचार करते समय, अधिक चैतन्य और हीन चैतन्यवाले प्राणियों से विवेक रक्खा जायगा, तथा आत्मौपम्यभाव से काम लिया जायगा।

यहां आत्मौपम्यभाव का खुलासा यह है कि जो मनुष्य यह कहता है कि अस्वभाव से मनुष्यों की मौत भले ही हो, पर पशुपक्षियों की, अन्ननाशक पशुपक्षियों की भी, रक्षा होना चाहिये, उनका कर्तव्य है कि वे एक ऐसा खेत लें जिसमें उनके कुतुम्ब के लायक ही अन्न पैदा होता हो, और जिसे जंगली जानवर या बन्दर आदि चर जाते हो, जिन्हें रोकना अशक्य होपडा हो, फिर यदि अन्न कम पैदा होनेपर भी वे भूखे रहकर, बालवृक्षों को भूखे रहकर, मरने को तैयार हों तो समझा जायगा कि वे पशु-पक्षियों की रक्षा करने के पक्ष में हैं। पंडितार्थ का धंधा करते हुए, या नगर में ऐसा काम करते हुए जिसका अन्नघातक जानवरों से सम्बन्ध नहीं आता, उस परिस्थिति का अनुभव नहीं हो-सकता जो पशुपक्षियों और चूहों आदि से खेती या नाश होने से पैदा होती है।

हम शत्रु से अनुमति दें या न दें, पर हमारेलिये जो हिंसा दूसरों को करना पड़ती है और जिसका हम लाभ उठाते हैं उसकी जिम्मे-दारी हमारे ऊपर आती है और उससे हमारी मौन अनुमति मानीजाती है। इसलिये यदि हम अस्वभाव से स्वयं मरने को तैयार नहीं हैं तो अस्वभाव घटाने के लिये दूसरे जो कार्य करते हैं उसमें हमारी मौन या अमौन अनुमति है। इसी दृष्टि से अनुमति देने की बात कही गई है।

परम—अन्नादि की रक्षा के लिये जो अनि-
य वध करना पड़ता है वह ठीक है, पर सुख-
वर्णन के नामपर और भी हिंसा कार्य होते हैं।
मि मच्छर आदि के नाश की औषधि, चूहे पक-
ने या मारने के पिंजड़े आदि बनाये जाते हैं,
गोप विच्छू आदि मारने के कार्य होते हैं। विच्छू
गान्धूमकर किसीपर आक्रमण नहीं करता,
गोप भी बिना छेले आक्रमण नहीं करता फिर
भी उन्हें मार दिया जाता है, सिर्फ स्वार्थ के नाम
पर नहीं किन्तु जन हित के नामपर भी। सुख
वर्णन का ध्येय आखिर इस प्रकार हिंसा बढ़ाकर
गोपी दुःख बढ़ाता है। अहिंसा के ध्येय से इन
नव की रक्षा हो सकती है।

उत्तर—कुछ अनावश्यक हिंसाएँ होती हैं
नरु, अहिंसा के नामपर उनसे थोड़ा बहुत
बचा भी जा सकता है, और कुछ बचना भी
चाहिये, पर सामूहिक रूप में वह अव्यवहार्य
है और अनिष्ट भी है। प्लेग के कीड़े मरेगे इस-
लिये प्लेग की हवा को शुद्ध न करना चाहिये,
यह एक तरह का पागलपन होगा। मनुष्य और
प्लेग के कीड़े को एक तराजू पर नहीं रक्खा
जा सकता। आक्रमणकारी मनुष्यसे जिसप्रकार
हम अपनी रक्षा करते हैं उससे अधिक रक्षा
आक्रमणकारी कृमि आदि से करना पड़ेगी।
मच्छरों का हमने कुछ नहीं विगाढ़ा पर वे जव-
र्दस्ती आकर हमारा खून चूस जाते हैं यह आक्र-
मण है। यह सम्भव नहीं है कि उनके साथ सम-
मौता कर लिया जाय कि एक बार तुमने खून
चूसलिया तो चूसलिया, पर अब कोई मच्छर
खटमल आदि हमारा खून न चूसने पाय। ऐसी
हालतमें उनका संहार करना ही पड़ेगा। चूहा
आदि तो हमारा अनाज खावाते हैं बीवारे फोड़
देते हैं न खाने का भी सामान काट काट कर
वेकार कर देते हैं इनसे भी कोई सुलहसन्धि
सम्भव नहीं है। साप विच्छू इस तरह जवर्दस्ती
आक्रमण नहीं करते पर किसी कारण अनजान
में भी अंगर स्पर्श होजाय, उस स्पर्शसे इनका
पुनः उत्पन्न हुआ हो या न हुआ हो ये डक मारते
हैं या काटवाते हैं। ये इस बात का विचार नहीं

कर सकते कि स्पर्श करने वाले का इरादा क्या
है, या अनजान में जो इससे कुछ भूल हुई है
वह दंडनीय है या नहीं, और है तो कितनी है।
बस, ये तो सारी शक्ति लगाकर अक्रमण करेंगे
फिर भले ही वह बेचारा रातभर चिल्लाता रहे या
मरजाय। इसप्रकार हजारों निरपराध आत्मी
सर्पदंश से मरते हैं और विच्छू के डंक से तड-
पते हैं ऐसी हालतमें अगर इनकी हिंसा की जाती
है तो वह आत्मरक्षा और सुखवर्णन का ही
प्रयत्न है। जो व्यावहारिकता की दृष्टि से न्यायो-
चित्त है।

इनकी हिंसा रोकने का सर्वोत्तम उपाय यह
है कि साफ सफाई रखी जाय और इन्हें पैदा
न होने दिया जाय। इतने पर भी अगर ये पैदा
होजायें तो आत्मरक्षा या आत्मीयरक्षा की दृष्टि
से इनकी हिंसा करना पड़ेगी। टोटल मिलाने पर
यह विश्वसुख वर्णन के अनुकूल कार्य होगा।

हिंसा अहिंसा का विचार करते समय हमें
इस बात का विवेक तो रखना ही होगा कि हिंसा
को चित्कूल हटाया नहीं जा सकता इसलिये
दोनों का टोटल मिलाना उचित होगा। टोटल
में हिंसा अधिक हो तो उस कार्य को हिंसा माना
जाय अहिंसा अधिक हो तो अहिंसा माना जाय।
ऐसा कोई बहीखाता नहीं होता जिसमें सारी
रकम जमा में ही लिखी जाय। जमा और नामा
दोनों तरफ ही रकमें लिखी जाती है सिर्फ इस
बात का ध्यान रक्खा जाता है कि नामा में रकम
ज्यादा न होजाय। जीवन के बहीखाते में भी
हमें यही बात देखना पड़ती है। अहिंसा हिंसा
दोनों तरफ रकम चढ़ती है, देखना यही चाहिये
कि अहिंसा से हिंसा बढ़ न जाय। बही खाते की
तरह इस बात का भी विचार करना पड़ता है
कि गिनती से ही जमा नामों का हिसाब नहीं
लगता। जमा में एक रुपया हो और नामों में
पचास पाईयों हो तो यह नहीं कहा जाता कि
रुपया तो एक ही है और पाईयों तो पचास है,
इसलिये नामों की रकम बढ़ गई। रुपया एक होकर
भी पचास पाईयों से कई गुणा है इस बात की
मुलाया नहीं जाता। इसी तरह जीवन के बही-

खाते मे हिंसा-अहिंसा का विचार करते समय भी सिर्फ प्राणियों की गिनती नहीं देखी जाती। उनकी चैतन्यमात्रा के अनुसार मूल्य भी देखा जाता है, तभी हानि-लाभ या हिंसा-अहिंसा का निर्णय होता है। पर इस निर्णय की कसौटी भी विश्वसुखवर्धन ही है। जिसमे सुखवर्धन अधिक और दुःखवर्धन कम, वह अहिंसा, और जिसमे सुखवर्धन कम और दुःखवर्धन अधिक वह हिंसा, इस तरह निर्णय करना पड़ता है। इसप्रकार अहिंसा को ध्येय बनानेपर जो बात अनिवार्य रह जाती है वह विश्वसुखवर्धन को ध्येय बनाने मे स्पष्ट रीतिसे निर्यात हो जाती है।

प्रश्न—सुखवर्धन को ध्येय बनाने से एक बड़ा अन्धेर यह होगा कि संयमी योगी लोगोपर आफत आजायगी। क्योंकि श्रेणी लोग दुःखको सहने की ताकत अधिक रखते हैं इसलिये उन्हें सताना उतना बुरा न समझा जायगा जितना असंयमी को सताना। क्योंकि असंयमी अपनी मानसिक कमजोरी से दुःख का अनुभव अधिक करता है। इस नीति से बढ़कर अन्धेर क्या होगा? संयमी को कुछ पारितोषक मिलना तो दूर उसपर दुःख हा दिया, और असंयमी को दंड मिलना तो दूर उसे संयमीसे कम दुःख दिया गया ऐसी अवस्था मे संयम सदाचार का मार्ग ही बन्द होजायगा। और इससे दुनिया नरक बनजायगी।

उत्तर—इससे दुनिया नरक बनजायगी। इसीसे सिद्ध होता है कि संयमी को अधिक दुःख देने की और असंयमी को कम दुःख देने की नीति विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से ठीक नहीं है। संयम सदाचार से विश्वसुखवर्धन होता है, और इसलिये जिससे संयम सदाचार बड़े ऐसी कोशिश करना चाहिये। इसका एक उपाय यह है कि संयमी सदाचारी की इज्जत अधिक की जाय उसे सुविधा अधिक दीजाय। इसप्रकार सुखवर्धन के नामपर संयमी को अधिक दुःख देने की नीति नहीं अपनाई जा सकती।

दूसरी बात यह है कि योगी संयमी आदि दुःख अधिक सहन करते हैं पर इसका यह मत-

त्व नहीं है कि उन्हें दुःख कम होता है। योगी संयमी आदि की चेतना इतनी विकसित और निर्मल होजाती है कि जिस सुखदुःख का अयोगी और असंयमी को पता भी नहीं लगता उसका प्रचंड संवेदन योगी और संयमी को होता है। जैसी गलतियों साधारण लोग देते लेते रहते हैं योगी उन्हें नहीं सुनसकता, जैसी अशान्ति में साधारण लोग हैंसेते हैं योगी उससे कोसो दूर भागता है, योगी का दुःख अयोगी से बहुत अधिक होता है। वह अपनी संहनशक्ति के द्वारा अशुभ रहता है, विश्वप्रेमी होने से वैर नहीं बसाता, यह दूसरी बात है पर उसे दुःख अधिक होता है चोट अधिक लगती है।

इसप्रकार विश्वसुखवर्धन की नीति संयमी के साथ किसी तरह का अन्धेर नहीं करती। सार्वकालिक और सार्वदेशिक दृष्टि से विश्वसुखवर्धन की नीति को कसौटी बनानेपर कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय होजाता है और इसीसे हमे अपने ध्येय का पता लगजाता है।

हमे इस संसार को अधिक से अधिक सुखी बनाना है। संसार में जो दुःख है, उन्हें जितना बनसके कम करना है। दुःख से डरकर दुनिया से भागना, महाप्रलय की आकांक्षा करना, शून्यरूप होने की कल्पना करना, या आत्महत्या करना निरर्थक और दुरर्थक है। यह विवेकहीन भावुकता का परिणाम है। सत् असत् होकर शून्य नहीं होसकता, महाप्रलय हमारे हाथ में नहीं है, आत्महत्या करके हम पुनर्जन्म के कारण दुःख से छूट नहीं सकते, परलोक मे सुख की आशा हो तो वह तभी सम्भव है जब हम इस संसार को सुखमय बनाने की कोशिश करें, मरने के बाद कोई ताकत लगाकर स्वर्ग-मोक्ष मे हम उछल नहीं सकवे, जो कुछ करना है इसी जीवन में करना है। इसी जीवन मे विश्वसुखवर्धन किया तो परलोक हो तो भी हमारा जीवन सफल है, न हो तो भी हमारा जीवन सफल है। इसलिये हर कार्य मे हर समय विश्वसुखवर्धन के ध्येय को सामने रखना चाहिये।

तीसरा अध्याय [चित्तक होपंगो]

मार्गदृष्टि [राहो लंको]

सुख दुःख विचार (शिम्मो दुक्खो लंको)

विश्वसुखवर्णन जीवन का ध्येय निम्नित होजानेपर उसकी राह का विचार करना पड़ता है। और इस विचार में कई बातें आती हैं। जैसे दुःख क्या है, दुनिया में कितने तरह के दुःख हैं, कितने दुःख दूर किये जा सकते हैं, कितने दुःख किसी सुखके लिये अनिवार्य हैं इसी प्रकार सुख कितने तरह के हैं, कितने सुख उपादेय हैं कितने सुख त्याग करने योग्य हैं, किस सुख और किस दुःख के बारेमें हमें किस नीतिसे काम लेना चाहिये। किसे कैसे छोड़ें और किसे कैसे प्राप्त करें, आदि। इस प्रकार इसे तीन तरह के विचार करता है, १-दुःख विचार, २-सुख विचार, ३-उपाय विचार।

१-दुःख विचार (दुक्खो इको)

दुःख एक प्रकार की वेदना है। जो अपने को अच्छी नहीं मालूम होती। दीर्घ विचार करनेपर भले ही उसकी अच्छी उपयोगिता हो पर भोगते समय परमा मालूम होता है कि यह न होती तो अच्छा होता, इसके बिना भी अगर काम चल जाता तो अच्छा होता अथवा जितनी जल्दी यह वेदना जाय उतना ही अच्छा। ऐसी वेदना को दुःख कहते हैं। संक्षेपमें प्रतिकूल वेदना को दुःख कहते हैं।

यद्यपि सभी दुःख मन के द्वारा होते हैं फिर भी कुछ दुःख ऐसे हैं जो सीधे मनपर असर पड़ने से होते हैं, और कुछ ऐसे हैं जो शारीरिक विचार से सम्बन्ध रखते हैं। यद्यपि सभी दुःखों का असर मन और शरीरपर पड़ता है, फिर भी किसीमें मन की प्रधानता है किसी में शरीर की।

मानसिक दुःखों में पहिले मनपर असर पड़ता है, पीछे शरीरपर पड़ता है। शारीरिक दुःखों में पहिले शरीरपर असर पड़ता है फिर मनपर। जैसे किसीने तमाचा मारा तो तमाचे का दुःख प्रभाव पहिले शरीर पर होगा पीछे मनपर, और किसीने गाली दी तो गाली का दुःख प्रभाव शरीरपर नहीं है मनपर है, पर मनपर प्रभाव होने से चिंता आदि के कारण शरीरपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। इसलिये किस दुःख को शारीरिक कहना और किस दुःखको मानसिक कहना इसका निर्णय करने के लिये यह देखना चाहिये कि किस दुःख का प्रथम और मुख्य प्रभाव शरीरपर पड़ता है और किसका प्रथम और मुख्य प्रभाव मनपर पड़ता है।

जो शारीरिक दुःख व्यक्ति विशेषमें शरीर की अपेक्षा मनपर ज्यादा प्रभाव डालते हैं वे भी शारीरिक दुःख हैं। जैसे किसी मनुष्य को तमाचा के दुःख की अपेक्षा अपमान का मानसिक दुःख अधिक मालूम होसकता है। फिर भी तमाचा मारना शारीरिक दुःख ही गिना जायगा। पर जहापर अपमान का दृष्टिकोण ही मुख्य होगा वहा वह मानसिक दुःख ही गिना जायगा। किसीको इस ढंग से जूटा-भारा जाय कि उसकी चोट नाममात्रकी हो। मुख्य ध्येय अपमान करना ही हो तो इसे मानसिक दुःखमें गिना जायगा। १। जहा शारीरिक दुःख मानसिक दुःख के लिये दिया गया हो वहा उसे मित्र दुःख कह सकते हैं क्योंकि इसमें दोनो दुःखों का मिश्रण हुआ है। फिर भी दुःख के मुख्यभेद दो ही हैं एक शारीरिक, दूसरा मानसिक। निम्नित

के भेद से शारीरिक और मानसिक दुःख अनेक तरह के हैं।

शारीरिक दुःख (मनपर दुःखो) — शारीरिक दुःख छः तरह के हैं। १-आघात-२-प्रतिविषय ३-अविषय, ४-रोग, ५-रोध, ६-अतिश्रम।

१-आघात [चोट] — अस्त्रशस्त्र या हाथ आदि से अथवा किसी और सूक्ष्म स्थूल वस्तु से शरीर को ऐसी चोट पहुँचाई जाय जिससे तन्मूलक हो उसे आघात दुःख कहते हैं।

२-प्रतिविषय (रोजूसो) इन्द्रियों के प्रतिकूल विषय से जो चोट पहुँचती है वह प्रतिविषय है। जैसे-दुर्गन्ध, कर्करस शब्द, भयंकर या श्रीभक्त हस्य, बहुत ठंडा या बहुत गरम स्पर्श, बुरा स्वाद आदि।

३-अविषय (नोजूसो) शरीर के या इन्द्रियों के योग्य विषय न मिलने से जो वेदना होती है वह अविषय दुःख है। जैसे भूल ग्यासका दुःख, किसी चीज के स्वाने का व्यसन हो और वह चीज न मिले तो उसका दुःख आदि।

४-रोग (रुगो) वात पित्त कफ की विषमता, आदि कांक्षुंसे शरीर में जो विकृति होती है उससे पैदा होनेवाला शारीरिक दुःख रोग दुःख है।

५-रोध (रुधो) शरीर के किसी अंग के, या किसी आवश्यक क्रिया के रूखाने में या रूँधजाने से जो दुःख होता है वह रोध दुःख है। जैसे बहुत समय तक एक ही जगह बैठता पड़े या किसी कर्म या मकानमें इस तरह रूखजाना पड़े कि शरीर के लिये आवश्यक हिलना डुलना फठित होजाय, तो उसमें होनेवाली तन्मूलक रोग दुःख कहलायगा।

६-अतिश्रम (मेजिहो) आधर श्रम करने से जो भकावट आदि की तन्मूलक रोगों है वह अतिश्रम दुःख है।

मौत पादि के दुःख दर्शा दुःखों में गिनाने हैं। मौत में जो शारीरिक वेदना होती है उसे

रोग या रोध है और विबुद्धने आदि की जो वेदना होती है वह मानसिक दुःख है। बुद्धिपा आदि का दुःख भी रोग, अतिश्रम आदि का दुःख है। बुद्धिपा से निर्बलता आजाने से अतिश्रम शीघ्र होने लगता है। इसप्रकार अन्यदुःखों का भी विरलेपण (रोधाको) कर लेना चाहिये।

मानसिक दुःख (मनपर दुःखो) भी छः तरहके हैं—१-इष्टाप्रामि, २-इष्टवियोग, ३-अनिष्टयोग, ४-लाभच, ५-त्र्यप्रता, ६-सहवेदन।

१-इष्टाप्रामि (इशानोत्तीतो) जो चीज हम चाहते हैं और जब वह नहीं मिलती तब एक तरह का मनमें दुःख होता है, उसे इष्टाप्रामि दुःख कहते हैं। ऐसी हालत में लोभ लालच वृष्णा या चाह की प्रेरणा से मनमें चिन्ता होती है जो काफ़ी दुःखमय होती है। शोक निराशा आदि दुःखमय अवस्थाएँ भी होती हैं। प्रधानतः चिन्ता की है।

२-इष्टवियोग [इशानुगो] तब जोई प्रिय वस्तु अपने पासमें दूर होजाती है, विरुद्ध जाती है, या नष्ट होजाती है तब उससे जो दुःख होता है वह इष्टवियोग दुःख है। प्रिय मरण, या उसका परदेगमन आदि इष्टवियोग दुःख है। धनसम्पत्ति का नष्ट होजाना भी इमीप्रकार का दुःख है। यह होमरना है कि चीज लहा की तब पड़ी रहे और इष्टवियोग होजाय। एक जमीन जिसे हम अपना समझने थे पर दूसरे ने लेली तो जमीन उदा। री तब पड़ी रहनेपर भी उसपर से हमारे मानिगे पचीजाने में उष्ट वियोग होजाय। वेर में रूपया उमा या और वेर का दिवाला निम्न उमा में रूपया मिलने में प्राप्ता न रही तो तब भी इष्टवियोग है। उष्ट वियोग में मुख्य रूप से ३ चीजें होती हैं, पीछे चिन्ता प्रेरणा आदि भावें होती हैं वे मर द मरण मरोउत हैं।

प्रथम—इष्टाप्रामि चीज इष्ट होने में न मिलने पर दूसरा तब पचीजाने में प्राप्ता न रही तो तब भी इष्टवियोग है। तृतीया में वेर में पचीजाने में प्राप्ता न रही तो तब भी इष्टवियोग है।

निर्दल या रगल होजाता है, थाल सफेद होजाते हैं इसलिये उन्हें शारीरिक दुःख क्यों न कहा जाय ?

उत्तर—इन्द्राग्नि और इष्टवियोग का पटिला प्रभाव मनपर पड़ता है, फिर दुःखी मन का प्रभाव तनपर पड़ता है इसलिये इसे मानसिक दुःख कहा जाता है। अगर इनका मनपर प्रभाव न पड़े तो तनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिये ये मानसिक दुःख ही है।

प्रश्न—इन्द्राग्नि और इष्टवियोग एक तरह के अविषय हैं और अविषय तो शारीरिक दुःख है, इसलिये उन्हें भी शारीरिक दुःख क्यों न कहा जाय ?

उत्तर—अविषय का जो परिभाषिक अर्थ यहां किया गया है उसका मतलब है शरीर और इन्द्रियों के विषयों का न मिलना। मानसिक अविषय इन्द्राग्नि और इष्टवियोग, जिसे सम्मिलित रूप में इष्टायोग (इश नोयुगो) कहना चाहिये, शरीर से कहा गया है। इस मानसिक अविषय से वह शारीरिक अविषय भिन्न है जो अविषय शब्द से कहा गया है। अविषय का सीधा प्रभाव शरीरपर पड़ता है, उससे शरीर नीख होने लगता है, अशक्त भी होजाता है, अन्त में प्राणी मर भी जाता है। इष्टाग्नि और इष्टवियोग इस तरह शरीरपर कोई प्रभाव नहीं डालते। भोजन न मिलने से पानी न मिलने से शरीर की जो हालत होना अनिवार्य है उस तरह मन्तान के मरने से या न होने से अनिवार्य नहीं है। मन को अगर बश में कर लिया जाय तो शरीरपर प्रत्यक्ष रूप में भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ेगा। पर मन को बश में कर लेनेपर भी भूल एकाक्ष से शरीरपर प्रसर होगा ही। मन को बश में करने के लिए विना आशेषिचे जिन्ना नहीं रह सकता। शारीरिक घटना उसे होती है, भूल ही है या उसकी परवाह न करे। इसलिये अविषय को शारीरिक प्रसर और इष्टाग्नि इष्टवियोग को मानसिक प्रसर कहा गया।

२-अविषय (नोइश युगो)- अविष्ट

वस्तु के सम्पर्क या कल्पना से जो मानसिक दुःख होता है वह अनिष्टयोग दुःख है। जैसे शत्रु का दर्शन आदि। वद्यपि शारीरिक अनिष्टयोग भी होता है परन्तु वह प्रतिविषय, आघात आदि में शामिल है। यहां तो ऐसे अनिष्ट योग से मतलब है जो प्रत्यक्ष रूप में शरीर को चोट नहीं पहुँचाता सिर्फ मनपर चोट पहुँचाता है। पीछे मले ही मन की विकृति के कारण तनपर विकृति होजाय। अगरब जन को देखकर हमारे शरीरपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, परस्पर किरखो की तरह वह आत्मा को चूमता भी नहीं है, न अन्य इन्द्रियों का प्रतिविषय होता है फिर भी जो हम दुःख होता है उसका कारण मन की कल्पना है, इसलिये वह मानसिक दुःख कहलाया। इससे क्रोध शोक भय घृणा ईर्ष्या चिन्ता आदि मनोवृत्तियाँ पैदा होती हैं, खेद और पश्चात्ताप भी एक तरह के शोक है, उपेक्षा भी राग, हल्की घृणा का रूप लेती है। ये सब मनोवृत्तियाँ दुःखात्मक हैं। इसलिये अनिष्टयोग दुःख है।

४-लाघव (रिक्को) अपयश निन्दा तिरस्कार उपेक्षा अपमान आदि से या छोटा कहलाने से जो दुःख होता है उसे लाघव कहते हैं। अपनी महत्वाकांक्षा पूर्ण न होनेपर भी वह दुःख होता है। इससे अहंकार चिन्ता शोक भय दीनता घृणा ईर्ष्या आदि मनोवृत्तियाँ पैदा होती हैं। अपयश आदि से शरीर को चोट नहीं पहुँचती, अस्मिमान या आत्मनैरव को चोट पहुँचती है इसलिये यह मानसिक दुःख है। अनिष्टयोग तो किसी घटना से सम्बन्ध रखता है और उसमें किसी से तुलना नहीं होती। लाघव दुःख अनिष्ट योग न होनेपर भी सिर्फ इम कल्पना से कि मैं छोटा हूँ या छोटा समझाया हूँ, होने लगता है। जीवन की प्रायः सारी आवश्यकताएँ पूर्ण होनेपर भी अनुचित महत्वाकांक्षा से, या दूसरों के दुर्बलबहार में यह दुःख होजाता है।

५-व्यग्रता (फुहिजो) व्यग्रता का अर्थ है हड़बड़ाना। चिन्ताओं के शोक से मनुष्य हड़बड़ाना है व्याकुल होता है यही व्यग्रता है। जैसे

किसी के यहां शारीरिक आदि का महोत्सव हो, काम करनेवाले काफी हों, कोई विशेष शारीरिक कष्ट न हो फिर भी 'कैसे क्या कराया जाय, क्या होगा' आदि चिन्ताओं के बोम से वह परेशानी का अनुभव करने लगता है। यह चिन्ताओं का बोम शारीरिक कष्ट नहीं है। इससे शारीरिक दुःखमें शामिल नहीं कर सकते, शारीरिक प्रसंग और आदमी अतिशय भी नहीं हैं कि उन्हें अतिशय-योग कहा जाय, न इष्टवस्तु के खिलनेका कष्ट है कि इष्टविषयों का ज्ञान और न अपमान या गीनता का दुःख है जिससे लाभ कहा जाय, इसलिये व्यग्रता एक अलग ही दुःख है। यह एक तरह की मानसिक निर्बलता का परिणाम है। मानसिक शक्ति जितनी कम होगी व्यग्रता उतनी अधिक समझी जायगी। व्यग्रतासे क्रोध भुंभला-हट चिन्ता आदि भाव पैदा होते हैं। अभ्यास न होने से या मन निर्बल होने से व्यग्रता का कष्ट बढ़ता है।

६-सहवेदन (सेतु) प्रेम-भक्ति मैत्री वात्सल्य कदम्बा के वश होकर दूसरों के दुःख में दुःखी होना सहवेदन दुःख है। कभी कभी सहवेदन दुःख अपने किसी स्वार्थ के कारण अन्य दुःखों में भी परिणत हो जाता है। जैसे अपने नौकर को चोट लग गई और इससे अपने को दुःख हुआ। यह दुःख सहवेदन भी हो सकता है, और नौकर दोषार विन कास न कर सकेगा इस भाव से अतिशय योग भी हो सकता है। जहां जितने अंश में शुद्ध प्रेम के वश में होकर दूसरों के दुःख में हम दुःखी होते हैं वहां उतने अंश में सहवेदन दुःख होता है। लोकसेवी महात्माओं को, सद्य दुःख झूटजानेपर भी, यह दुःख बना रहता है। यह दुःख जगत के दुःख दूर करने में सहायक होने से आवश्यक दुःख है। यह दुःख रौद्रानन्द का विरोधी और प्रेमानन्द का सहयोगी है।

इस प्रकार छः प्रकार के शारीरिक और छः प्रकार के मानसिक कुन बारह तरहके दुःख हुए।

सुख विचार (शिमो ईको)

जो संवेदन अपने को अच्छा लगे वह सुख है अर्थात् अनुकूल या इष्ट संवेदन का नाम सुख है। सुख और दुःख किसी क्रिया का नाम नहीं है। जो क्रिया आज सुख देती है वही कल दुःख दे सकती है। गरमी की रात्रिमें वस्त्रहीनता सुखद हो सकती है और ठंड की रात्रि में दुःखद। कभी हाथ धुाना सुखद हो सकता है और कभी दुःखद। इसलिये सुखदुःख-संवेदनपर ही निर्भर है किसी क्रियापर नहीं।

सुख आठ तरह के हैं—१-ज्ञानानन्द, २-प्रेमानन्द, ३-जीवनानन्द, ४-विनोदानन्द, ५-स्वतन्त्रतानन्द, ६-विषयानन्द, ७-महत्त्वानन्द, ८-रौद्रानन्द।

१-ज्ञानानन्द—(जानोशिमो) जीव ज्ञानमय है, और यह ज्ञान जीविका प्रमुख आनन्द है। जहां कोई स्वार्थ नहीं होता वहां सिर्फ जानकारी से प्राणी इतना आनन्दित होता है जिसका कुछ ठिकाना नहीं है। आकाश के तारों का या ब्रह्मांड की रचना का रहस्य जब मनुष्य को मालूम होता है तब उससे किसी लाभ की आकांक्षा न होनेपर भी मनुष्य एक उत्कृष्ट अंश के आनन्द का अनुभव करता है। ज्ञान ही नहीं, रास्ता चलते जब कोई नई सी घटना होते वह देखता है तब वह उसे जानने के कुतूहल को शमन नहीं कर पाता। जानकारी के लिये वह काफी धन और समय खर्च कर देता है। ऐसा मालूम होता है कि जानकारी प्राणी की सध से अच्छी और आवश्यक सुराह है। यही कारण है कि जीवनमें अनेक कष्ट होनेपर भी मनुष्य जानकारी के आनन्द के लिये जीवित रहना चाहता है। इसलिये कहना चाहिये कि यह सध से महत्वपूर्ण आनन्द है।

२-प्रेमानन्द (लवोशिमो) प्रेम का आनन्द भी एक स्वाभाविक आनन्द है। हृदयमें हृदय मिलने को व्याकुल होता है। दो प्रेमी जब आपसमें मिलते हैं तब वे आपसमें कुछ दे या न दे

फिर भी पूर्ण आनन्द पाते हैं। गाय बड़ड़े से या मां बेटे से कुछ पाने की इच्छा से सुखी नहीं होती किन्तु प्रेम से सुखी होती है। प्रेम जितना मेलता जाता है सुख उतना ही निर्दोष और स्थायी होता जाता है। जो विश्वप्रेमी है वह प्रेमानन्द की राकाप्रापर पहुँचा हुआ है। वह पूर्ण वीतराग, राग अकपाय, पूर्ण योगी और पूर्ण सुखी है। मानन्द अधिक से अधिक निर्दोष, और अधिक से अधिक स्थायी, तथा दूसरों के लिये भी सुख-रूपक है। संयम आदि सद्वृत्तियों भी इसी के कारण पैदा होती हैं।

३—जीवनानन्द [जिनो शिम्भो]—जीवन के लिये उपयोगी पदार्थों के मिल जाने से जो आनन्द होता है वह जीवनानन्द है। जैसे, रोटी मिलने, पानी मिलने, हवा मिलने आदि का आनन्द।

४—विनोदानन्द (दशो शिम्भो) खेल कूद हँसी आदि का आनन्द विनोदानन्द है। वद्यपि विनोदानन्द कभी प्रेमानन्द, कभी विषयानन्द कभी महत्त्वानन्द घनज्ञाना है परन्तु कभी कभी मनुष्य अकेलेमें भी खेलता है, कोई स्वार्थ न होने पर भी, महत्व का विचार न होनेपर भी प्राणी को खेलने में आनन्द आता है। इसलिये स्पष्टता के लिये इसे एक अलग आनन्द ही समझना चाहिये। छोटे बच्चोंमें लेकर बूढ़ों तक को इस आनन्द की चाह रहती है। यह ठीक है कि उम्र के अनुसार इसमें न्यूनधिकता होती है, और विनोद के रूप भी बदलते हैं।

५—स्वतंत्रतानन्द [मुक्तो शिम्भो]—। दृग्म सचेदनमय धन्यन से जूटता स्वतंत्रतानन्द है। स्वतंत्रता से दूसरा सुख मिले तो वह सुख अलग होगा, परन्तु वह मिले या न मिले, या दृग्म ही मिले, पर मनुष्य अपने को स्वतंत्र अनुभव करे इसमें भी एक तरह का आनन्द है। यथाशक्त्य अपनी इच्छा के अनुसार काम करने में एक विनोद आनन्द आता है। कैसी जग जेल में छूटते हैं वह इसी आनन्द का अनुभव करते हैं।

६—विषयानन्द [जूशो शिम्भो] इन्द्रियों के विषय मिलने से जो आनन्द होता है वह विषयानन्द है। स्वादिष्ट भोजन, संगीत, सौन्दर्य, सुगंध, अच्छा स्पर्श आदि के आनन्द को विषयानन्द कहते हैं।

प्रश्न—जीवनानन्द भी खाने-पीने का आनन्द है और विषयानन्द भी खाने-पीने का आनन्द है। तब दोनोंमें अन्तर क्या है ?

उत्तर—जीवनानन्द में इन्द्रियों के मनोह विषयों के सेवन की मुख्यता नहीं है। पेट भरना एक बात है और स्वाद लेना दूसरी। अगर आवश्यक तत्वा से पूर्ण भरपेट भोजन मिलजाय तो रुखे-सूखे भोजन से भी जीवनानन्द मिल सकेगा, पर विषयानन्द न मिलेगा। अगर स्वादिष्ट भोजन मिलजाय तो खालीपेट रहनेपर भी विषयानन्द मिलजायगा पर जीवनानन्द न मिलेगा। शराबी जीवनानन्द नहीं पाता, पर विषयानन्द पाजाता है। विषयानन्द अन्त में प्रायः दुःख बढ़ाता है पर जीवनानन्द प्रायः ऐसा नहीं होता। वद्यपि किसी एक क्रिया से जीवनानन्द और विषयानन्द दोनों ही मिल सकते हैं फिर भी कभी कभी विषयानन्द के चक्कर में पड़कर उसकी अतिमात्रा या दुर्मात्रा से मनुष्य जीवनानन्द को खोता है इसलिये कभी कभी दोनों आनन्दों में विरोध पैदा होता है।

७—महत्त्वानन्द (वीशो शिम्भो) मान-प्रतिष्ठा यश आदि का आनन्द महत्त्वानन्द है। दूसरों से तुलना करनेपर जो अपने महत्त्व का अनुभव होता है वह भी महत्त्वानन्द है। महत्त्वकांक्षा एक प्रवल आकांक्षा है जो थोड़ेबहुत रूप में सब में पाई जाती है। निराशा या दीनता के कारण कभी सोजावी है, गम्भीरता के कारण कभी कभी बाहर प्रगट नहीं होती, मात्रा से अधिक महत्त्व मिलजाने से या मिलते रहने से उसपर उपेक्षा अर्थात् लापरवाही पैदा होजाती है, अथवा संयम के कारण मर्यादित रहती है, या चतुरता के कारण मर्यादित रूप में प्रगट होती है, यह मय है। पर वह किसी न किसी रूप में सब में

रहती है निर्बीज नहीं होती। उसकी पूर्ति से एक अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। बहुत से लोग इस आनन्द के जिये सारी धनसम्पत्ति अधिकार तथा सर्वस्व देहालते हैं, तथा मरने के बाद नाम के साथ महत्व लगा रहे इसलिये जीवन तक देहालते हैं। इसलिये कहना चाहिये कि सबसे अधिक कीमती सुख यह महत्त्वानन्द है।

८ रौद्रानन्द (विद्वे शिम्भो)—रौद्रानन्द में एक तरह की क्रूरता है इसलिये इसे क्लृप्तानन्द या पापानन्द कहना चाहिये। दूसरो को निरपराध दुःखी होते देखकर सुखी होना रौद्रानन्द है। जानबरो को लड़ाना और एक के या गोनो के घायल होने या मर जानेपर सुखी होना भी रौद्रानन्द है।

प्रश्न—समाज को सतानेवाले किसी आनताभी मनुष्य या पशु को दण्ड दिया जाय और दण्ड देसकने से एक तरह का सन्तोष हो, जैसे पापी रावण के मारे जानेपर जनता को हुआ, तो क्या इसे पापानन्द कहा जायगा ? बुरा कहा जायगा ? पर इसके बिना अन्याय-अत्याचार का नाश कैसे होगा ?

उत्तर—निरपराधों को दुःखी देखकर जो आनन्द होता है वह रौद्रानन्द है, सापराधों को दुःखी देखकर होनेवाला आनन्द रौद्रानन्द नहीं है। सापराधों को दुःखी देखने में सामाजिक व्यवस्था तथा न्यायचक्रण का सन्तोष है, सब के हित की भावना है इसलिये इसे प्रेमानन्द कह सकते हैं। फिर भी इसका विचार मन की भावनापर निर्भर है। एक आदमी को अपराध के प्रतीकार, या न्यायचक्रण का विचार नहीं है सिर्फ अपराधी की तड़पन देने के ही आनन्द है, उसकी निरपराधता सापराधता से भी उसे कोई मतलब नहीं है, तो वह अपराधी के दुःख में सुखी होनेपर रौद्रानन्दी कहलायगा।

उपाय विचार (रहो डंको)

दुःखों को दूर करने और सुखों को पाने का उपाय सोचना उपाय विचार है। इस प्रकार सारा सत्यामृत उपाय विचार ही है जो कि हम

नकरण में नहीं आसकता, इसलिये यहाँ तो उपाय विचार की कुछ दृष्टि दी जाती है। यह विवेचन भूमिका का काम करेगा।

यद्यपि दुःख दुरी चीज है और सुख भली, परन्तु इसका विचार आगे-पीछे का, निजपर का टोटल मिलानेपर ही किया जासकता है। इस दृष्टि से न तो सब दुःख बुरे कहे जासकते हैं न सब सुख अच्छे। जो दुःख अधिक सुख पैदा करें वे अच्छे कहे जायेंगे। जो सुख अधिक दुःख पैदा करे वे बुरे कहे जायेंगे। इसप्रकार दुःख-सुख की तीन-तीन श्रेणियाँ होंगी।

दुःख— सुख

१—सुखबीज दुःख सुखबीज सुख

२—अबीज दुःख अबीज सुख

३—दुःख बीजदुःख दुःखबीज सुख

जो दुःख सुख पैदा करता है और दुःखसे अधिक सुख पैदा करता है वह सुखबीज दुःख है, और अच्छा है। अच्छा होने का कारण इसे सद्दुःख (सुदुःखो) कहना चाहिये। जैसे सह-वेदन दुःख जगत्कल्याण को पैदा करनेवाला है इसलिये सद्दुःख है। संयम सुतप आदि के दुःख भी इसी श्रेणी के हैं।

जो दुःख भविष्य में न सुख बढ़ाने वाला हो न दुःख घटानेवाला। भोगने के बाद जिसकी समाप्ति होजायगी, उसे दुःख को अबीज दुःख या फलदुःख (फलदुःखो) कहना चाहिये। सहवेदन दुःख को ह्योदक साधारणतः सभी दुःख फलदुःख कहे जायेंगे हैं या बनावे जाय-कते हैं।

दुःखबीज दुःख उसे कहते हैं जो वर्तमान में तो दुःखरूप है ही और भविष्य में भी दुःख बढ़ानेवाला है, या दूसरे को दुःख देनेवाला है। साधारणतः सहवेदन को छोड़कर अन्य कोई भी दुःख इस श्रेणी का बनाया जाता है। यह सब में बुरा दुःख है इसलिये इसे ददुःख (ददुःखो) कहना चाहिये।

जो सब भविष्य में भी सुख देनेवाला, वह मूल बीजमन्त्र है। प्रेमानन्द इसी प्रकार

सुख है। रौद्रानन्द को छोड़कर और सुखों को भी इस तरह का बनाया जासकता है। वह सब से अच्छा सुख है इसलिये इसे सम्मुख या सुमुख (सुशिमो) कहना चाहिये।

जो सुख भविष्य में न सुख पैदा करनेवाला है न दुःख पैदा करनेवाला है, वर्तमान भोग के बाद वह निर्वाण होकर समाप्त होजायगा उसे अभीज सुख या फलसुख (फावसुखो) कहना चाहिये। ज्ञानानन्द विषयानन्द आदि अधिकतर इस श्रेणी के सुख कहेजाते हैं। कभी कभी अन्य सुख भी इस श्रेणी के सुख बतजाते हैं।

जो सुख अधिक दुःख पैदा करनेवाला है वह दुःखबीज सुख है। यह बुरा है इसलिये इसे दुःमुख (रुरिमो) कहना चाहिये। विवेक और मर्यादा का ज्ञान न होनेपर कोई भी सुख दुःमुख बनाया जासकता है। रौद्रानन्द इसी श्रेणी का सुख है। इससे सदा बचना चाहिये।

उपाय विचार में दुःखसुख की इन श्रेणियों को ध्यान में रखना चाहिये। तभी विश्वसुख-वर्धन की दृष्टि से इनका ठीक विचार किया जासकेगा।

हमें दुःखबीज दुःख और अभीज दुःख दूर करना है और और सुखबीज सुख और अभीज सुख पाना है इसलिये इन्हीं दोनों बातों का यथा विचार किया जाता है।

तीन द्वार—जो दुःख हमें दूर करना है उन दुःखों के आने के तीन द्वार हैं—१-प्रकृतिद्वार, २-परात्मद्वार, ३-स्वात्मद्वार। प्रकृतिद्वार से आने वाले दुःख को प्राकृतिक दुःख कहना चाहिये। परात्मद्वार से आनेवाले दुःख को परात्मकृत कहना चाहिये, और अपने भीतर से पैदा होने वाले दुःख को स्वात्मकृत कहना चाहिये।

१-प्राकृतिक (शौरभ्यजेर) यद्यपि संसार में प्रकृति ने दुःख की अपेक्षा सुख अधिक भर रक्खा है, फिर भी दुःख का पूरा तरह अभाव वह कर नहीं सकी है। ज्ञानानन्द जीवनानन्द विषयानन्द की सामग्री उमने काफ़ी भर रक्खी

है फिर भी इसमें कुछ कमी भी है। इसमें कुछ तो अनिवार्य है और कुछ मनुष्य के द्वारा दूर करने के लिये छूटी हुई है। प्रकृति तो नियमानुसार काम करती है, इच्छानुसार नहीं। प्रकृति में इच्छा है ही नहीं कि वह इच्छानुसार कार्य कर सके। इसलिये कुछ न कुछ प्राकृतिक दुःख मनुष्य के पीछे पड़े ही रहते हैं। मरण आदि के दुःख तो अनिवार्य हैं और जन्म विकास आदि की दृष्टि से आवश्यक भी है, अधिक गर्मी भी वर्षा के लिये जरूरी होती है इसलिये उसकी भी उपयोगिता है फिर भी प्रकृति के द्वारा दिये गये कुछ कष्ट ऐसे हैं जिनकी जरूरत नहीं है। भूकम्प, अतिवर्षा, अतिशीत अत्युष्णता आदि अनेक कष्ट इसी तरह के हैं।

२-परात्मकृत या परकृत (कुमजेर)—दूसरे प्राणियों से भी बहुत से दुःख मिलते हैं। हीन और निर्बल जाति के प्राणियों के आधारपर उच्च और सबल जातिके प्राणियों का जीवन टिका हुआ है इसलिये कुछ परकृत दुःख तो अनिवार्य हैं पर बहुत से परकृत दुःख प्राणियों की स्वास्कर मनुष्य की स्वार्थपरता के कारण हैं। चोरी व्यभिचार परिग्रह विश्वासघात कृतघ्नता, आदि के परकृत दुःख ऐसे हैं जिन्हें अनिवार्य नहीं कहा जासकता। मनुष्य सरीखे एक जातिके प्राणी में जो परस्पर दुःखदान होता है वह अचूतन्तव्य है।

३-स्वात्मकृत या स्वकृत (एमजेर) दुःख हैं अपने मनोविकारों या मूर्खता आदि से पैदा होनेवाले दुःख। प्रकृति के द्वारा या दूसरों के द्वारा दुःख का उचित और परोक्ष कारण न होने पर भी प्राणी अपनी लाजसा लुप्ता ईर्ष्या धर्मद्वेष छल धृष्ट आदि वृत्तियों के कारण काफी दुःखी होता है। इन दुःखों की जिम्मेदारी न प्रकृतिपर है न किसी दूसरेपर, किन्तु अपने पर है। ये मयूत दुःख जीवन के कलक हैं। कोई आदमी सेवा आदि से महान होगया और उसकी महत्ता से अगर हमारा दिल जलता है, तो इसमें हमारा ही अपराध है। सीता के सौन्दर्य से रावण की लाजसा तीव्र हुई तो हममें दूसरा

कोई अपराधी नहीं था रावण ही अपराधी था। सीतापर इस दुःख की जिम्मेदारी नहीं थी किन्तु रावणपर थी।

इस प्रकार बारह प्रकार के दुःख प्राकृतिक, परकृत, स्वकृत के भेद से छत्तीस तरह के हुए।

और ये छत्तीस दुःख सदुःख भी होते हैं अवीज दुःख भी होते हैं और दुर्दुःख भी होते हैं इस प्रकार कुल एकसौ आठ तरह के दुःख हुए। दुःखों के इन भेदों को ठीक तौर से ध्यानमें रखने के लिये निम्नलिखित नक्शा (फूचिल्लु) उप-योगी होगा।

आघात	प्रति-विषय	अविषय	रोग	रोष	अति-श्रम	इष्टा-प्रति	इष्ट-विषय	अनिष्ट-योग	लाभ	व्यग्रता	सहवेदन
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
प्राकृतिक			परकृत			स्वकृत					
०			१२			२४					
सदुःख			अवीजदुःख			दुर्दुःख					
०			३६			७२					

एक सौ आठ भेद इसप्रकार वनगे। १-सदुःखसमय प्राकृतिक आघात, २-सदुःखसमय प्राकृतिक प्रतिविषय ३-सदुःखसमय प्राकृतिक अविषय। इसप्रकार बारहका सदुःखसमय प्राकृतिक सहवेदन। १३-सदुःखसमय परकृत आघात, १४-सदुःखसमय परकृत प्रतिविषय आदि २४ वा सदुःखसमय परकृत सहवेदन। ३६ वा सदुःखसमय स्वकृत सहवेदन। इसीप्रकार छत्तीस अवीज दुःखसमय के, छत्तीस दुर्दुःखसमयके, नक्शेपरसे समझनेसे बहुत सुभीता है। जिस नम्बर का भेद हमें निकालना हो वह नम्बर तीनों पंक्तियों की एक एक संख्या जोड़कर निकालना चाहिये। जिन संख्याओं के जोड़ से वह नम्बर निकले उन संख्याओंवाले दुःखों को मिलाने से इच्छित दुःखभेद निकल आवेगा। जैसे हमें १० वा दुःखभेद निकालना है, तो अवीजदुःखके खाने में लिखा गया ३६, परकृत के खाने में लिखा गया १२, और प्रतिविषय के खाने में लिखा गया २, कुछ मिलाकर

४० हुए, इसलिये पचासवां भेद कहलाया 'अवीज दुःखसमय परकृत प्रतिविषय'। इस प्रकार कोई भी भेद निकाला जासकता है और भेद के तीनों अंकों को जोड़ने से दुःखों का नम्बर जाना सकता है। जैसे 'दुर्दुःखसमय स्वकृत आघात' नाम का भेद ६७ वा भेद कहलाया। दुर्दुःख के ७२ स्वकृत के २४, आघात का १, तीनों अंकों को जोड़ने से ६७ हुए।

इन १०८ तरह के दुःखों में प्रारम्भके ३६ तरह के सदुःख छोड़ने योग्य नहीं हैं वे विश्व-सुखवर्धन की दृष्टि से आवश्यक होने के कारण स्वागत योग्य हैं। हां। विश्ववधन में बाधा न पड़े और ये दुःख भी कुछ मात्रा में कम होजायें ऐसा उपाय अवश्य करना चाहिये। बाकी अवीज दुःखसमय के छत्तीस भेद और दुर्दुःखसमय के छत्तीस भेद इस प्रकार ये ७२ तरह के दुःख दूर करने योग्य हैं इनका उपाय करना चाहिये।

दुःख दूर करने के उपाय छ. तरह के हैं—

१ प्रतिगंध, २-दूरीकरण [हटना] ३. चिकित्सा
४ सहिष्णुता, ५ प्रेम, ६ दंड ।

१-प्रतिगंध [गंध] आघात आदि को रोकलेना, उसे होने न देना या होनेपर भी उसका असर अपने ऊपर न होने देना । प्रतिगंध है । जैसे झूठे से बर्षा की घूँटें रोकते हैं, ठाकुर तलवार की चोट रोकते हैं, भक्तान के द्वारा बर्षा रूप टंड रोकते हैं, किवाड़ के द्वारा चोर आदि को रोकते हैं व मय रोध हैं ।

२-दूरीकरण-हटना [हटने] जहाँ रोव करने की शक्ति न हो वहाँ उससे बचने के लिये हटजाना किनारा काटजाना, आदि दूरीकरण है । जैसे भूकम्प को रोक नहीं सकते तो वहाँ से हटजाना पड़ता है, बाढ़ पीड़ित स्थान से भी हटजाना पड़ता है, जहाँ प्लेग आदि को रोक नहीं पाते, वहाँ भी हट जाना पड़ता है ।

प्रश्न—पर क्या तो एक तरह की कायचना रहलाई । क्या कायचना भी कल्याण का उपाय होसकती है ?

उत्तर—गर्भमें अंग पड़ाई आजाय तो उसे उल्टाई फेंकने के लिये सिर फोड़ते रहने का नाम वहादुरी नहीं है, वहादुरी है उसका डर से या शय्य शय्य से निकलजाना । आग लग गई हो तो उसे बुझा डालना चाहिये, पर जहाँ दुमांचा सम्भव न हो; वहाँ आग से बच निकलने की कोशिश न करना, उर्मा में जल मगना वहादुरी नहीं है । वहादुरी विश्वसुखवर्णन में है, मूढतापूर्ण हठ में नहीं । हा । विश्वसुखवर्णन के लिये हमी उलना आवश्यक हो, एकगान आवश्यक हो वहा ऐमा करनेमें वहादुरी कहलायगी पर नैरर्थक नष्ट होजाने में वहादुरी नहीं है । विश्व-एककी कार्य मार्ग से भागने का नाम कायना है, पर कर्म मार्ग में आये हुए कटां से बने या नाम कायना नहीं है ।

३-चिकित्सा (चिके) दुःख को जय रोना तामरे उमयें बचा न आकर वर था ही जाय । उमे हटानेके लिये कोशिश करना चिकित्सा । यीमा गिनेश उदात्त कगना, योगी होजाने

पर चोरी का मात्र दूधना आदि चिकित्सा है ।

४-सहिष्णुता (भीरो) जब दुःख रोका न जासके, उससे बचा न जासके उसे हटाया न जासके तब उसे धीरज से सहन करना सहिष्णुता है । सहिष्णुता से दुःख का संबन्ध कम होता है, चिकित्सा आदि में भी सुविधा होती है, इमप्रकार दुःखपर यथाशक्य विजय मिल जाती है ।

प्रश्न—जब दुःख सिरपर आपड़ला है तब हर एक प्राणी सहता ही है, इसप्रकार सहिष्णुता जब अनिवार्य रूप में होती ही है तब उसको उपाय रूपमें अंगण वल्लाने का क्या अर्थ ?

उत्तर—किसी न किसी तरह भोग लेने का नाम सहिष्णुता नहीं है, किन्तु यथाशक्य विचलित हुए बिना सहने का नाम सहिष्णुता है । चीन बनकर रोरोकर जो सहताहता है वह तो भोगलेना (भीरो) है सहना (भीरो) नहीं । भोगना रोरोकर हावा है, सहना है सहसकर होता है । दुःख में जो जितना चीर, अविचलित और अविहृत है वह उतना ही सहिष्णु है ।

ये चार प्रकार के उपाय तो सब तरह के दुःखों के लिये उपयोगी हैं पर प्रेम और बल प्राकृतिक दुःखों में उपयोगी नहीं हैं । प्राकृतिक दुःख किसी व्यक्ति को इच्छा से नहीं आते जिसमें प्रेम या बल का उसपर प्रभाव पड़े और वह अपनी इच्छा से उन दुःखों में होने मुक्त करदे । जो लोग प्राकृतिक कष्टों से बचने के लिये भक्ति पूजा करते हैं प्रकृति को भेंट चढ़ते हैं, पानी धुमाने के लिये भजनपूजा होम आदि करते हैं वे भी भोलेपन का परिचय देते हैं जिसे मूढ़ना कहा जाता चाहिये । प्रेम (भक्ति भैरी वात्सल्य) और बल का प्रभाव समझदार शक्तियों ही पड़ता है, प्रकृतिपर नहीं ।

५-प्रेम । लगे)—दूसरे प्राणियों के द्वारा हमें जो दुःख सहना पड़ते हैं उनमें उन प्राणियों का स्वाद और अच्छाकार कार्य होता है । प्रेम के द्वारा उनही इन दोनों प्रकृतिदोषों का भी अङ्ग लगजाना है और वे भी भक्ति होजाती हैं । प्रेम

‘प्रहंकार को घेसकता है, स्वार्थ की वासना को कम कर सकता है। प्रेम के बिना बात बात में संशय, खेद, अपमान, श्रादि मालूम होने लगते हैं, और प्रेम होनेपर घुराई भी उपेक्षणीय होजाती है, यहा तक कि बात बात में भलाई दिखाने लगती है। मनुष्यों की तो बात ही क्या है हमारी प्रेममुद्रा या अन्य व्यवहार से जब पशुओं को प्रेम का पता लगजाता है तब वे भी मित्र बन जाते हैं। प्राणिमात्र के कल्याण के लिये यह सर्वश्रेष्ठ और है। हमें दूसरों के दिल को प्रेम से (भक्ति मैत्री वात्सल्य करुणा आदि सब प्रेम हैं और सेवा उपकार दान जमा सहानुभूति आदि उनके कार्य हैं) जीतना चाहिये। इससे परंप्राणिकृत दुःख प्राय निर्मूल होजायेंगे। जो विश्वप्रेमी हैं उनके शत्रु अपेक्षाकृत कम होते हैं और एक तरह से वह तो किसी या शत्रु होता नहीं, ये सब शत्रु दुःख दूर करने, उमे रोकने, या निर्मूल करने में सहायक होती हैं।

पञ्च—विश्वप्रेम की क्या जरूरत है, हम राष्ट्रप्रेमी या समाजप्रेमी क्यों तो काफी हैं और बड़ी सम्भव है। कीट-पतंगों तथा अन्य जुट प्राणियों में हम प्रेम कहा तक कर सकते हैं और करें तो कैसे जिन्दे रह सकते हैं। इसलिये प्रेम तो उन्हीं से करना चाहिये जिनसे मतलब हो।

उत्तर—श्रापि इस प्रकार में कीट-पतंगों से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि दुःखनिरोधोपाय के रूप में प्रेम का उपयोग नहीं होसकता है जहा प्राणी हमारे प्रेमभावों को समझ सके। कीट-पतंग मनुष्य के प्रेमभावों को समझकर तन्नुसार व्यवहार नहीं कर सकते। बिच्छू से तुम प्रेम करो इसलिये डंक नहीं मारेगा ऐसी बात नहीं होती कि भी प्रेम को संकुचित बनाना ठीक नहीं। विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से प्रेम के क्षेत्र को विस्तृत से विस्तृत बनाना चाहिये। यहा निम्न सूचनाएँ उपयोगी हैं।

१-राष्ट्रप्रेम तक विश्वप्रेम को सीमित रखने का परिणाम विश्वव्यापी महायुद्ध, अन्तर्ग-

घ्रीय शोषण, साम्राज्यवाद आदि होता है, ये सब कार्य इतने भयंकर हैं कि एक दिन सारी मनुष्यजाति को नष्ट कर सकते हैं और इनने भयंकर संहार किया भी है। जिस सामग्री से स्वर्ग बनाया जासकता था उससे नरक बनाने में इस राष्ट्रीयता का भी काफी हाथ है।

२-राष्ट्र से भी जुड़ सामाजिकता और जातीयता तो किसी भी देश की जनता को हवान बनावेती है, इससे वह राष्ट्र न संगठित होपाता है, न सहयोग से काम लेसकता है, निर्बल होकर दूसरों का गुलाम बनता है इससे एक तरफ हैवानियत बढ़ती है दूसरी तरफ शैतानियत बढ़ती है। इसप्रकार दुःखों की काफी वृद्धि होती है।

३-कब किस मौकेपर मनुष्य को किससे मतलब निकल आता है इसका कुछ ठिकाना नहीं, इसलिये पहिले से मतलब की बात करना ठीक नहीं। मनुष्यमात्र से तो हमारा मतलब हो ही सकता है पर कभी कभी दूसरे प्राणी से भी मतलब निकल सकता है। इसलिये मतलब के नामपर मन को संकुचित नहीं बनाया जासकता।

४ मनुष्यमात्र में प्रेम को सीमित रखना भी ठीक नहीं क्योंकि मनुष्य से भिन्न प्राणियों से भी, मनुष्य के बराबर न सही किन्तु काफी मात्रा में चैतन्य रहता है। बल्कि बहुत से प्राणियों में समझदारी ज्ञानप्राप्ति, बफादारी, कृतज्ञता, प्रेम आदि गुण पाये जाते हैं, इन गुणों के कारण उन प्राणियों से एक तरह की सामाजिकता पैदा होजाती है। ऐसी हालत में उनसे प्रेम न करना; उन पशुओं से भी न को नीचा बनालेना है प्रेम कृतज्ञता आदि मनुष्योचित गुणों को नष्ट कर देना है, हां। यह अलग बात है कि कोई पशु मनुष्य जीवन में बाधा डाले, या जीवन के लिये दुःख और पशु दो में से किसी एक को ही जिन्दा रखने की परिस्थिति पैदा होजाय, तो हमें को बचाना पड़ेगा क्योंकि विश्वसुखवर्धन सम्भव है। फिर भी जिसमें जितनी मात्रा में

है उसका हिसाब मुलाका नहीं जासकता। छोटे प्राणी का कम विचार करो, पर विचार अवश्य करो, उसे मुलाओ नहीं। इसप्रकार की नीति से विश्वप्रेम की सीमा में सब प्राणी आजाते हैं और अधिक सुखवर्धन की नीति में बाधा भी नहीं पड़ती, मनुष्य को आत्मरक्षा के आवश्यक और उचित मार्ग भी खुले मिलते हैं।

५-वह वान ध्यान में रहना चाहिये कि प्रेम, शरीर या वचन की चीज नहीं है, वह मनकी चीज है, इसलिये अवसरपर भीठा बोल-लिया जाय या कुछ शारीरिक गिछाचार का सहन करलिया जाय इससे काम नहीं चलसकता। वह मनमें भी हो तभी मफल होसकती है। ऊपर की चीज तो आज नहीं कल उड़जायगी, और ठीक मौकेपर काम न आयगी, बल्कि हमारे अज्ञान में अपनी निराशा की वशोक्ता करती रहेगी, और उससे परतिक्रिया भी होगी। इसलिये प्रेम को स्वाभाविक बना देना ही ठीक है। और जब प्रेम स्वाभाविक बनजाता है तोतब वह एक तरह से असीम होजाता है। वह कसूर के प्रकाश को तरह चारों ओर फैलता है। जायह बात दूसरी है कि जिसमें जितनी योग्यता होती है वह पदार्थ उस प्रकाश से उदता ही बनकरता है। पर वह प्रकाश किसी पदार्थपर अपनी सुरक्षासे उपेक्षा नहीं करता। स्वाभाविक प्रेम भी किसी तरह सब के सुखवर्धन का खयाल रखता है।

६-स्वाभाविक प्रेम या विश्वप्रेम में एक दुसरा लाभ यह है कि हम अपने को सवा सर्वत्र उपरुचित और सहाययुक्त समझते हैं, अर्थात् इस बालेकार की परिस्थिति निर्माण होने की सम्भावना परावृत्ताती है। हरएक प्राणी को इसी जीवन में कहा। माना जीवन में अनेक अच्छी-दुरी परि-वालेभित्तियों में से गुजरना पड़ता है। अगर प्राणिचा स्वाभाविक विश्वप्रेम हो तो हरएक परिस्थिति में वह दूसरा का प्रेम पासकेगा। इसप्रकार यह विश्वप्रेम का अद्वैत प्राणिसमाज के कल्याण के लिये विश्वसुखवर्धन के लिये-सर्वोत्तम औपध प्रेम होगा।

इसप्रकार प्रेम भी दुःख दूर करने का एक बड़ा उपाय है।

५-मंड (डेच) कल्याण-विरोधी कार्यों और यथाशक्ति उनकी मनोवृत्तियों को बलपूर्वक हटाना दण्ड है। जिन प्राणियोंपर प्रेम का उचित प्रभाव नहीं पड़ता उन्हें दण्ड देकर व्यवस्थित करना पड़ता है। निःसन्देह मध्यम और प्रेम से जो सुखवर्धन होता है और दुःख दूर होते हैं वह सब दण्ड से नहीं होता फिर भी जब कंड उपाय नहीं रहता है तब दण्ड द्वारा जिनमें दुःखों को जितनी मात्रा में गेरा जासकता है उतना गेकता चाहिये।

समाज-व्यवस्था के मूल में दो बातें हैं— एक संयम, दूसरा भय। मध्यम प्रेम का अनुशासन मानता है और भय दण्ड का। प्रायः प्रत्येक समझदार प्राणी में न्यूनाधिक रूप में ये दोनों वृत्तियाँ रहती हैं। जो उत्तम श्रेणी के प्राणी हैं उनमें संयम उदता रहता है कि उसके आगे भय दण्ड जाता है। जो अधम श्रेणी के प्राणी हैं वे भय की ही पर्वाह करते हैं। भय के आगे संयम वनजाता है। मध्यम श्रेणी में दोनों पर्याप्त मात्रा में रहते हैं। उत्तम श्रेणी के लिये दण्ड की आवश्यकता नहीं होती। अधम श्रेणी के लिये दण्ड-शक्ति की सत्ता या उसका परदर्शन ही काफी है पर अधम श्रेणी के लिये उसका प्रयोग आवश्यक है। पर यह कह सकना कठिन है कि कौन प्राणी कब किस श्रेणी में रहेगा ? माघाखनः उत्तम श्रेणी के मालूम होनेवाले मनुष्य किसी अवसरपर या ठीक अवसरपर अधम श्रेणी के निकल पड़ते हैं, वर्षों से जिन्हें ईमानदार समझा वे वैदेमानी करने का अवसर पाजानेपर वैदेमान निकल पड़ते हैं। इसप्रकार का घोरता शिक्षित कहलानेवालों, त्यागी या विरक्त कहलानेवालों, और अच्छे श्रीमानों से भी होजाता है। इसलिये उचित दण्ड-व्यवस्था होना जरूरी है। जो वास्तव में उत्तम श्रेणी के होंगे उनकेलिये वह व्यवस्था काम में न आवनी पर बाकी सब के लिये तो आवश्यक। इसप्रकार जिस पाप को संयम या प्रेम

के द्वाग नहीं रंका जासका है उसके असर से समाज को ध्वाने का कार्य बंद द्वाग करना चाहिये।

प्रश्न—दंडनीति तो पशुता का चिन्ह है, क्या उसका समर्थन करना पशुता का समर्थन करना नहीं है ?

उत्तर—निःसन्देह दंडनीति पशुता का चिन्ह है पर जहां पशुता हो वहां केवल उसका चिन्ह मिटा देने से पशुता नहीं मिट सकती। बैल का सींग निकाल देने से बैल आदमी नहीं बन जाता। इसलिये जब तक मनुष्यों में पशुता है तब तक उसे नियन्त्रित रखने के लिये, उसके दुःख से दुःखों को बचाये रखने के लिये उचित दंडनीति का होना आवश्यक है। हां। उसका प्रयोग सम्यक्कर करना चाहिये और न्याय की दृष्टि न होने देना चाहिये, इसका भी ध्यान रखना चाहिये कि कानून के शब्दों का उपयोग न्याय के विरुद्ध न जाने पाये। हां। अगर प्रेमनीति से काम चल सकता हो, और दूसरों पर उसके घुरे प्रभाव पड़ने की सम्भावना न हो तो प्रेमनीति से काम लेना चाहिये, या दण्ड को प्राथमिकता रूप देने की कोशिश करना चाहिये। फिर भी दंड-व्यवस्था तो रहना ही चाहिये। जब पशुता चली जायगी तब दंडनीति विधान रूप में रहनेपर भी उपयोग में न आवेगी। आवश्यकता न रहने से वह उपयोग में भले ही न आवे, पर न जाने कब कौसी जरूरत पड़ जाये इसलिये उसका रहना आवश्यक है।

प्रश्न—अपराध भी एक तरह की मानसिक बीमारी है और बीमार आदमी दवा का पात्र होता है दंड का नहीं, क्योंकि बीमारी में उसका क्या दण्ड ?

उत्तर—श्वेत में अनाज के पौधों के साथ जो चाम-फूस पैदा होता है उसमें चासफूस का कोई अपराध नहीं होता, फिर भी अनाज के पौधों की रक्षा के लिये उसका उखाड़ना जरूरी है। बिच्छू के डंक से और माँप के मुँह से विप

होता है इसमें भी बेचारे बिच्छू माँपों का कोई दण्ड नहीं, अपराध भी नहीं, फिर भी रक्षा के दृष्टि से उन्हें दंड देना पड़ता है। पागल कुत्ता भी बीमार ही होता है पर जब वह काटने दौड़ता है तब उस मारना ही पड़ता है। बुरा हो या न हो पर जब किसी के जरिये दुःखवर्धन होता है तब उसका निरोध करना जरूरी है।

दूसरी बात यह है कि जगत में जितनी बुराईयों हैं वे किसी न किसी कारण परम्परा का फल हैं, एक आदमी घोर बदमाश खूनी विश्वास-घाती कुत्तन आदि है तो उसकी इस मनोवृत्ति का निर्माण उसके मातापिता के, या आसपास की घटनाओं के कारण हुआ है, और उसके मातापिता का और आसपास की घटनाओं का निर्माण भी उससे भी पुराने मातापिता और उससे भी पुरानी घटनाओं के द्वारा हुआ है इस प्रकार अत्यंत बुराई की कारण परम्परा बनादि में विलीन की जासकती है और उस बुराई को कारण विश्वास से निरपराध कहा जासकता है, ऐसी हालत में उसे दंड देने की जरूरत नहीं रहती। परन्तु यदि इस विचार से समाज ने आज तक दंड-व्यवस्था को न अपनाया होता तो समाज के दुःख आज हजारों गुणा होते। पर दंड-व्यवस्था के भय ने पुरानी कारण परम्परा को नष्ट करके पाप की परम्परा तोड़ी है। मनुष्य अगर अपने मन के सारे विचारों की जायरी में लिये डाले और फिर उन्हें पढ़े तो उस ही मालूम होगा कि वह किसी शैतान की दायरी है, पर उसके जीवन में जो वह शैतानियत दिखई नहीं देवी, तो उसका कारण समाज का भय है, अपने स्वार्थों को बका लगने का भय है। इसप्रकार हम देखते हैं कि परम्परा से कोई बुराई आ भी जाती है तो समाज के दंड भय के कारण वह दबी रहती है। इसलिये जब तक मन की शैतानियत भरी नहीं है तब तक दंडनीति सभी के लिये हितकारी है।

अपराधी को बीमार समझकर दवा के समर्थन में संश्लिष्ट की दवा न भूल जाना चाहिये। रावण को बीमार कहकर दवा दिखाते

सीताओंपर दया करना न भूलवाना चाहिये। सीताओं की दया भूलने का परिणाम होगा घर-घर में गवर्णा का पैसा होना। इस प्रकार की टोल में न अपराध करने, न अपराधी का भना होना, न जगत का भना होना।

माना कि जैना न के भीतर भी दुष्ट होना है और वह बहुत भी सकता है, यथायोग्य उसके हृदय-परिवर्तन की कोशिश भी करना चाहिये, पर उसके हृदय-परिवर्तन की आशा में जीवनभर या यों ही उसका आनतापीन सत्तन नहीं किया जा सकता। उसके अन्तर को रोक्ने के लिये उचित बन्ध देना ही पड़ेगा।

हं। दुष्ट-व्यवस्था में इतना विचार तो करना ही चाहिये कि किस परिस्थिति में उसने अपराध किया, क्या वह दूर की जा सकती है, उसका वास्तविक मनोभाव क्या होना चाहिये उसके ऊपर प्रेम का क्या प्रभाव पड़ सकता है, उसे जमा किया जाय तो उसकी नज़ीर बनाकर दूसरे लोग उसका दुरुपयोग तो नहीं करेंगे आदि मय बातों का विचार करके जितनी कोसलता में काम लिया काम के लेना चाहिये।

इन सब बातों का विचार करके इतना मानना ही पड़ता है कि दुष्ट-व्यवस्था जरूरी है उसमें व्यक्त का सुधार होता है और समाधि का भी और इससे दुःख घटता है।

प्रश्न—जब किसी व्यक्ति को मृत्युदंड दिया जाना है तब हमने उस व्यक्ति के सुधार को क्या सु जाइज मन्त्राती है ?

उत्तर—मृत्युदंड का भय आज तक उसे इतना बड़ा अपराध में रोके रहा और दूसरे मैकडो राजागो आदिमियों को रोके हुए है यही समाज-सुधार में हमारी दशवर्षिता है। ऊभी कभी हमें यहना अंत है जब गरीब के एक भाग-समाज आदि-गो गरीब में पाग निशालकर फेर देना पड़ता है, उमीराग समाज में भी बड़े-बड़े आत-गादों को फेर देना पड़ता है। सिपायों के ऊपर पना पाग फेरके उनी प्राण लेनेवाले, मनभर के

कारण साधुपुरुषों का या प्रतिस्पर्द्धियों का खून करनेवाले, अपनी देशासी के लिये दूसरे का घर या देश लूटनेवाले, लूटने में बाधक बननेवालों के प्राण लेनेवाले, मृत्युदंड के पात्र हैं, चाहे वे डाकू कहलाते हों, गुंडा कहलाते हों राजा कहलाते हों।

पर किसी भी तरह का दंड कबो न हो हमारे मनमें न्यायवत्ता या समाजवत्ता का ही स्थान रहना चाहिये। अपराधी से स्वार्थवश द्रोप न हो, सिर्फ अपराध को घट करने, उसके अन्तर से सम्मज की रक्षा करने अपराध में फैलाव को रोक्ने या निर्मूल करने का विचार हो और इसके लिये अपराधी को कठोर से कठोर दंड या मृत्युदंड देने आवश्यक मालूम हो तो इसे विवेचना समझकर करना चाहिये। अधिक दुःख रोक्ने के लिये कम दुःख का विधान अनुचित नहीं है। दुःख दूर करने का यह भी एक उपाय है।

७ संयम—संयम भी दुःख दूर करने का उपाय है, इसका उपयोग दुष्टों में है। अधिक-कांश दुष्टों में पापकी राह में जाने में होते हैं और संयम से ही पाप की राह रोकनी जा सकती है और दुःख से बचा जा सकता है, इसलिये बड़ भी दुःखोपाय है।

इन प्रकार दुःख दूर करने के सात उपाय हैं और उनसे पहिले बताये गये एक सौ आठ तरह के दुःख यथाशक्त्ति दूर करना चाहिये। जिस किस दुःख को दूर करने में किस किस उपाय का उपयोग है इसका मजिद विवेचन यहां किया जाता है।

सद्दुष्टों को साधारणतः दूर करने की जरूरत नहीं है सिर्फ इतने आशमें कम करने की जरूरत है जिसमें उसकी कल्याणकारकता का क्या न लगे।

१—सद्दुष्ट समय प्राकृतिक आघात—ओले बरस रहे हैं, एक वनचा उनकी मार से गिर पड़ा है, हमने चौकड़ उमे उठाया और मनानमें ले लाये। इस प्रयत्न में चौकड़ ओले हमें थप

लगाये। इससे दुःख भी हुआ पर वच्चे के प्राण बच गये। ओला का आघात प्राकृतिक आघात था और दुःख से अधिक सुख पैदा करनेवाला हुआ इसलिये सदुःख था। इसका सहन करना ही उचित है। पीछे चिकित्सा की जासकती है। हममें कृत्रिम हो तो उसका उपयोग करके थोड़ा बहुत प्रतिरोध भी किया जासकता है। इस प्रकार यथाशक्त दुःखसे बचना चाहिये पर दुःखसे बचने के नासपर वच्चे की रक्षा करना न चाहिये, न हानिकर होना चाहिये।

२—सदुःखमय प्राकृतिक प्रतिविषय भी उत्तर की तरह समझ लेना चाहिये। परोपकार के लिये किसी दुर्गन्धित अस्तुत्थ, या अतिशीत रसात में जाना पड़े तो प्रतिविषय होगा। उसे सहन करना चाहिये। नाक पर कपड़ा आदि लगाकर प्रतिरोध भी किया जासकता है। पर जिस कारण से दुर्गन्ध पैदा हुई उस कारण को हटाने का प्रतिरोध और भी अच्छा है। सहिष्णुता को आवश्यकता तो है ही।

३-१२—सदुःखमय प्राकृतिक आविषय आदि भी इसी तरह से समझ लेना चाहिये। जहाँ प्राकृतिक दृष्टि से पानी आदि की कमी हो अन्न की कमी हो, वहाँ सेवा के लिये जाकर कष्ट उठाना पड़े (अविषय ३) या वहाँ मन्त्र आदि के होने से, जलवायु खराब होने से रोग होजाय (रोग ४) जगह ऐसी हो कि घूमने फिरने की भी मुलायम न हो (रोध ५) जमीन ऐसी ऊँची-नीची पहाड़ी हो कि आने जाने में भी अतिश्रम पड़े, (अतिश्रम ६) इच्छानुसार चीजें न मिलती हो (इष्टाप्रप्ति ७) या जलवायु आदि की प्रतिकूलता से कुटुम्बियों को न रक्खा जासकता हो (इष्टवियोग ८) वहाँ ऐसे जंगली जानवरों की बहुलता हो कि दिनरात अनिष्ट की चिन्ता रहती हो (अनिष्टयोग ९) वह जगह ऐसी साधनहीन हो कि वहाँ रहने से ही आदमी तुच्छ दृष्टि से देखा जाने लगता हो, (लाघव १०) उस जगह प्रकृति ने इतनी परेशानियाँ पैदा कर दी हैं कि व्यग्रता से काम लेना पड़ता हो

(व्यग्रता ११) वहाँ के प्राकृतिक कष्टों के सहने से, इसप्रकार के दुखी भावों के दुःख से सहानुभूति पैदा होती हो (सहवेष्टन १२) ये सब सदुःखमय प्राकृतिक कष्ट हैं, इन्हें सहना चाहिये, और कर्तव्य में हानि न हो इसप्रकार उनका प्रतिरोध आदि करना चाहिये, पीछे चिकित्सा भी करना चाहिये।

सदुःख आवश्यक हैं पर जिन सदुःखों को हम घटा सकते हैं फिर भी उससे पूरा काम होता रहेगा उन्हें घटाना चाहिये। अधिक से अधिक कष्ट सहने से पुण्यवन्ध होगा, नाम होगा इसलिये कम जरूरत होनेपर भी अधिक दुःख भोगना, अज्ञान है और नाम आदि की इच्छा से कष्टों की मात्रा व्यर्थ बढ़ाई जाती हो या बढ़ने दी जाती हो दम्भ है, छल है। इसे मोघ तप [नक्तुपो] या मोघभाषिकतप [नक्तुन्तुपो] कहते हैं। इससे बचना चाहिये।

१३-२४—सदुःखमय प्राकृतिक दुःख जिनप्रकार तरह तरह के हैं उसी प्रकार परकृत भी तरह तरह के हैं। इससे आघात आदि दूसरे मनुष्य के किये हुए होते हैं। जैसे कोई आदमी देश की स्वतन्त्रता के लिये जेल गया तो जेल का दुःख परकृत सदुःख कहलावेगा। सम्भव है विरोधी सरकार के कर्मचारी उसके साथ नारपीट करे (आघात १३) खराब खानापीना दे (प्रतिविषय १४) खाना न दें (अविषय १५) भोजन में खराब चीजें या मन्दविष मिलाकर बीमार कर दे (रोग १६) आने-जाने की पराधीनता तो रहती ही है अमुक क्षेत्र में रुककर रहना पड़ता है (रोध १७) सुखन सजा होने से अतिश्रम करना पड़े (अतिश्रम १८) पढ़ने-लिखने को किताने या ऊँची चीजें न मिले (इष्टाप्रप्ति १९) पियजनों का वियोग तो होता ही है (उष्टवियोग २०) बहुत ही खराब आदमियों की संगति में रहना पड़े इससे खूब परेशानी हो (अनिष्टयोग २१) अपमान हो (लाघव २२) इतना काम करना पड़े और समूहकर रहना पड़े कि बात बात में व्यग्रता हो (व्यग्रता २३) समान का होने से दूसरों से सहानुभूति पैदा हो (सह

वेदन २४) इस प्रकार ये परकृत सद्वृत्त कह-
लायें। यहाँ सहिष्णुता अत्यधिक आवश्यक है
प्रेम का भी काफी उपयोग है। बाकी उपाय गौण
हैं। हा, ऐसे भी परकृत सद्वृत्त हो सकते हैं जहाँ
ठंड आदि दूसरे उपाय भी काफी मुख्यता से
काम दे सकें।

२५-३६—विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से अपने
हाथों आघात आदि बारह तरह के कष्ट सहना
स्वकृत सद्वृत्त है। वास्तव में इन कष्टों से
मनुष्य ऊँचे दर्जे का तपस्वी होता है। प्वात
इतना रखना चाहिये कि नामादि के लोभ से
व्यर्थ कष्ट न बढ़ाये जायें नहीं तो ये तप भोजन
या मोक्षसाधक तप हो जायेंगे। किसी महान
व्यक्ति को जीवन दान देने के लिये अपना खून
देना पड़े, [आघात २५] सेवा में वैश्वादि भोजन
करना पड़े [परतिविषय २६] भूखों रहना पड़े,
अविषय [२७] सेवा से उसका रोग लगने की
पूरी सम्भावना हो [रोग २८] रुककर एक जगह
रहना पड़े [गोध २९] काफी मिहनत करना पड़े।
[अतिश्रम ३०] सेवा में लगे रहने से इष्ट वस्तुएँ
न मिलें [इष्टप्राप्ति ३१] कुटुम्बियों को छोड़ना
पड़े [इष्टवियोग ३२] दुर्जनो में या कष्टकर परि-
स्थिति में रहना पड़े [अनिष्टयोग ३३] दूसरे
लोगों को कम योग्यता रखनेपर भी ऊँचे पदोंपर
पहुँच जायें किन्तु यह तपस्वी पदों की पर्वाह
किये बिना छोटा कहलाता हुआ भी सेवा करता रहे
[लाघव ३४] सेवा का कार्य इतना विविध और
विशाल करले कि उसे पूरा करने के लिये व्यग्र
हो जाना पड़े [व्यग्रता ३५] सेवा कार्यों के
अपने हाथ से बुलाये गये कष्ट से दूसरे के कष्ट
में सहानुभूति प्राप्त होना [सहवेदन ३६] इस
प्रकार ये बारह स्वकृत सद्वृत्त हैं। इन्हें सहना
चाहिये। इसमें सहिष्णुता ही अत्यवश्यक है।

३७-४६—जैमिनीकर द्वातीस तरह के सद्वृ-
त्त हैं उसी तरह द्वातीस तरह के अनीजद्वय
या फलद्वय हैं। इनमें जो बारह तरह के प्राकृ-
तिक द्वय हैं उनका उपाय तो प्रतिरोध दूरगमन
चिकित्सा और सहिष्णुता ही है। पर जो बारह

तरह के परकृत फलद्वय हैं उनमें काफी विचार
से काम लेना चाहिये। जहाँ प्रतिरोध से काम
चल सकता है वहाँ कायरता से दूरगमन न करना
चाहिये। हा। बीतरागभाव से दूरगमन किया
जा सकता है। कोई दुर्जन अन्याय करेगा इस-
लिये उससे डरकर भागने की उम्मीद नहीं है।
हा. साधुता बीतरागता आदि के कारण उससे
बचकर रहा जा सकता है। सहिष्णुता की भी
सीमा का न्याय रखना चाहिये। अगर हमारी
सहिष्णुता दूसरों में दुरभिमान पैदा करे अन्याय
को उत्तेजन दे तो प्रतिरोध या दण्ड में काम
लेना चाहिये। कुत्र न हो तो अस्त्रयोग तो किया
ही जा सकता है यह भी एक तरह का दण्ड है।
इसी प्रकार जो परकृत लाघव, विनय या शिष्टा-
चार का स्वरूप धारण कर सकें उससे भी बचना
चाहिये। यहाँ बात सहवेदन के बारे में है। जिस
सहवेदन से न्याय का, सत्य का, विश्वास का,
कोई सम्बन्ध नहीं वह व्यर्थ है। इसी तरह बारह
तरह के स्वकृत फलद्वय हैं। ऐसे निरर्थक कष्टों
से बचना चाहिये। जिस तपस्या से जगत का
कोई हित नहीं शक्ति दुर्ग हो अधिक है ऐसे
तपस्वरूप फलद्वयों से भी बचना चाहिये, अन्यथा
य एक तरह के आत्मघात कहलायेंगे।

७३-१०८—इसी प्रकार द्वातीस तरह के
दुर्ग्वय हैं। ये हर तरह बुरे हैं। ये दुर्ग्वय के फल
ही नहीं हैं किन्तु गलत के बीज भी हैं। आगे
और भी दुःख पैदा करते हैं। जब हम कोई बुरा
काम करना चाहें जिसका फल काही दुर्ग्वय हो,
उस बुरे कार्य के करते में भी जो कष्ट उठाना पड़े
वे रुक दुर्ग्वय कहे जायेंगे। जैसे कोई
आदमी वर्षों की अँधेरी रात में चांगी करने
जाय, और बीच में वर्षा के कारण या जमीन
ऊबड़-खाबड़ होने के कारण अँधेरे में काँधी कष्ट
उठाय तो यह प्राकृतिक आघात नाम का दुर्ग्वय
कहा जायगा। इसी तरह पाप की राह में प्राकृ-
तिक रीति से भूख मरने की, दुर्गन्ध आदि सहने
की, बीमार होने की, साधियों के मरने की, नौबत
आसकती है, ये सब दुर्ग्वय हैं। प्रतिरोध आदि

इसके वास्तविक उपाय नहीं है, इसका एक मात्र उपाय है संयम, जो पाप से निवृत्त करे और पाप की राह में आनेवाले दुःखों से भी बचावे। इसीप्रकार परकृत और स्वकृत दुःखों का भी एकमात्र उपाय संयम है। दूसरे उपाय थोड़ी-बहुत मात्रा में सफल भी हो और वर्तमान दुःख कुछ थोड़ा भी जायें, तो भी उसकी बुराई जो जीवन में घुस गई है वह दूर न होगी। इसलिये संयम का उपयोग अवश्य करना चाहिये। इसके साथ चिकित्सा का उपयोग किया जा सकता है।

सुखोपाय (शिम्मोरहा)

दुःख करने के साथ सुख पाने की भी कोशिश करना जरूरी है। पहिले जो आठ तरह के सुख बताये गये हैं उनके भी तीन तीन रूप किये गये थे, सत्सुख, अश्रीजसुख और दुःसुख। ये प्राकृतिक भी होते हैं परकृत भी होते हैं और स्वकृत भी होते हैं। इसप्रकार सुख के बहत्तर भेद होजाते हैं। जैसे एक नक्शे के द्वारा दुःख के एक सौ आठ भेद ध्यान में रखे गये थे उसी प्रकार सुख के बहत्तर भेद भी ध्यान में रखना चाहिये।

दूसरों को दुःखी देखकर जो आनन्द मिलता है वह रौद्रानन्द है। निरपराध को दुःखी देखकर जो सुख होगा वह रौद्रानन्द पापानन्द कहा जायगा पर राख सरीखे पापी को दुःखी देखकर जो सन्तोष या आनन्द होगा वह सत् रौद्रानन्द कहा जायगा। इसप्रकार रौद्रानन्द यहाँ व्यापक अर्थ में लेना चाहिये। हाँ, बोलचाल में जहाँ रौद्रानन्द के साथ सत् आदि कोई अच्छा विशेषण न लगाया जाय वहाँ रौद्रानन्द का पापानन्द अर्थ करना चाहिये। पहिले रौद्रानन्द का अर्थ इसी व्यावहारिकता को लेकर किया गया है।

१-सत्सुखमय प्राकृतिक ज्ञानानन्द—प्रकृति एक खुली हुई किताब है। उसे थोड़ी बहुत मात्रा में हर एक पढ़ता है और उसके ज्ञान से आनन्द उठा सकता है। अगर वह ज्ञान मविष्य में सुख-वर्धन के काम आता है तो वह सत्सुख है। इसके लिये जिज्ञासा वृत्ति चाहिये, भविष्य में ज्ञान काम आसके इसकेलिये धारणा शक्ति विवेक और प्रेम चाहिये, आनन्दी मनोवृत्ति चाहिये। वह आनन्द बहुत सुलभ और सस्ता है। प्रकृति बहुत खुले हाथों यह ज्ञानानन्द बिखेरती रहती है।

ज्ञानानन्द	प्रेमानन्द	जीवनानन्द	विनोदानन्द	स्वतन्त्रतानन्द	विषयानन्द	सहत्वानन्द	रौद्रानन्द
१	२	३	४	५	६	७	८
प्राकृतिक ०		परकृत ८		स्वकृत १६			
सत्सुख ०		फलसुख २४		दुःसुख ४८			

नीचे पंक्तियों की एक एक संख्या जोड़कर सुख का इच्छित भेद निकाल लेना चाहिये।

यहाँ एक बात ध्यान में रखना चाहिये कि रौद्रानन्द का अर्थ व्यापक है। रौद्रानन्द का अर्थ यहाँ पापानन्द ही नहीं है किन्तु सामान्य रूप में

२-सत्सुखमय प्राकृतिक प्रेमानन्द—प्रकृति इसनी शिव और सुन्दर है कि हमारे भीतर एक तरह का प्रेम और आत्मीयता का भाव पैदा कर देती है। इस प्रकृति प्रेम का उपयोग आनन्द जगत् को और सुन्दर बनाने में सुखमय बनाने

किया जायके तो यह सत्सुखमय प्राकृतिक प्रेमानन्द कहलायगा।

३-दुनिया में जीवित रहने के लिये हवा और पानी को अपने आप मिलते हैं पर अन्य खाद्य-सामग्री भी अपने आप पैदा होती है इन सब को प्राप्तकर स्वयं आनन्द उठाना और जगत को सुखी करना सत्सुखमय प्राकृतिक जीवनानन्द है।

४-मनोविनोद की, दिल बहलाने की अटूट सामग्री दुनिया में भरी पड़ी है। दुनिया की एक एक रचना कुतूहलवर्धक है और ऐसी अद्भुत है कि प्यास देनेपर मनुष्य हँसते-हँसते लोटपोट होजायें। हाथी घोड़ा ऊँट आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों की, पर्वत शिखरों वनस्पतियों की रचनापर हम गौर करें तो ऊँदनुत रस में सराबोर होजायेंगे और इच्छानुसार मन बहलाव भी कर सकेंगे। इस मन-बहलाव से स्वयं सुखी होना दूसरों को सुखी करना भी एक सत्सुख है।

५-प्रकृति ने हर एक प्राणी को काफी अंश में स्वतन्त्र पैदा किया है। वह दुर्बलता में फसने-लायक काम न करे तो कासी स्वतन्त्रतानन्द प्राप्त कर सकता है।

६-दुनिया में जो जीवनसामग्री उपलब्ध है उसमें एक तरह का अन्धा स्वाद सुगन्ध आदि भी होती है इसके सिवाय भी जगह जगह इन्द्रियों को तृप्त करनेवाली सामग्री भरी पड़ी है। वह बिना दिया हुआ विषयानन्द है प्राणी को इसका उपयोग करना चाहिये। हा! वह दुर्ज-सत न बन जाये, मर्यादा का उल्लंघन कर अपने को या दूसरों को दुःखदायक न बनजायें, विश्व-सुखवर्धन की मर्यादा के भीतर रहे, इसका ध्यान रखना आवश्यक है। इतना ही नहीं वह सत्सुख तभी कहलायगा जब वह विश्वसुखवर्धन के काम में आयगा।

७-महत्त्व कई तरह के होते हैं। पर कुछ महत्त्व ऐसे हैं जो किसी ने हमें प्रयत्न करके दिये नहीं हैं न हमने उन्हें प्रयत्न से पैदा किया है वे

जन्म से ही मिले हैं। जन्म से ही शरीर सुन्दर स्वस्थ शक्तिशाली हो, प्रतिभा हो, तो उसका महत्त्व का आनन्द मिलता है। पर इस महत्त्वका दूसरों को सुखी करने में या विश्वसुखवर्धन में उपयोग होना चाहिये। तो मन्मथ कहलायगा। ऊँ लोग इसे 'प्रमन्नोपी स्वभाव' के होते हैं कि उन्हें रिक्तता भी महत्त्व मिला हो, वे मनुष्ट नहीं होते। ईर्ष्या के पागल दुखी बन रहते हैं। यह भूव है। अधिक से अधिक महत्त्व प्राप्त करने के लिये उचिन् प्रयत्न भले ही करने रहो पर जो कुछ महत्त्व प्राप्त है उसका आनन्द नष्ट मत करो। अगर जगत् में सेकड़ों हमसे महान् हैं तो कुछ ऐसे भी हैं जिनसे हम महान् हैं। इस महत्वा-नन्द का अनुभव करो। उसमें अभिमानी नहीं आत्मगौरववाली बनो, जिससे मन्त्रायों में प्रेरणा मिले।

८-व्यापि प्राकृतिक कार्य सट जगह न्याय-अन्याय का विचार नहीं करते फिर भी अनेक स्थानोंपर न्याय-अन्यवस्था दिखाई देती है। पाप का पथ अनेक तरह से दुःखद और आत्मघातक होता है। अनेक असंयमी लोग बीमार होकर मरते देख गये हैं, दुनिया के ऊपर कहर बरसाने वाले प्राकृतिक घटनाआ से नष्ट होते देखे गये हैं। ऐसी दान्त में उन्हें जो यह अपने आप पाप का दुःख मिला है उससे सन्नोप हो तो यह रौद्रानन्द सत्सुख ही कहलायगा। हां! अगर वह रौद्रानन्द सिर्फ हमलिये हुआ है कि कष्ट में पड़नेवाला हमारा विरोधी है, फिर भले ही वह निरपराधी हो, बल्कि शायद हम ही अपराधी हों पर विरोध के कारण हमें आनन्द आया है तो यह रौद्रानन्द घोर दुःसुख या महापाप होता-यगा। सत्सुख यह तभी कहा जासकता है जब हममें पापपरतीकार की भावना हो।

९-१६-जिसप्रकार ये आठ परस्पर के प्राकृतिक सत्सुख वस्तुएं गये हैं उसीप्रकार आठ परकृत भी सत्सुख होते हैं। इसमें अन्तर इतना ही है कि वे सुख दूसरों के सहयोग से मिलते हैं इसलिये इनमें कृतज्ञता आदि आवश्यक हैं। जैसे ज्ञानानन्द गुरुओं से या ग्राह्यो से मिलेगा

इसलिये उनकी आदर-भक्ति होना चाहिये। प्रेमानन्द में प्रेम का बदला प्रेम से देना चाहिये, जीवनानन्द में सेवा आदि से प्रत्युत्पन्न करना चाहिये। इसप्रकार अन्य आनन्द की बात भी है। महत्त्वानन्द का बदला भी नम्रता सेवा तथा अन्य किसी प्रतिदान से देना उचित है। सत्सुख-मय सौन्दर्यानन्द में भी कीर्ति-पूजा आदि आवश्यक हैं। दुष्ट निग्रह के आनन्द के बदले में दुष्टनिग्रही का गुणगान, पूजा आदि जरूरी है।

१७-२४—सत्सुखमय ज्ञानानन्द आदि जब स्वकृत रहते हैं तब उनमें कृतकता आदि का विचार तो नहीं करना पड़ता पर उन्हें प्राप्त करने के लिये साधना पूरी करना पड़ती है। और उनका दुरुपयोग न हो इसलिये संयम का पालन करना पड़ता है, अहंकार प्रचलन न होना इसका भी ध्यान रखना पड़ता है।

ये चौबीस प्रकार के सत्सुख जितने अधिक हो उतना ही अच्छा। संसार में अधिक से अधिक सत्सुख बढ़ानेकी कोशिश करना चाहिये।

२४-४८—जिस प्रकार सत्सुख चौबीस तरह के हैं उसी प्रकार फलसुख [श्रीजी सुख] भी चौबीस तरह के हैं। योग का अन्तर इतना है कि फलसुख भोगने के बाद समाप्त होजाता है जब कि सत्सुख भोगने के बाद अन्य सुख के लिये जीज बनजाता है। फिर भी यह असम्भव है कि सारा सुख सत्सुख ही रहे, सत्सुखों की परम्परा के अन्त में ऐसा सुख आही जायगा जो भोगने के बाद समाप्त होजाय। इसलिये सत्सुख के समान फलसुख भी संसार में आवश्यक हैं। इसलिये फलसुख भी अधिक से अधिक बढ़ाना चाहिये।

बहुत से लोग भ्रमवश सुख की निन्दा करते हैं। चाहते तो वे भी सुख ही हैं पर मानते हैं कि दुःखसे सुख पैदा होता है सुखसे सुख नहीं होता। विषयानन्द आदि को तो गाली ही दिया करते हैं। पर ऐसे लोग सत्य के मार्ग से दूर हैं।

यह ठीक है कि कभी कभी सुख के लिये दुःख की भी जरूरत है इसलिये किसी किसी दुःख को सदुःख कहा गया है पर विवेकहीन दुःख सुख का मार्ग नहीं है, और न हरएक सुख दुःख का मार्ग है। चाहे विषयानन्द हो चाहे प्रेमानन्द हो अगर वह सत्सुख रूप है या फल-सुखरूप है तो उससे न तो जीवन अपवित्र होता है न उससे दुःख बढ़ता है। इसलिये इसी जीवन में हर तरह का सुख प्राप्त करना चाहिये। हा ! दुःसुख से जरूर बचना चाहिये।

४८-७२—दुःसुख भी चौबीस तरह के हैं। ये बुरे हैं। इनका त्याग करना चाहिये। ये किस प्रकार विश्वसुखवर्धन में बाधक हैं इसका पूरा विचार कर इनकी दुःसुखता को दूर हटाना चाहिये।

ज्ञानानन्द चाहे वह प्राकृतिक हो चाहे परकृत या स्वकृत, जब उससे अहंकार आजाय, दूसरों को ठगने का विचार आजाय तो ज्ञानानन्द दुःसुख बनजाता है।

प्रेमानन्द जब विवेकहीन होकर पक्षपात के, स्वार्थ के रंग में रंग जाता है तब वह मोह होजाता है। मोह भविष्य में सब को दुःखी करता है।

जीवनानन्द अगर, अन्याय आदि से प्राप्त किया जाय तो वह भी विश्वसुखमें बाधक होने से दुःसुख होजाता है।

विनोदनन्द भी दुःसुख होजाता है अगर मर्यादा का अतिक्रमण करके किया जाय, या ठीक अवसर पर न किया जाय, या ठीक व्यक्ति के साथ न किया जाय, या किसी निरपराध का दिल दुखाने को किया जाय। विनोद हँसी मजाक आदि का ठीक उपयोग करना कठिन कार्य है। यह काफी ऊँचे दर्जेका है पर इसमें प्रतिभा संयम प्रेम आदि बड़ी जरूरत है, नहीं तो यह काफी दुःख होजाता है। इसकी चोट काफी गहरी होती है विनोदोका परतीकार करना कठिन होने से

वेदना भीतर ही भीतर काफी गहरी होती जाती है और एक अस्मिद शत्रुता की छाप लग जाती है।

स्वतन्त्रतानन्द मे यदि संयम विवेक न हो तो यह उच्छ्वसलता कहलाने लगता है। उच्छ्वसलता अनेक तरह से स्वपर सुखनाशक होती है इसलिये दु सुख बनजाती है।

विपयानन्द में विपयलालसा जब तीव्र होजाती है वह दुःखजन बनजाती है तब अन्याय की पर्वाह नहीं करती, अपने अस्वास्थ्य की पर्वाह नहीं करती, चोरी करना, या चमार चोर बनना [उधार के नाम पर धन मागना और न देना] आदि कर्मांतियों से जीवन कर्षित होजाता है ऐसी हालत में विपयानन्द दु सुख है।

महत्त्वानन्द की लालसा हरएक को होती है। और वह असीम होती है। सब तत्त्व के आनन्दों से दृष्टि होजाने पर भी महत्त्वानन्द अतृप्त बना रहता है। पर इसके दु सुख बनने की बहुत सम्भावना है। इसलिये हर तरह के महत्व से खास तौरपर सम्बलाने की जरूरत है। महत्वों की गिनती बनाना तो मुश्किल है फिर भी खास खास महत्व बड़ा बताने जते हैं—

१-अधिकार, २ विभव, ३-संघ, ४ कुल, ५-यश, ६-तप, ७-कला, ८-शक्ति, ९-ज्ञान, १०-सौन्दर्य, ११-असाधारणता, १२-दान, १३-स्वाग, १४-सेवा।

१-अधिकार [रीजो] समाज के द्वारा दीर्घ या स्वीकृत की हुई निम्न अनुग्रह शक्ति को अधिकार कहते हैं यह इसलिये दी जाती है या स्वीकृत की जाती है कि जिसने अधिकारी की तरह से व्यवस्था कर सके। इसलिये उसका उपयोग सुव्यवस्था के लिये करना चाहिये अपना या अपने लोगों का स्वार्थ सिद्ध करने के लिये या अधिकारी होने का घमण्ड बताने के लिये नहीं। अधिकार की समस्या सत्र से अधिक जटिल समस्या है। यह समस्या न सुनभने के कारण शासक बनना पड़ते हैं और शासन-

सत्र तक बढ़ना पड़ते हैं राजतन्त्र, अधिनायक तन्त्र, प्रतिनिधितन्त्र प्रजातन्त्र वर्गतन्त्र आदि अनेक तरह के तन्त्र बनाना पड़ते हैं। फिर भी अधिकार के दुरुपयोग का रोकना बड़ा कठिन होता है। और जब तक यह नहीं रुकना तब तक मनुष्य जाति स्वर्ग की सामग्री में नरक बनाती रहेगी। इसलिए अधिकार के महत्त्वानन्द को दु सुख न बनने देना चाहिये।

२-विभव [धनो]—जीवन के लिये उपयोगी अपने अधिकार की सामग्री का नाम विभव है। इसका आनन्द भी महत्त्वानन्द है। उस सामग्री के उपयोग से जो आनन्द मिलता है, वह अलग है पर विभव के होने से जो लोक में महत्व मिलता है वह महत्त्वानन्द अलग है। यह महत्त्वानन्द बहुत जल्दी दु सुख बनजाता है। क्योंकि साधारण जन से अधिक और काफी अधिक विभव होनेपर ही महत्त्वानन्द का अनुभव होता है, और जनसाधारण से काफी अधिक विभव होने का मतलब है समाज के भीतर एक तरह की आर्थिक विषमता का होना। पर यह बुरी बात है। इसलिये महत्त्वानन्द प्रायः दु सुख ही बनता है। हा! एक ही तरह से यह दु सुख होने से बचसकता है। वह यह कि जो हमारे पास विभव हो वह समाज के लिये उपयोग में लाया जाता हो। जिनका अधिक जनहित उस विभव से किया जायगा उतनी ही अधिक निष्पापता बढ़ेगी। ऐसी हालत में हम विभव के मालिक न रहकर सिर्फ सम्भालक बनना चाहिये।

३-संघ [कूटो]—अपने समर्थक सहायक या सहयोगी समूह का नाम संघ है। मेरे इतने अनुयायी हैं, इतने मित्र या साथी हैं, हमारी संस्था इतनी विशाल या महान है, अमुक राजा नेता पञ्चधिकारी श्रीमान या विद्वान से मेरा सम्बन्ध है या परिचय है, मेरे इतने तौकर हैं, आदि का आनन्द स्व का महत्त्वानन्द है। साधारण इसका आनन्द मन में ही लेना चाहिये। बाहर इसका घमण्ड नहीं बताना चाहिये। निरपराधों को साधुजनों को बचाने या उतका अपमान करने में इसका उपयोग न करना चाहिये,

नहीं तो वह दुःसुख होजायगा, पाप होजायगा ।

४-कृत्र [जंजी]-जन्मसे सम्बन्ध रखनेवाले जनसमुदाय का नाम कुल है। मैं अमुक कुटुम्ब में पैदा हुआ हूँ, मेरे बाप मा चाचा मामा आदि इतने सहान हैं, मेरी जाति गोत्र आदि उच्च हैं आदि कुलका महत्व है। जाति राज काफ़ी व्यापक है। देश आदि के अनुसार भी जानिभेद बनजाता है और इसके महत्व का भी आनन्द आता है। मैं अमुक प्रान्त का हूँ या अमुक देश का हूँ या अमुक रंग की जाति का हूँ आदि का महत्व भी कुल का महत्व है। यह महत्व अच्छा महत्व नहीं है, इसका उपयोग न करना चाहिये, जिस मनुष्य में शुण है योग्यता है वह इसे महत्त्वों की पूर्वाह नही करता। गुणहीन अयोग्य व्यक्ति ही इसे निकम्मे महत्त्वों का सहारा लिया करते हैं। इसलिये साधारणतः यह दुःसुख है। हा। मनुष्य के रूपमें भी यह महत्व कभी कभी काम आसकता है जब कि इसका उपयोग बुराई को दूर करने के लिये किया जाय। जैसे कोई यह सोचे कि "मैं अमुक का बेटा हूँ अमुक प्रान्त या राष्ट्र का हूँ फिर अपना पतित काम क्यों करूँ ? इस प्रकार महत्त्वानन्द यदि पाप से, बुराई में बचने में सहायक होजाय तो यह सन्मुख अहलायगा, अन्यथा दुःसुख तो है ही।

५-यश [फिरो]-लोगों के हृदय में अपने विषय में जो आदरभाव है वह यश है। यश का आनन्द बुरा नहीं है पर यश प्राप्ति की कला और उसके लिये आवश्यक मयम कठिन है। साथ ही यश की पहिचान भी कठिन है। चारित्र्य की वाहवाही का मलिन और जलिक यश का महत्व बहुत कम है पर लोग इसी में भूल जाते हैं। इसा आदि महात्माओं का यश आज हज़ारों वर्ष बीतजाने पर भी मंसारक्यापी है जब कि उनके जीवन में शायद साधारण शासक का यश भी उससे अधिक रहा हो। पर इसलिये साधारण शासक ईसा आदि महात्माओं से अधिक यशस्वी न कहे जायेंगे। जो मनुष्य दूरदर्शी है वह उस यश के आनन्द को अपने जीवन

में ही अनुभव कर सकता है जो उसके मरने के बाद या मरने के सैकड़ों वर्षों बाद मिलनेवाला है। इसलिये यश का महत्त्वानन्द वर्तमान के लोगों से ही सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु असीम भविष्य और असीम क्षेत्र से भी सम्बन्ध रखता है। बल्कि सच्चे यश की कसौटी यही भविष्यकाल या महाकाल है। सच्चा यश तीन चीज़ों पर निर्भर है। १-अपने द्वारा किया गया लोकहित, २-लोकहित के लिये किया गया त्याग, ३-यशोलाभ की गौणता। असाधारण योग्यता भी आवश्यक है पर इसके द्वारा यश की मात्रा ही बढ़ती है, क्योंकि असाधारण योग्यता से लोकहित विशेष रूप में होता है। अगर अपनी साधारण शक्ति का उपयोग उपर्युक्त तीन बातों के अनुसार किया जाय तो असाधारण योग्यता के बिना भी सच्चा यश मिलसकता है। हा। हमकी मात्रा कम रहेगी क्योंकि योग्यता कम होने से लोकहित कम होपायगा। खैर। यश की मात्रा बढ़ाने के लिये असाधारण योग्यता भले ही आवश्यक हो, पर उसकी सच्चाई के लिये उपर्युक्त तीन बात जरूरी हैं। लोकहित के आधार पर तो यश खड़ा ही होता है पर जब उसके लिये त्याग और जुड़जाना है तब हममें चमक आजाती है। पर त्याग सं भी अधिक जरूरी है यशोलाभ की गौणता। यश मोर की तरह है जो गले में रमसी आभूषण बन्दर की तरह नचाया नहीं जासकता, वह प्राकृतिक कारण मिलनेपर आसानी नचाता है। अगर वह मालूम होजाता है कि तुमने यह काम यश के लिये किया है तो यश का पैना इससे सलभु जाता है। लोग इसलिये यश देना चाहते हैं कि तुमने जो लोगों की सेवा की, उसका बदला लोग धन-सम्पत्ति आदि किसी भौतिक प्रतिदान के द्वारा नहीं चुका सकें या पूरी तरह नहीं चुका सकें। इसलिये उनके मन में एक तरह का कृतब्रता का भाव पैदा होता है। यही यश है। पर अगर यह मालूम होजाय कि सेवा कन्ना तुम्हारा लक्ष्य नहीं था सिर्फ यश सुरंग था, तब लोगों के दिल में सेवा के प्रति कृतज्ञता कम होजाती है। वे यह भी सोचते हैं

रु अगर हम इसे पूरा यश न दे पायेंगे तो यह सेवा भी न देगा, तब यह तो एक व्यापारी कह-
नाया परोपकारी नहीं, लोगों के मन में यह भाव
आया कि कृतज्ञता कम हुई, और यही तो यश
की कमी है। इसलिये यश की पर्याह के बिना
लोकहित के काम में दृढ़ रहने से सच्चा हित
मिलता है। इसके निर्णय की कसौटी यह है कि
लोकहित और वर्तमान यश में अगर विरोध हो
तो, मनुष्य लोकहित की तरफ चला जाये। तब
समझा जायगा कि यश इसकेलिये गौण था।
तब महाकाल के यहाँ उसके यश का हिसाब
लिखा जाने लगेगा। इसलिये यश को गौण
रखना आवश्यक है।

अपने मुँह से अपने गीत गाने से यश नहीं
मिलता या कम होता है, इसलिये आत्मविज्ञापन
अच्छा नहीं समझा जाता। हाँ, सेवा की भावना
में यही वह आवश्यक होपड़े, सेवा का क्षेत्र
वैशाल्य करने के लिये उपयोगिता माहुर हो तो
यह अनिवार्य समझकर सर्वोचित रूप में किया
जासकता है। जैसे कई बीमार चिकित्सा कराना
चाहता हो, और हम उसके लिये अपरिचित हों, तो
उनका आत्मपरिचय उसे देना पड़ता है जिससे
उसमें निश्चिन्ता उत्पन्न लायक और चिकित्सा
के लिये उपयोगी अनुशासन मानने लायक
विश्वास पैदा होजाय। यही कारण है कि कभी
कभी लोकहित के लिये भी भाली या अप-
रिचित जनता के गाने एक पक्ष पर आत्म-
विज्ञापन करना पड़ता है जिसमें जनता उन्हें
परिचित करके उनके यश में सही मूल्य दे
सके और उभरे अनुशासन चक्र आत्म-कल्याण
पर मरे। उसमें यही बात जमी जासकती है कि
जनता को यह भविष्यतः ज्ञात होना चाहिये कि
उनके लिये यश की सेवा हमें किसी प्रकार
देना पड़ती है और यही सेवा ही है। मत-
लब यह है कि हमारा मुख्य लक्ष्य नृणात्मिका
के लिये यश नहीं है, समाजसेवा करने हुए
हमारे लक्ष्य में नाम का प्रयोग होना तो भले
हो, परन्तु हमें यश के लिये लोकहित

का बलिदान न करेंगे तो सच्चा यश पाजायेंगे,
अगर जीवन में वह दिखाई न देगा तो भविष्य
में मिलेगा और उसका दिव्यदर्शन हम आज ही
कर सकेंगे और उसका महत्त्वानन्द ले सकेंगे।
हां। जब यह महत्त्वानन्द घमण्ड पैदा करदे,
कृतज्ञता पैदा करदे, सेवा में बाधा डालने लग-
जाय तो दुःसुख होजाता है, इससे बचना चाहिये।

६-तप [तुपो] स्वपरकल्याण के लिये
विशेष साधना को तप कहते हैं। तप से भी
महत्त्व बढ़ता है और उससे आनन्द मिलता है।
पर कभी कभी तप का वाहरी प्रदर्शन तो होलाता
है पर उसके अनुरूप स्वपरकल्याण की साधना
नहीं होपाती, बल्कि उस साधना का लक्ष्य भी
नहीं होता, किसी तरह महत्त्व प्राप्त करना या
मुक्त में खानेपाने के साधन जुटाना ही उसका
लक्ष्य रहता है। यह एक तरह का ठगपन है इस-
लिये दुःसुख है। इससे दूर रहना चाहिये।

७-कला [चित्रा] विषयों को इस तरह
बनाना कि मन और इन्द्रियों का विशेष आक-
र्षण होसके, इसे कला कहते हैं। थोड़े खर्च में
अधिक आकर्षकता लाना इसकी सफलता की
कसौटी है। कला के द्वारा अच्छी-अच्छी कल्याण-
कर चीजें लोगों के पास पहुँचाई जासकती हैं,
इसकारण यह जनसेवा में बहुत उपयोगी होस-
कती है। पर विषयानन्द को मात्रा से अधिक
करने में इसका काफ़ी उपयोग होता है इससे
बचना और बचाना चाहिये। अपनी कला का
उपयोग विषयानन्द बढ़ाने के लिये कभी न
करना चाहिये। जो लोग कहते हैं कि कला कलाके
लिये है वे सफ़ी अधूरी बात कहते हैं। वास्तव में
कला मनु के लिये अत्यन्त स्वपरकल्याण के लिये
है। यह ठीक है कि कला एक पक्ष पर आनन्द
देती है, पर उसका असली उपयोग यह है कि
मनु को आनन्ददायकता के लिये मन और
इन्द्रियों को सचचा स्वपरकल्याण के पक्ष में
लाया जाय। तभी वह सम्मुख करवायगी।
उसमें आनन्द ही लालिया जाय और उसीने
मनु की मज्जा मानी जाय तो वह अतीत मनु

होगा। यदि कला से विपश्चान्यता पैदा होजाय, लगन का अकल्याण होने लगे तो वह दुःसुख कहलायेगी, ऐसी कला को और उसके महत्व का रक्षण ही करना चाहिये।

८-शक्ति [दुर्गे]—इच्छानुसार परिवर्तन करने में या परिवर्तन को रोकने में जो सामात और मुख्य कारण है ऐसी योग्यता को शक्ति कहते हैं। शक्ति शरीर की भी होती है वचन की भी होती है मन की भी होती है। इसकी विशेषता यह है कि इसके महत्व को सरलता से अस्वीकार नहीं किया जासकता, क्योंकि इसका परिचय प्रत्यक्ष मिलसकता है। इसके महत्व का अनुभव करना और उसका आनन्द लेना साधारणतः तो बुरा नहीं है किन्तु यह अन्याय का, अविनय का कारण न होजाय इसका ध्यान रखना चाहिये। नहीं तो यह दुःस्व होजायेगी, पाप होजायेगी।

साथ ही यह भी न भूलना चाहिये कि तन की शक्ति से वचन की शक्ति का और वचन की शक्ति से मन की शक्ति का महत्व अधिक है। तन की शक्ति तो पशुओं में भी पाई जाती है पर वचन शक्ति, उचित मात्रा में मनुष्य में ही है, और वचन शक्ति तो प्रायः हरएक मनुष्य में होती है पर मन शक्ति के लिये प्रतिभा विद्वत्ता चिन्तन धारणा संयम आदि अनेक गुणों की साधना करना पड़ती है। जो अपने अपने अक्षम पर सभी शक्तियाँ महान हैं फिर भी असाधारणता, अधिक उपयोगिता और जीवन के विकास की दृष्टि से तन से वचन और वचन से मन की शक्ति अधिक सहान है।

९-ज्ञान [इगो]—शास्त्र विचार या अनुभव से पाये हुए ज्ञानको विद्या [बुद्धि] कहते हैं और समझने या विचार करने की शक्ति का नाम बुद्धि [चानो] है। ये दोनों ही ज्ञान हैं और ज्ञान से ही महत्व मिलता है। हा। यह कहा जासकता है कि बुद्धि जन्मजात होती है और विद्या प्रयत्न से, साधना से, प्राप्त की जाती है। विद्या के द्वारा बुद्धि भी काफी सुसंस्कृत

होसकती है। ज्ञान की साधना करके महत्व प्राप्त करना चाहिये। परन्तु यदि इससे आत्म-गौरव नहीं अहंकार आया, बदमाशी करने की योग्यता बढ़ी और उससे पाप बढ़ा, कृतघ्नता आई तो यह दुःसुख होजायेगा।

१०-सौंदर्य (हूरो) शरीर की आकर्षक रचना का नाम सौंदर्य है। यद्यपि सौंदर्य शब्द का अर्थ आकार और रंग की अच्छाई है अर्थात् सिर्फ आन्व का विषय ही सुन्दर समझा जाता है पर यहाँ किसी भी इन्द्रिय या सब इन्द्रियों के अच्छे विषय से मतलब है इसलिये सौंदर्य व्यापक अर्थ [लंदूरो] में है। इसका अधिकांश महत्व जन्मजात है फिर भी शरीर की स्वच्छता स्वास्थ्य सुव्यवस्था से सौंदर्य की वास्तविक साधना की जासकती है। शृंगार भी बहुत मर्यादित होना चाहिये। अधिक शृंगार सौंदर्य का प्रदर्शन नहीं करता सिर्फ विभव का प्रदर्शन करता है या किसी गमार्त मनोवृत्ति का प्रदर्शन करता है। ऐस शृंगार से वचना चाहिये। किन्तु सुव्यवस्था सफाई आदि से सम्बन्ध रखने वाले और अपव्यय रूप न बनने वाले शृंगार में कोई बुराई नहीं है। सौंदर्य वाले कृत्रिम [गेमेक] हो चाहे अकृत्रिम (गेमिक, अमैमिक) उसका महत्वानन्द तब तक बुरा नहीं है जब तक वह समय शक्ति और कर्ष का अपव्यय न करे और जिसके कारण जैलापन का परिचय न मिले।

कुछ लोग अपने को साधु तपस्वी त्यागी आदि बताने के लिये इस व्यापक सौन्दर्य [लंदूरो] की तरफ उल्टा बताते हैं। गंदे रहना, अस्तव्यस्त रहना इसको वे वैराग्य आदि की निशानी समझते हैं पर यह या तो ठंभ है या मूढ़ता। अस्तव्यस्तता, गंदापन आदि योग्य कारण से चान्व्य कहे जासकते हैं पर ये प्रशंसनीय नहीं कहे जासकते, न त्याग वैराग्य साधुता के सिंगान माने जासकते हैं। सौन्दर्य का महत्वानन्द वहीं बुरा कहा जासकता है जहाँ उसका उपयोग बुराचार आदि के बढ़ाने में किया हो। वह वह दुःसुख है इसलिये त्यागने योग्य है।

११-असाधारणता-[नोपेसो] आवश्यकता प्रभावशक्तता उचित अनुचित का विचार न करते हुए, बहुतों का ध्यान र्विचारे लायक प्रदुमुता या विशेषता को रहा असाधारणता कहा गया है। विद्या बुद्धि सौन्दर्य आदि की असाधारणता का महत्व उनकी उपयोगिता के पीछे है। पर इसमें कोई उपयोगिता का विचार नहीं है सिर्फ कुतूहल के कारण उसके देनतेवालों या जमपट लगता है और इससे वह एक तरह की महत्ता पाजाता है। जैसे किसी ने न्यू लन्डे नाम बंदालिये तो इसमें कोई उपयोगिता का विचार नहीं है फिर भी देशवासियों आजायेंगे और महत्व बढ़जायगा। कोई सब से उंचा है राई सब से नीचा है, किसी मनुष्य के पंख निकल आई हैं, किसी बेल के तीन सीम आगव हो य सब असाधारणताएँ एक तरह का महत्व पैदा कर देती हैं पर ये सब व्यर्थ हैं। इसप्रकार के महत्व का आनन्द लेना भूलता है। ऐसी असाधारणताओं को पैदा करने की कोशिश न करना चाहिये। यदि न्यय पैदा होगा तो उनमें महत्त्वानन्द का अनुभव न करना चाहिये।

१२-दान (दानो) परोपकार के लिये अपनी सम्पत्ति या र्पण करना जान है।

१३-दाने (मिचो)-स्वपरकल्याण के लिये प्राप्त या अप्राप्त सम्पत्ति, सुविधाया या अन्य सुखकर वस्तुओं का छोड़ना त्याग है।

दान की अपेक्षा त्याग व्यापक और श्रेष्ठ है। दान भी एक तरह का त्याग है फिर भी दोनों में काफी अन्तर है—१-दान में अपनी आवश्यक सुविधाएँ बहुत अंशों में सुरक्षित रहती हैं और त्याग में आवश्यक सुविधाएँ अधिक अंशों में छोड़ना पड़ती हैं। २-दानी अज्ञानराला व्यक्ति अपना अर्थोपार्जन करता हो गया है और अर्थोपार्जन के तरीकों की मजदुर-अनुदतायी भी पक्का नहीं करना, जब कि त्यागी अज्ञानराला व्यक्ति को अर्थोपार्जन के मार्गों को छोड़ देता या मजदुर कर देता पड़ता है, और दाना भी पूरा त्याग करना पड़ता

है। ३-दानी संभ्रत शील भी होसकता है अतिसंभ्रत भी कर सकता है, त्यागी निरतिश्रही होता है। इस कारणों से दानीसे त्यागी श्रेष्ठ है।

दानी और त्यागी बननेसे महत्व भी मिलता है और उसका आनन्द उठाने में कोई बुराई नहीं है। हा। प्रदर्शन ऐसा न होजाय कि महत्व के लिये ही सब या त्याग किया है। महत्व के लक्ष्यमें दान और त्याग न करना चाहिये। नहीं तो वह निष्फल होजायगा।

१४ सेवा (मिचो) परोपकार के लिये अपनी शक्ति योग्यता समय आदि का उपयोग करना सेवा है। इससे भी महत्व मिलता है। उसका आनन्द लेना चाहिये। १। अहंकार न आने पाये ईर्ष्या न आने पाये दूसरे सेवकों का अपमान न होने पाये। नहीं तो वह दुःसुख होजायगा।

इसप्रकार महत्त्वानन्दों को प्राप्त करना चाहिये और वे दुःसुख न बनजायें इसका ध्यान रखना चाहिये।

आध्यात्म आनन्द रौद्रानन्द है। वह जय दुःसुख रूप होता है तब पापानन्द कहलाना है। यह बहुत बुरा आनन्द है। इसलिये पापानन्द में बचने रहना चाहिये। यह एक तरह से जैना-नियम की निशानी है।

इस प्रकार आठ या बत्तर तरह के सुख हैं।

प्रश्न—इन आठ प्रकार के सुखोंमें न तो काम सुख का उल्लेख है न मोक्ष सुख का। अगर ये आठ सुख कामसुख हैं तो मोक्षसुख का अलग उल्लेख क्यों नहीं किया गया ?

उत्तर—काम और मोक्षसुख के अलग उल्लेख की जरूरत नहीं है क्योंकि आठ प्रकार के सुख कामसुख भी होसकते हैं और मोक्ष सुख भी होसकते हैं। कामसुख परनिमित्तक होते हैं इसलिये पराधीन हैं मोक्षसुख अपनी भावनाओं से पैदा होते हैं इसलिये स्वाधीन हैं। काम मय बाहरी परिस्थिति के अनुसार होते हैं, मोक्षसुख आदमी परिस्थिति के प्रविष्टन रहने

पर भी हो जाते हैं। दूसरा कोई ज्ञान दे या ज्ञान की कोई बाहरी सामग्री मिले उससे जो ज्ञान-मन्त्र होगा वह कामजानानन्त्र [चिंग जानोशिमो] कहलायगा, पर अपने आप आप में लीन होकर जो दिव्यदर्शन किया जायगा, सत्सुखमय ज्ञान प्राप्त किया जायगा वह मोक्षमयज्ञानानन्त्र [जिन्न-जानोशिमो] होगा। प्रेम के आदान-प्रदान से जो आनन्द होगा वह काममय [चिंग] प्रेमानन्द होगा, किन्तु अपने आप लीन रहकर विश्व-प्रेम का जो अनुभव किया जायगा वह मोक्षमय [जिन्न] प्रेमानन्द होगा। जीवन की सामग्री पाकर जो आनन्द होगा वह काम जीवनानन्द कहलायगा, किन्तु जीवों की अनुकूल सामग्री न मिलनेपर भी जीवनमरण में समभाव के द्वारा जो एक तरह की तेराकुता या सन्तोष होगा वह मोक्षमय जीवनानन्द होगा। विनोद का आदान-प्रदान से काममय विनोदानन्द होगा किन्तु किसी के विनोद न करनेपर भी या गाली देनेपर भी जो भावजगत् में एक तरह का विनोद या मुमकःसह पैदा होगी जिससे बाहर का दुःख असर न करेगा, वह मोक्षमय विनोदानन्द होगा। जेल आदि के दण्डन से दूटनेपर जो स्वतन्त्रता का सुख होगा वह काममय स्वतन्त्रतानन्द कहलायगा पर दण्डन में रहते हुए भी दण्डनों की परवाह न करते हुए, मन में चीनता या दुःख का भाव न लाते हुए, आत्मा या मन को कौन दौध सकता है इसप्रकार स्वतन्त्रता का अनुभव करना मोक्षमय स्वतन्त्रतानन्द है। विपयों के मिलने से जो विपयानन्द मिलेगा वह काममय विपयानन्द कहलायगा, विपयों के न मिलनेपर भी या प्रति-

कृत मिलनेपर भी उसमें रस का अनुभव करना, जो मिला उसमें सन्तोष मानना या न मिला तो भी प्रसन्न रहना मोक्षमय विपयानन्द है। महत्त्व मिलनेपर उसका आनन्द होना काममय महत्त्वानन्द है पर महत्त्व न मिलनेपर भी अपनी अन्तरंग योग्यता के अनुसार भीतर ही भीतर महत्त्व का अनुभव करना, ईश्वर परलोक आदि की आशा से अपने अन्तरंग महत्त्व की सफलता से प्रसन्न रहना, या जीवन की वास्तविक महत्ता को समझकर बाहर से प्राप्त महत्ताओं की परवाह न करना आदि मोक्षमय महत्त्वानन्द है। रौद्रानन्द जो पापानन्दमय है उसका तो त्याग ही करना है पर पापियों को दंडित होते देखकर जो सन्तोष होता है वह बुरा नहीं है वह काममय रौद्रानन्द है, पर जब पापियों को दंडित न होते देखा जाय और इस आशा में सन्तोष माना जाय कि आज नहीं तो कल और यहाँ नहीं तो वहाँ, प्रकृति या परमात्मा दंड देंगे तो मोक्षमय रौद्रानन्द होगा। इसप्रकार आठों तरह के सुख काममय और मोक्षमय हो सकते हैं।

जीवन का अन्तिम ध्येय सुख बताया गया है। पर उस ध्येय को पाने के मार्ग में दुःख-सुख का जमघट लगा रहता है। बहुत से दुःख ऐसे होते हैं जो विश्वसुखवर्धन में बहुत उपयोगी हैं और बहुत से सुख ऐसे होते हैं कि उनसे विश्व-सुखवर्धन में बाधा पड़ती है इसलिये विवेकपूर्वक उनका विश्लेषण कर ध्येय मार्ग को निरूपण और स्पष्ट बनाना चाहिये।

चौथा अध्याय [जिनक होणगे]

योग दृष्टि (जिम्मो लंको)

जीवन के ध्येय के साथ मिलने का नाम योग है। ध्येय के मार्ग में जो व्यक्ति कभी आगे बढ़ता है और पर्याप्तमात्रा में मोक्ष सुख भी पाता है वह योगी है। योगी के मुख्य चिन्ह हैं जीवन की पवित्रता और मोक्ष। विवेक तो शरम्भ में ही आजाता है क्योंकि उसके विना ध्येय की प्रगति रुक जाती है। अन्य अनेक गुण भी पहिले प्राप्त होजाते हैं पर पवित्रता और मोक्ष दोनों अन्तिम विशेषताएँ हैं और सब से बड़ी विशेषता मोक्ष है। क्योंकि अन्य गुण वे लोग भी पाजाते हैं जो योगी नहीं होते हैं। पर मोक्ष पाने पर मनुष्य योगी होजाता है। यों थोड़ा बहुत मोक्ष हर एक के जीवन में दिखाई देसकता है, पर इतने से कोई योगी नहीं कहलाता है। योगी का जीवन मोक्षप्रधान होता है। काम के सिवाय किसी सुख की अधिकश पूति वह मोक्ष के द्वारा करता है। मार्ग की दृष्टि की सफलता योगी बनने में है।

योग चतुष्टय [जिम्मो जीने]

योगी के जीवन की सब से बड़ी विशेषता मोक्ष है। उस मोक्ष के अवलम्बन के भेद से योगी दो तरह के होते हैं। १- ध्यानयोगी (मुन्नाजिन्म) २- कर्मयोगी (कब्जोजिन्म), ३- ध्यान योगी तीन तरह के होते हैं। १- भक्ति योगी, २- संन्यासयोगी ३- विद्यायोगी। इसप्रकार योगी के जीवन के ये चार सहारे हैं जिनलिसे चार तरह के योगी हैं। इससे यह मतलब नहीं है कि एक योगी के जीवन में एक ही सहारा रहता है, इसका मतलब यह है कि मुख्य सहारा एक ही रहता है। बाकी तीन रहते हैं या मुख्य के पूरक रहते हैं।

रहते हैं।

इन चारों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। एक ही मनुष्य में चारों बातें पाई जासकती हैं परन्तु जिसमें जिस बात की मुख्यता है उसका योग उसी नाम से कहा जाता है। भक्त मनुष्य दुनिया के भगवों से निवृत्त होकर संन्यासी भी होसकता है विद्याव्यसनी भी होसकता है और अपने जीवन के आर्थिक तथा अन्य नायित्व को पूरा करनेवाला भी होसकता है, परन्तु यदि उसके जीवन में प्रधानता भक्ति की हो तो वह भक्तियोगी कहलायगा। इसीप्रकार अन्य योगी भी दूसरे योग का सहारा लेते हुए भी अपने योग की मुख्यता से उसी नाम के योगी कहे जावेंगे।

यहां यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि भक्ति में अधिक से अधिक समय लगा देने से कोई भक्तियोगी नहीं होजाता या कर्म में अधिक समय लगा देने से कोई कर्मयोगी नहीं होजाता। अधिकांश आदमियों का अधिकांश समय भक्ति में कर्म में पठन-पाठन में बीतता ही है पर इसलिये वे भक्तियोगी या कर्मयोगी नहीं होजाते। मुख्य बात योगी होने की है। पहिले यह देखना चाहिये कि वह योगी है या नहीं? योगी हो तो फिर विचार किया जायगा कि वह भक्तियोगी है या कर्मयोगी है या अन्य योगी है। योगी के जीवन में पर्याप्त मात्रा में विवेक निष्पापता तथा अवस्थासमभाव होता है। उसके होने के बाद ही यह देखा जाना चाहिये कि उसके जीवन में किसकी मुख्यता है, जिसकी मुख्यता हो उसे उसी नाम का योगी समझना चाहिये। योगी न होनेवाले बल भक्ति या विद्या आदि होने से कोई भक्तियोगी विद्यायोगी आदि नहीं कहाजासकता।

भक्ति योग [भजो जिम्मे]

किसी आदर्श की, ईश्वर की, या व्यक्ति की भक्ति आराधना उपासना आदि के सहारे से जो योगी-जीवन बिताया जाता है, निष्पाप जीवन बिताते हुए दुःखों पर विजय पाई जाती है वह भक्तियोग है। इस तरह की शरणागति से प्राणी को अनेक लाभ होते हैं। उनमें तीन लाभ उल्लेखनीय हैं।

१—सनाथतानुभव (सरबो इशे)

२—आदर्श दर्शन (चाम दीरो)

३—मर्यादा पालन [रामो रंबो]

१—सनाथतानुभव—जिसकी हम भक्ति करते हैं वह हमारा रक्षक है, सहारा देने वाला है, कद्र करनेवाला है इसप्रकार अतुल्य से प्राणी को परमसन्तोष होता है। निराशा पर वह विजय पाता है। अगर इस दुनिया में उसकी कोई कद्र नहीं करता, अपमान करता है तब भी वह अपने इष्ट के सहारे उसे सहन कर जाता है और सपथ का त्याग नहीं करता। इसप्रकार का अनुभव ईश्वर की भक्ति से अथवा ईश्वर के स्थानपर माने गये गुरुदेवों की भक्ति से मिलता है।

मानव ने पकड़ा नहीं यदि मानव का हाथ ।
फिर भी कौन अनाथ जब ईश त्रिलोकीनाथ ॥
सत्यभक्त की जगत ने अगर न की पराह ।
ईश्वर के दरबार में रही उसी की चाह ॥
सत्यभक्त असहाय धन दर दर पड़े फूल ।
पर ईश्वर के द्वार पर उस पर घर से फूल ॥
जब कि निराशा घेरले बड़े जगत का ताप ।
देता आश्वासन तभी ईश्वर माईबाप ॥
सत्यभक्त को जगत ने दी गालियाँ हजार ।
पर ईश्वर ने प्रेप से लिखा उसे पुचकार ॥
भक्त अकेला पड़ाथा रहा न कोई साथ ।
तब ईश्वर ने प्यार से पकड़ा उसका हाथ ॥
चिपड़ाएँ करने लगी सभी ओर से चोट ।
सत्यभक्त ने ही तभी सत्येश्वर की ओट ॥
सत्येश्वर की साधना कभी न मारी जाय ।
यह हुंड़ी ऐसी नहीं जो न सिकारी जाय ॥

२—आदर्श दर्शन—जिसकी हम भक्ति करते हैं वह हमारा आदर्श होता है इसलिये उसका अनुकरण करने की, उसकी तरफ चलने की, कर्तव्यकर्तव्य का निर्णय करने की हमें सुविधा और प्रेरणा मिलती है।

यह प्रेरणा व्यक्तिदेवों से अर्थात् देवोपम महामानवों से विशेष रूप में मिलती है। ईश्वर, या ईश्वर के समान माने गये गुरुदेवों से विशेषतः सनाथतानुभव मिलता है और महामानवों से विशेष रूप में आदर्शदर्शन मिलता है। जो ईश्वर सन आदर्शों का आदर्श होने से उससे आदर्शदर्शन भी मिल सकता है, पर वह बहुत उच्च होने से उसका अनुकरण करने में मनुष्य ढीला पड़जाता है। फिर भी महामानवता में उसीका अंश माना जाता है इसलिये एक तरह से उसके द्वारा आदर्शदर्शन भी होता है।

इस आदर्शदर्शन से मनुष्य का जीवन पवित्र और सत्यशान्ति बनता है।

३—मर्यादा पालन—भक्ति से मनुष्य मर्यादा का पालन भी करने लगता है। ईश्वर या देवपर श्रद्धा होने से वह पाप से डरता है। कर्मफल का विश्वास होता है इसलिये अंधेरे में भी पाप नहीं करता। पाप की भावना पैदा होनेपर उसमें अन्तर्दश होता है इसलिये पाप से घबराता है। इसप्रकार वह कर्तव्य की मर्यादा के बाहर जाने से रुकता है।

श्लोभनो का जाल ले जब आया शैतान ।
तब ईश्वर ने भक्त के छाँचे दोनों कान ॥
सारा लालच उड़गया हुआ भक्त का मान ।
वह चौकड़ा होगया हार गया शैतान ॥
पापों का अबसर मिला खूब मिला पकात ।
पर ईश्वर था देखता पाप रहे सब शान्त ॥

इसप्रकार भक्ति से ये तीन लाभ होते हैं। परन्तु ये लाभ होते हैं तभी, जब भक्ति ज्ञानमत्त हो। स्वार्थभक्ति या अन्धभक्ति न हो।

या तो भक्ति-निमित्तभेद से अनेक तरह की होती है परन्तु उसके मुख्य भेद तीन हैं।
१ ज्ञानभक्ति २-स्वार्थभक्ति. ३-अन्धभक्ति ।

१-ज्ञानभक्ति (अंक भजो) ज्ञान का प्रथम यह विवेक है इसलिये मानवमाया में इस विवेकमय [अंक भजो] कहा गया है। जो भक्ति, गुणानुराग, या विश्वकल्याण की भावना से सच्ची समझारी के साथ की जाती है वह ज्ञानभक्ति है। इसमें अविवेक नहीं होता दुःस्वार्थ भी नहीं होता। जो विश्वकल्याण का मूल है या अंग है, विश्वकल्याण में सहायक है, या प्रेरक है, कल्याणपथ में अपने से ऊँचे बढ़ा है, उसकी गुणानुराग और कृतज्ञता से जो भक्ति की जाती है वह ज्ञानभक्ति है।

ज्ञानभक्ति में भी स्वार्थ रहता है या होसकता है पर वह विश्वकल्याण का अंग बनकर रहता है। विश्वकल्याण के विरुद्ध जाकर या उसकी उपेक्षा करके नहीं होता। जैसे-एक शिष्य किसी सद्गुरु की भक्ति करता है क्योंकि सद्गुरु से उसे ज्ञान मिला, सहाचार आदि के संस्कार मिले, अनुभवता का पाठ पढ़ाया तो इस भक्ति में स्वार्थ होनेपर भी ज्ञानभक्ति है क्योंकि गुरु का वह उपकार विश्वकल्याण के अनुकूल है, इसमें गुरुको, सर्वोपकारी या परोपकारी माना जाता है। परन्तु एक व्यक्ति ने चोरी करने में मदद की, इसलिये चोर उसका भक्त होगा तो वह स्वार्थभक्ति होगी, क्योंकि इसमें विश्वकल्याण के विरुद्ध दुःस्वार्थपरता है। ज्ञानभक्ति में ऐसी दुःस्वार्थपरता नहीं होती। वह जगत्कल्याण के अनुकूल होती है।

स्वार्थभक्ति [लुभं भजो]-विश्वकल्याण की पर्याप्त न करके अपनी स्वार्थपरता के कारण जो भक्ति की जाती है वह स्वार्थभक्ति है। इस भक्ति में भक्तिपात्र के गुण दोषों का, पुण्य पाप का विचार नहीं होता सिर्फ अपने स्वार्थ का विचार होता है। स्वार्थ की मुखरता के कारण यह स्वार्थभक्ति बह जाती है।

प्रश्न—एक सद्गुरु के यहाँ कोई नौकर हो और वह उसका भक्त हो तो उसे स्वार्थभक्ति कहेगी या ज्ञानभक्ति ?

उत्तर—नौकर आदि प्रायः स्वार्थभक्त होते हैं। पर ऐसे भी समझदार नौकर होसकते हैं जो गुरु आदि के पारलौं हैं। ऐसे नौकर ज्ञानभक्त होसकते हैं। वे नौकरी छूट जाने पर भी भक्ति न छोड़ेंगे, कृतज्ञ न बनेंगे, अगर अपना कोई पाप-गोप हुआ हो और इस कारण नारिक ने दुर्जन्य-हार किया हो उपेक्षा की हो तो भी भक्ति न छोड़ेंगे।

प्रश्न—विद्यार्थी द्वारा अध्यापक की भक्ति, या शिष्य द्वारा गुरु की भक्ति ज्ञानभक्ति है या स्वार्थभक्ति ?

उत्तर—होता तो चाहिये ज्ञान भक्ति, परन्तु होसकती है स्वार्थभक्ति भी। जहाँ कृतज्ञता हो, अन्याय का समर्थन करालेने की लालसा हो, अपने ऊपर उचित अनुश्रुति रखने के कारण द्वेष हो वहाँ समझना चाहिये कि स्वार्थ भक्ति है। यदि गुणानुराग, और गुणज्ञान हो, अनुशासन से द्वेष न हो तो समझना चाहिये ज्ञानभक्ति है। थोड़ा देकर भूत बोनकर अपना काम निवालेने की इत्त हो वहाँ किसी प्रकार की भक्ति नहीं है। वहाँ सिर्फ दल है सायाचार है ठगपन है।

प्रश्न—भक्तिमात्र स्वार्थमूलक है। मनुष्य यो ही किसी की भक्ति नहीं करता, कुछ मतलब से ही करता है। ईश्वर की भी भक्ति हम इसलिये करते हैं कि उसकी दया से हमारा कोई न कोई स्वार्थ सिद्ध होता है। ऐसे ही स्वार्थ से दानी, परोपकारी, समाज सेवकों साधुओं की भी भक्ति की जाती है। संकट से कोई हमारा बट्कार करे और हम उसकी भक्ति करे तो ऐसे बट्कारक की भक्ति में स्वार्थभक्ति क्यों कहना चाहिये ? यह तो ज्ञानभक्ति है।

उत्तर—स्वार्थ रहने पर भी ज्ञानभक्ति होसकती है, वह इस बातपर निर्भर है कि भक्ति करने वाले का मन कैसा है। स्वार्थ अगर विश्वकल्याण का अंग है तो ज्ञानभक्ति है अन्यथा स्वार्थभक्ति है। संकट में से किसी ने हमारा

उद्धार किया, इससे हमारे मन में यह विचार आया, कि यह आत्मी बहुत परोपन्न है, इसने बिना किसी स्वार्थ या ज्ञान-रहिचान के मेरा उद्धार किया यह पूछा है। इस प्रकार परोपकारी मानकर अगर हम भक्ति करेंगे तो वह भक्ति स्थिर रहेगी और वह कोई अनर्थ पैदा न करेगी। अब कल्पना करो वह उद्धारक कौन है हमारा निरीक्षक या न्यायी वना और उसने अराधक का उचित ईश दिया, तो उससे दंड पाकर भी हम उसको भक्ति रखेंगे, और उसकी उद्धार-कता या उपकार की रात्रा को न तो भूनेंगे न कम करेंगे। तब हम ज्ञानभक्त कहलायेंगे, अन्यथा जितने अंशों में भक्ति कम होगा उतने अंशों में वह स्वार्थभक्ता साबित होगी। स्वार्थ-भक्ति थोड़े से ही आप्रिय परसंग से या आगे स्वार्थ की आशा न रहने पर नष्ट होजाती है या कम होजाती है, वह न्याय-अन्याय की पर्याह नहीं करती, सिर्फ स्वार्थ की पर्याह करती है। किसी ने आज स्वार्थसिद्ध कर दिया, भले ही वह अन्याय से कर दिया हो, तो भक्ति होगई, कल स्वार्थ सिद्ध न हुआ, भले ही न्याय या औचित्य के कारण उसने स्वार्थसिद्ध करने से इनकार किया हो तो भक्ति नष्ट होगई। यही भक्ति स्वार्थ-भक्ति है। ज्ञानभक्ति ऐसी चंचल नहीं होती न उससे अन्याय को उतेजन मिलता है। ज्ञानभक्ति उस व्यक्ति की भी होगी जिसने हमारा भले ही उपकार न किया हो पर जगत का उपकार किया हो। स्वार्थभक्ति ऐसे व्यक्ति की उपेक्षा करेगी।

ईश्वर की भक्ति भी ज्ञानभक्ति स्वार्थभक्ति या अन्धभक्ति होसकती है। ईश्वर को आदर्श मानकर उस आदर्श की ओर बढ़ने के लिये भक्ति कीजाय, उसे नियन्ता मानकर पाप से बचने के लिये भक्ति की जाय, उसे हितोपदेश मानकर उसकी आज्ञा का पालन करके पवित्र जीवन धनाने के लिये भक्ति की जाय, अपने को पाप और प्रलोभनों से हटाने के लिये आत्मसमर्पण के उद्देश से भक्ति की जाय तो यह ज्ञानभक्ति है। विनयात पाप करके उसपर मासी की मुहर लग-

वाने के लिये भक्ति की जाय तो स्वार्थभक्ति है विनय समने रुद्धिवा भक्ति की जाय तो अन्ध-भक्ति है।

प्रश्न—जैसे स्वार्थ से भक्ति होती है उसी प्रकार भय से भी होती है। साधारण जनता बड़े-बड़े अफसंगे से जो भक्ति करती है वह इसलिये न। कि अफसरा से वह किसी भलाई की आशा करती है, किन्तु इसलिये कि नाराज होकर कुछ दुर्गाई न करे। इस प्रकार धर्म के नामपर भी शनैशर आदि की पूजा की जाती है यह सब भयभक्ति है। भयभक्ति को स्वार्थभक्ति के समान अलग भेद क्यों नहीं बताता ?

उत्तर—भक्तियों का सूत्र विश्लेषण किया जाय तो भयभक्ति के अनेक भेद बताये जायेंगे। जैसे कि आगे भक्तजीवन प्रकरण में बताये गये हैं। पर यहाँ तो शार्ङ्ग-पुराण के रापतौल की दृष्टि से सब भक्तियों को तीन भागों में या तीन जातियों में बांट दिया गया है। यहाँ भयभक्ति स्वार्थभक्ति में शामिल है। शार्ङ्गवासना दो तरह की होती है एक आशा पूरक (आशोभ) दूसरी हानिरोधक (मुग्धोद) आशापूरक में कुछ पाने की इच्छा रहती है और हानिरोधक में हानि से बच। ही। वीना ही स्वार्थ है। भयभक्ति में यही हानिरोधक शार्ङ्गवासना रहती है इसलिये इसे स्वार्थभक्ति के प्रकरण में डालना चाहिये।

प्रश्न—भयभक्ति या स्वार्थभक्ति को भक्ति क्यों कहना चाहिये वह तो एक तरह का छल कपट या मायाचार है। अन्धे शब्दों में इस शिष्टाचार भी कह सकते हैं पर यह भक्ति तो नहीं है।

उत्तर—स्वार्थभक्ति [लुभ भक्त] शिष्टा-चार [तुम] और चापचूसी [रन्ध्र] के बहुत पास है, फिर भी उनमें अन्तर है। जहाँ भक्ति है वहाँ विनय अनुराग का प्रवेश मन में है, शिष्टा-चार और चापचूसी में मन के विनयका विचार नहीं किया जाता। बल्कि इसमें चञ्चलता भी होसकती है स्वार्थभक्ति या भयभक्ति में यह बात नहीं है।

है। उसमें मन रोग जाता है। एक ईशानन्दार नौकर अपने गुणहीन जालिक का भी भक्त बन जाता है, स्वार्थ से उसके मनपर मानिक को नफ़्ता की छत्र बैठ जाती है, और उसमें अनुराग भीतर से आ जाता है। जहाँ मनवर महत्ता की छत्र है। और प्रेम हो वहाँ भक्ति समझना चाहिये। जहाँ वे दोनों या दो में से कोई एक न हो वहाँ सिर्फ शिष्टाचार रह सकेगा, भक्ति नहीं।

अन्धभक्ति (उत्तं याशे) बिना समझे, हिताहित का विचार किये बिना कुलसंग्राम आदि के सागु जो भक्ति होती है वह अन्धभक्ति है। इसमें विवेक नहीं होता और हृत्ता जहरन से अधिक होती है। युद्ध को कोई नई बात जब जाय आर पुरानी बात ठीक न मालूम हो तो भी वह पुरानी को भक्ति करता रहेगा। मतलब यह कि अन्धभक्त किसी युक्ति तक अनुभव की पर्वाह नहीं करता।

प्रश्न—ज्ञानभक्त भी अपने विचारों पर इतना दृढ़ रहता है कि वह किसी की पर्वाह नहीं करता नय क्या उसे भी अन्धभक्त कहेंगे।

उत्तर—अन्धभक्त और ज्ञानभक्ती लाप-
कारी से अन्तर है। अन्धभक्त बिना विचारों लाप-
कारी पड़ता है पर ज्ञानभक्त निपट हृदयम
मान समझकर किसी मन्त्र पर प्रदा कर अन्ध-
पर लापकारी पड़ता है। ज्ञानभक्त जब युक्त
अनुभव से निपटता पूर्वक सम्पूर्ण विचार का
तोता है और उसका विचार जब यज्ञ का नय
भारण कर लेता है तब वह कोई भी नई दुःख
उत्तर या युक्ति अनुभवमन्त्र आने तक उसका
विचारन न विचारना चाहता है, तब ज्ञानभक्त
उसकी पर्वाह नहीं करता है। प्रश्नवाचक को बार
विचार करना है कि जब वे या वेमें न विचार
अपने मानना करते हैं तब वे बार बार न परी-
क्षा में भी नार नहीं। किन्तु देना तब वह लाप-
कारी अपने पड़ता है उस लापकारी ने मूल से
अन्धभक्त का पड़ान नहीं किन्तु ज्ञान की सम्भी-
ता है। इस कारण ज्ञानभक्त की लापकारी में
नहीं ज्ञानभक्त की लापकारी में नय पड़ता है।

प्रश्न—भक्ति योगी ज्ञानभक्त भले ही रहे
पानु भक्ति से किसी को योगी मानना क्या
उचित है? भक्ति तो एक तरह का मोह है
मोही को योगी कहना कहां तक ठीक है? भक्ति
और योग का एक तरह से विरोध है?

उत्तर—भक्ति में कोई योगी नहीं कह-
लाता, योगी तो निष्पाप जीवन और जीवनमें
भोच प्राप्त करनेसे कहलाता है पर उस जीवन
के लिये जो योगी भक्ति का सहारा लेता है वह
भक्ति योगी कहा जाता है। भक्ति उनके लिये
व्यवस्थित मात्र है। भक्ति के द्वारा उसने आत्म-
समर्पण किया है इसलिए उसका अहंकार नष्ट
होगया है, दुःखोसनाएँ दब गई हैं, इष्टभक्ति से
लान होने से दुनिया की चोट उनके मनपर ऐसा
पाव नहीं कर पायी जिससे वह विराडा संज्ञाय
इष्ट प्राप्ति का आशा से वह अपने को इतना
असफल नहीं मानता कि सफलता के लिये वह
पाप में प्रवृत्त होजाय, इस प्रकार इसी भक्ति
भीतरी नष्ट में सफल और शुद्ध होनेपर योग को
सहारा देती है। केवल सज्जन करने में कोई भक्त
योगी नहीं होजाता।

भक्ति को मोह कहना अनुचित है। स्वार्थ-
भक्ति और अन्धभक्ति मोह कहलाती है ज्ञान-
भक्ति नहीं। ज्ञानभक्त में विवेक रहता है।
जहाँ विवेक है वहाँ मोह नहीं।

प्रश्न—योगी किसी का भक्त नहीं होस-
कता। योगी तो संन्यास मन्त्रकृत प्राणी है
उन्से कनन कोन है? जिनकी वह भोच करेगा।

उत्तर—योगी अगर ईश्वरवादी है तो वह
ईश्वर की भक्ति करेगा। अगर ईशान्वीश सम्बन्ध-
वादी अर्थात् मन्द्यवरवादी है तो वह मन्द्य की,
तथा अनेक गुणदेवों की भक्ति करेगा। प्राणियों
में वह सर्वोद्देश्य ज्ञानरता है किन्तु ईश्वर का
सर्वोद्देश्य के माना वह तब है और अपनी
बहुता रा उसे ठीक ठीक नाम भी है। परन्तु
प्राणीवरवादी में वह अनुभव या सिद्धांतभक्त
होगा। मानना तो मनुष्य अपने के लिये भी

वद गुण को या सिद्धांत को ईश्वर का रूप न देगा, फिर भी उसकी वृद्ध भक्ति करेगा।

प्रश्न—क्या व्यक्तियों की भक्ति नहीं की जा सकती अथवा क्या व्यक्तियों की भक्ति करने से योगी नहीं बना जा सकता ?

उत्तर—व्यक्तियों की भक्ति दो कारणों से की जा सकती है एक तो कृतज्ञता के कारण, दूसरे गुणाधिकता के कारण। योगी मनुष्य स्वयं-बुद्ध भी हो सकता है और दूसरा के लिये हुए ज्ञान को गहर भी योगी हो सकता है। स्वयंबुद्ध तो सैकड़ों में एक ही होते हैं यात्री दूसरों के द्वारा लिये हुए ज्ञान से होते हैं वे योगी होना पर भी ज्ञानाशा या कर्माश्रय गुरु की भक्ति सेना आश्रय आदि करते हैं। दूसरा कारण यह है कि योगी होना पर भी गुणों की दृष्टि से तरतमता होती है। जनसेवा के लिये उपयोगी वाहरी गुणों में तथा व्यवहार कुशलता में एक योगी दूसरे योगी से न्यूनाधिक हो ही सकता है किन्तु जीवन की निष्पापता और मोक्ष में भी थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है। भावावेगों की तरतमता कर्माश्रयताओं की तरतमता आदि अनेक तरह की पारस्परिक तरतमता योगिया में होती है। हा। वे सब के सब जनसाधारण की अपेक्षा भी ज्ञानाशा या पश्चात्तानु गुरु की भक्ति सेवा आश्रय आदि करते हैं। दूसरा कारण यह है कि योगी होना पर भी गुणों की दृष्टि से तरतमता होती है। जनसेवा के लिये उपयोगी वाहरी गुणों में तथा व्यवहार कुशलता में एक योगी दूसरे योगी से न्यूनाधिक हो ही सकता है, किन्तु जीवन की निष्पापता, और मोक्ष में भी थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है। भावावेगों की तरतमता, कर्माश्रयताओं की तरतमता आदि अनेक तरह की पारस्परिक तरतमता योगिया में होती है। हा। वे सबके सब जनसाधारण की अपेक्षा काशी पवित्र और विशिष्ट होते हैं। उन्हें पयाम मात्रा में मोक्ष भी प्राप्त रहता है इसलिये उन सब को योगी तो कहना चाहिये फिर भी उनमें तरतमता हो सकती है इसलिये गुणाधिक की भक्ति

अन्वभक्ति न बन जाय इसका ध्यान रखना चाहिये। व्यक्ति का अवलम्बन लेकर अगर कोई मनुष्य जीवन की पवित्रता और मोक्ष को प्राप्त करता है और सुरक्षित रह सकता है, तो उसे भक्ति योगी कहेंगे। सच तो यह है कि ऐसा भक्ति योगी व्यक्ति की ओर से ईश्वर को या गुणों की भक्ति करता है।

संन्यास-योग [मेमिचो जिम्नो]

बुद्धता आदि शारीरिक अशक्ति अथवा मानसिक थकावट या समाज-सेवा के कार्य में अपनी विशेष उपयोगिता न रहने के कारण समाज संवर्ष का क्षेत्र छोड़ कर ऐहिक दुःखों की परीक्षा किये बिना निष्पाप जीवन व्यतीत करना संन्यास-योग है। संन्यास में निवृत्ति-प्रयत्न निष्पाप जीवन संन्यास-योग है।

यह योग युवावस्था के व्यतीत हो जाने पर ही धारण करना चाहिये। इसमें भी योगी ज्ञानां विशेषताएँ पाई जाती हैं, निष्पाप जीवन और दुःखविजय। इनसे दुःख-मोक्ष और सुख-प्राप्ति होती है।

भक्तियोग की तरह यह भी आपवाधिक मार्ग है जिनमें कभी कभी इसकी भी आवश्यकता पड़ जाती है। अचित्त प्रवसर पर यह अच्छा है। पर जो लोग सिर्फ भिक्षा भागने के लिये, आससी जीवन प्रिताने के लिये या अपनी पूजा कराने के लिये संन्यास का दाग करते हैं अपने आवश्यक कर्तव्य से मुँह मोड़ कर, भाग के मोक्ष वम जाते हैं वे प्रवश्य ही निष्क हैं। वे योगी नहीं हैं। संन्यास-योगी अपने आपमें सदा रहता है वह दुनिया को नहीं सताता अ, दुनिया उसे सताये तो परीक्षा नहीं करता शिष्टानुग्रह (भला की भलाई) दुष्ट- [भुरा की दुःख] उसके जीवन में गौण है समाजजी होन के साथ वह स्वावलंबी, पय, प्रिय, तपस्वी और सहिष्णु होता है।

प्रश्न—भक्ति-योग और संन्यास-योग क्या अन्तर है ?

उत्तर—जो नो ध्यान योग हैं इस विषय में लोगों में बहुत कुछ समझना है। अन्तर इतना ही है कि भक्ति योगी का मन, वचन, शरीर किसी कल्पित या अकल्पित देव की उपासना गुणगान आदि में लगा रहता है और संन्यास योगी के जीवन में ऐसी भक्ति या तो होनी नहीं है या नाममात्र की होती है, इसकी सुखता नहीं होती। संभव है उस देव को पाना या उस में लीन होजाना उस संन्यास-योगी का ध्येय हो, परन्तु वह ध्येय ध्येय दिशा का सकेत-मात्र करना है वह विनियोग में भर नहीं जाना जब कि भक्ति योगी की विनियोग में भक्ति भरी रहती है।

प्रश्न—संन्यास अगर युवावस्था में लिया जाए तो क्या बुराई है? म. महावीर म. बुद्ध आदि ने युवावस्था में ही संन्यास लिया था।

उत्तर—ये लोग संन्यास-योगी नहीं थे कर्म-योगी थे। ये तीक्ष्ण थे, तीर्थ की रचना कर्म-शीलता के बिना कैसे हो सकती है? इनका जीवन समाज सेवक का जीवन था, समाज के साथ संगर्ष इन्हें करना पड़ा, सामाजिक और धार्मिक क्रांति इनने की। प्रचारक बनकर गांव गांव सत्यवा प्रचार किया। ये तो कर्मशीलता की मूर्ति थे इन्हें संन्यास-योगी न समझना चाहिये।

प्रश्न—गृह-त्याग के बाद इन लोगों का जीवन संन्यासी जीवन ही था। ये सुख दुःख की परवाह नहीं करते थे, समाज की परवाह नहीं करते थे, तपस्या में लीन रहते थे, एकान्त-प्रिय थे इस प्रकार संन्यास के सारे चिह्न इनमें मौजूद थे फिर ये कर्मयोगी कैसे?

उत्तर—साधकावस्था में अवश्य ये लोग संन्यासी थे, पर उनका संन्यास कर्मयोगी बनने की साधना मात्र था। जिस तरह की समाज सेवा ये करना चाहते थे उसके लिये कुछ बर्तन वैसे संन्यासी जीवन बिताना जरूरी था। इसलिये इनका संन्यास कर्म की भूमिका होने से कर्मयोग में ही शामिल समझना चाहिये।

प्रश्न—तब से तो ये लोग आत्मशान्ति के

लिये निकले थे, जगत्सेवा करना या तीर्थ रचना करण उस समय इनका ध्येय नहीं था। यह बात तो उन्हें तपस्या करते करते सूझ पड़ी।

उत्तर—ये लोग किस ध्येय से निकले थे इस बात की ऐतिहासिक मीमांसा करने की यहां जरूरत नहीं है। अगर ये जनसेवा के लक्ष्य से नहीं निकले थे तो तीर्थ-रचना के प्रयत्न के पहिले तक संन्यासी थे। अगर जन सेवा के ध्येय से इनने गृहत्याग किया था तो गृह-त्याग के बाद से ही ये कर्मयोग के पथिक थे। जैसे युद्ध करना और युद्ध की सामग्री एकत्रित करना एक ही वायंभारा है वही प्रकार कर्म का ना और कर्म-साधना करना दोनों की एक धारा है।

प्रश्न—म. महावीर और म. बुद्ध ने तो तीर्थ रचना की इसलिये उन्हें कर्मयोगी कहा जाय तो ठीक है। पर उनके सैद्धांत शिष्य, जो गृह-त्याग करते थे, उन्हें संन्यास-योगी कहा जाय या कर्मयोगी।

उत्तर—उन में योगी कितने थे यह कहना कठिन है पर उन में सिन्धु योगी थे उन योगियों में अधिगता कर्मयोगी थे। म. महावीर के शिष्य एक सत्य तीर्थ के प्रचार के लिये स्वयंसेवक बने थे। शांति और क्रांति का संगठन करने के लिये वे प्रीतिन दृष्ट थे, दुनिया से दृढ़ परात सेवन के लिये तैयार, इसलिये वे संन्यासयोगी नहीं बने जा सकते, कर्मयोगी ही बने जा सकते हैं। हा, उन में से बहुत सी हो सकते हैं जो सिर्फ आत्मशान्ति के लिये म. महावीर के संघ में आये थे, जनसेवा जितने लिये मौख बात थी वे संन्यास योगी कहे जा सकते हैं।

प्रश्न—जिस व्यक्ति ने कुछ सुदुस्व या धन पैसे का त्याग कर दिया ऐसा त्यागी वास्तव में संन्यासी ही है वह जनसेवा करे तो भी उसे कर्मयोगी कैसे कह सकते हैं, कर्मयोगी तो गृह-त्याग ही हो सकता है।

उत्तर—कर्मयोग ऐसा संकुचित नहीं है कि वह किसी आश्रम की सीमा में रुक जाय।

जहां जीवन की जिम्मेदारियों को पूरा किया जाता हो और समाज के प्रति अपने दायित्व पर उपेक्षा नहीं की जाती हो वहां कर्मयोग ही है। फिर वह व्यक्ति चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी। जो गृह-कुटुम्ब का त्याग विश्व-सेवा के लिये करते हैं वे गृहस्थ कहलाये या न कहलाये वे कर्मयोगी हैं। गृह-कुटुम्ब के त्याग से तो उनमें सिर्फ इतना ही साधित किया है कि उनके कौटुम्बिक स्वार्थ अब मंजूर नहीं है। उनकी कुटुम्ब सेवा की शक्ति भी अब विश्वसेवा में लगेगी। इस प्रकार कर्म करने के रंग ढंग बदल लेने से किसी की कर्मयोगिता घट नहीं जाती।

प्रश्न—कर्मयोगियों की नामावलि में महात्मा कृष्ण राजर्षि जनक आदि गृहस्थों के नाम ही क्यों आते हैं ?

उत्तर—इसलिये कि कर्मयोग की कठिन परीक्षा यहीं होती है और उसका व्यापक रूप भी यहीं दिखाई देता है। कर्मयोगी बनने में संन्यासी को जितनी सुविधा है उतनी गृहस्थ को नहीं। संन्यासी का स्थान साधारण समाज की दृष्टि में स्थभाव से ऊँचा रहता है इसलिये मान अपमान और लाभालाभ में उसका गौरव नष्ट नहीं होता। कुछ शारीरिक असुविधाएँ ही उसे उठाना पड़ती हैं पर समाज की दृष्टि में वे भी उसके लिये भूपण होती हैं। लेकिन गृहस्थ को वह सुविधा नहीं होती। गृहस्थ-योगी को योगी की सारी जिम्मेदारियाँ तो उठाना ही पड़ती हैं साथ ही समाज के द्वारा उस योगी को मिलने-वाली जितनी विरक्तियाँ हैं वे सब भी सहना पड़ती हैं इसलिये संन्यासी को अपेक्षा गृहस्थ को योगी बनने में अधिक कठिनाई है। फिर संन्यासी समाज के लिये कुछ न कुछ योग्य होना है इसलिये भी सब के अनुकरणीय नहीं है। अगर गृहस्थ-रूप में सारा जगत कर्मयोगी होजाय तो जगत स्वर्ग की कल्पना से भी अच्छा बन जाय परन्तु अगर सब संन्यासी हो जायें तो जगत नील दिन भी न चले इसलिये संन्यासी समाज के लिये अनुकरणीय भी नहीं है। संन्यासी की

सेवाएँ इकरंगी होती हैं जब कि गृहस्थ की सेवाएँ नाना तरह की होती हैं इसलिये कर्मयोग का व्यापक और उच्च रूप गृहस्थ में दिखाई देता है, संन्यास में नहीं।

आदर्श कर्मयोगी गृहस्थ होगा संन्यासी नहीं। इन सब कारणों से कर्मयोगियों की नाम-माला में गृहस्थ योगी ही मुख्य-रूप में बताये जाते हैं। खैर, प्रसिद्धि, उदात्तता, आदि की दृष्टि से किसी का भी नाम लिखा जाय परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि संन्यासी, कर्मयोगी नहीं होते हैं। कभी कभी असाधारण जनसेवा के लिये संन्यास लेना अनिवार्य हो जाना है उस समय संन्यासी-कर्मयोगी बनना ही उचित है। जैसे म. महावीर, म. बुद्ध, म. ईसा आदि बने थे।

प्रश्न—गृहस्थ से साधु उच्च है और साधु से योगी उच्च। गृहस्थ जब साधु ही नहीं है तब वह योगी क्या होगा ? यदि होगा तो गृहस्थ और साधु में अन्तर क्या रहेगा ?

उत्तर—साधु की उच्चता और योगी की उच्चता अलग अलग तरह की है। साधु इसलिये उच्च है कि वह कम से कम लेकर समाज के लिये अधिक से अधिक या सर्वस्व तक देता है जब कि गृहस्थ लेन देन का हिसाब रखता है, इसलिये गृहस्थ से साधु उच्च है। पर ऐसा भी साधु होसकता है जो योगी न हो। योगी जीवन्मुक्त होता है, उसने मोक्ष प्राप्त कर लिया होता है, उसका जीवन पवित्र अर्थात् निर्दोष होता है। फिर भी होसकता है कि साधु न हो कम लेकर अधिक देने की नीति के अनुसार उसका जीवन न बना हो। ऐसी श्रुत में वह योगी कहा जासकता है साधु नहीं। बहुत से ध्यानयोगी योगी होनेपर भी साधु नहीं होते। इसलिए माधु और योगी दोनों महान होनेपर भी प्रौर एक दृष्टि में योगी साधु से महान होनेपर भी ऐसा होसकता है कि एक आदमी योगी हो पर साधु न हो, या माधु हो पर योगी न हो। इन दृष्टि स चार श्रेणियाँ बनती हैं।

- १ योगी साधु
- २ योगी गृहस्थ
- ३ अयोगी साधु
- ४ अयोगी गृहस्थ

इसप्रकार अयोगी गृहस्थ से अयोगी साधु उच्च है, किन्तु अयोगी साधु से योगी गृहस्थ उच्च है। सब से उच्च योगीसाधु है।

हा! यहा यह बात भी ध्यान में रखना चाहिये कि साधु होना एक बात है, साधुसत्त्वा का सदस्य होना दूसरी बात और साधुवेष लेना तीसरी बात। समाज से कम लेकर उसे अधिक सेवा देना और पवित्र जीवन बिताना साधुता है। यह साधुता गृहस्थ में भी होसकती है और साधु संस्था के सदस्य में और साधुवेषी में भी नहीं होसकती है। साधुता रखवेपर गृहस्थ साधु ही है। साधुता न रखने पर साधुसत्त्वा का सदस्य या साधुवेषी भी असाधु है, या गृहस्थ है या गृहस्थ से भी गणाधीता है।

प्रश्न—ध्यानयोगी या संन्यास योगी को साधु कहा जाय या नहीं ?

उत्तर—ध्यानयोगी या संन्यास योगी में साधुता की सुखता तो नहीं रहती, फिर भी वे साधु होसकते हैं, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में कुछ न कुछ जनसभा उनसे होजाती है। अगर वे साधुसत्त्वा के सदस्य हैं या साधुवेषी हैं साथ ही योगी हैं तब उनकी गिनती साधुआ में करना चाहिये। क्योंकि मुक्ति प्राप्त कर लेने से उनमें इतनी विशेषता आही जाती है कि वे वञ्चना न कर, सुप्रसन्न हो उनका ध्येय न हो। फिर भी अन्तर्गत तो यह है कि संन्यासयोगियों को न गृहस्थ कहा जाय न साधु, किन्तु उन्हें विरक्त या निवृत्त कहा जाय। इसप्रकार मानव जीवन को गृहस्थ और साधु इसप्रकार दो भागों में नहीं, किन्तु गृहस्थ, विरक्त और साधु इसप्रकार तीन भागों में विभक्त किया जाय। विरक्त से साधु का स्थान उच्च है, क्योंकि विरक्त में सिर्फ संयम और सदाचा ही है जब कि साधु में संयम

सदाचार के साथ जगत्सेवा भी है। विरक्त यदि योगी (मोक्षप्राप्त) है तो वह योगी की दृष्टि से उच्च है, पर विरक्त की दृष्टि से साधु से उच्च नहीं है। सब पूछा जाय तो विरक्त या निवृत्त साधु की भूमिकाभात्र है। विरक्तयोगी से साधु-योगी उच्च है। विरक्तता आपवात्रिक है। वयो-वृद्ध हुए बिना विरक्तता उचित भी नहीं है। साधुता सब समय उचित है। संन्यासी में साधुता उचित मात्रा में नहीं पाई जाती, इसलिये उसे अपवात्र कहाजाय। अगर संन्यासी का वेप हो और साधुता भरपूर हो तब उसे कर्म-योगी कहेंगे। जैसा कि म. महावीर, म बुद्ध आदि के विषय में कहा जाचुका है।

विद्यायोग (बुधो जिम्भो)

विद्या या सरस्वती की उपासना में लीन होकर, आत्मसन्तोष की मुखता से निष्पाप जीवन बनाना विद्यायोग या सारस्वतयोग है। यह भी उष्कि की तरह ध्यानयोग है क्योंकि इसमें कर्म की प्रधानता नहीं है। जो लोग पुस्तक पढ़ने में, तथा अनेक तरह के अनुभव एकत्रित करने में जो सेवाहीन निष्पाप जीवन बिताते हैं वे विद्यायोगी हैं। वह भोग भी वृद्धावस्था में ही होना चाहिये। जवानी में सरस्वती की उपासना लोकहित का र्जन बनाकर ही की जानी चाहिये।

प्रश्न—सरस्वती की उपासना तो एक प्रकार की भक्ति कहलाई इसलिये इसे भक्तियोग ही क्यों न कहाजाय ?

उत्तर—सरस्वती की भूर्ति चित्र या पुस्तक आदि कोई स्मारक रखकर, अथवा बिना किसी स्मारक के सरस्वती का गुणगात किया जाय तो यह भक्ति कही जासकेंगी, परन्तु सारस्वतयोगी इस प्रकार की भक्ति में जीवन नहीं बिताता, बहा सरस्वती की उपासना का मतलब है ज्ञान का उपार्जन करना और ज्ञान दृष्टि में ही आनन्दित रहना। इसप्रकार पवित्र जीवन बिताने वाला जीबन्तुक्त व्यक्ति विद्यायोगी या सारस्वतयोगी है।

प्रश्न—विद्यापार्जन करना, ग्रन्थ निर्माण करना कविता वगैरह बनाना भी एक उच्च

समाजसेवा है इसलिये विद्यायोगी को कर्मयोगी क्यों न कहा जाय ?

उत्तर—सरस्वती की उपासना अगर जगत की सेवा के लिये है तब तो वह कर्मयोग ही है अगर वह निवृत्तिमय जीवन बिताने का एक तरीका ही है तो वह कर्मयोग नहीं है इसलिये उसे अलग नाम देना उचित है।

प्रश्न—विद्याव्यसन के समान और भी निर्दोष व्यसन है इसलिये उनका अवलम्बन लेकर योग साधन करनेवाले योगियों का भी अलग उल्लेख होना चाहिये। एक आधुनिक प्राचीन स्थानों के दर्शनों से पवित्र जीवन बिताता है कोई पुरानी खोज में लगा रहता है इनको किससे शामिल किया जायगा ?

उत्तर—देशाटन यदि जनसेवा के लिये है तो कर्मयोग है, अगर सिर्फ नये नये अनुभवों का आनन्द लेने को है तो सारस्वत योग है। प्राचीन चीजों की खोज जनहित के लिये है तो कर्मयोग है सिर्फ आत्म-सन्तुष्टि के लिये है तो सारस्वत-योग है। कविता आदि के विषय में भी यही बात समझना चाहिये।

प्रश्न—सारस्वत योग को संन्यास-योग क्यों न कहा जाय ? दुनिशदारी को भूलकर अभ्रयन आदि में लीन हो जाना एक तरह का संन्यास ही है।

उत्तर—एक तरह का संन्यास तो भक्तियोग भी है। सभी ध्यानयोग एक तरह के संन्यास हैं फिर भी ध्यानयोग के जो तीन भेद किये गये हैं वे ऐसे निमित्तों के भेद से किये गये हैं जो कि पवित्र और निर्द्वन्द्व जीवन में सहायक हैं। भक्ति और तप के समान विद्या भी निर्दोष जीवन में सहायक है इसलिये उसका अलग योग बतलाया गया।

प्रश्न—ध्यानयोग में काम-योग क्यों नहीं माना गया ?

उत्तर—योग के साथ कोई नाम तभी लगाया जा सकता है जब जीवन-वर्षों का प्रधान अंग बन जाय। काम यदि जीवनवर्षों का प्रधान

अंग बनजाय तो जीवन इतना पवित्र न रह जायगा कि उसे योगी जीवन कहा जा सके।

प्रश्न—काम भी तो एक जीवार्थ है अगर वह जीवन वर्षों का मुख्य अंग बन जाय तो पवित्रता क्यों नष्ट हो जायगी ?

उत्तर—काम, मोक्ष की तरह अपने में पूर्ण नहीं है उसका असर दूसरों पर अधिक पड़ता है। बल्कि अधिकशत अपना काम दूसरों के काम में बाधक हो जाता है ऐसी हालत में काम-प्रधान जीवन पर-विधातक हुए बिना नहीं रह सकता। काम को पवित्र जीवन में स्थान है पर धर्म अर्थ और मोक्ष के साथ। अकेला काम हिसक और पापमय हो जायगा। इसलिये कामयोग नाम का भेद नहीं बनाया जा सकता। योगी के पास काम रहता है और पर्याप्त मात्रा में रहता है पर वह भक्ति तप विद्या आदि की तरह प्रधानता नहीं पाने पाता। जीवार्थों के साथ रहता है ऐसी हालत में योगी कामयोगी नहीं किन्तु कर्मयोगी बन जाता है।

प्रश्न—चित्र संगीत आदि काम के किसी ऐसे रूप को जो विधातक नहीं है अपनाकर पवित्र जीवन बितानेवाला योगी किस नाम से पुकारा जाय ?

उत्तर—कलाओं की शुद्ध उपासना में ईश्वर के साथ, और ईश्वर न मानते हो तो प्रकृति के साथ तन्मयता होती है इसलिये साधारण कलोपासक योगी, भक्ति-योगी है। अगर कलोपासना में नये नये विचार और अनुभवों का आनन्द मिलता है तो वह सरस्वती की उपासना हो जाती है जैसे कविता कला। ऐसा आधुनिक अगर योगी हो तो सारस्वत योगी होगा। यदि उसका कलाप्रेम लोकहित के काम में आता होगा तो वह कर्मयोगी बन जायगा।

प्रश्न—यदि विद्या, कला आदि आराम के कामोंसे मनुष्य कर्मयोगी कहला सकता है तो समाजसेवा के लिये सर्वस्व देने वाले, उसके कल्याण के लिये दिनरात थोटे खाने वाले क्या कहलायेंगे ? और जो लोग समाजहित की पर्वाह

महीं करते उनके भी आप योगी कहे-तो वह भी अधिक ही है ?

उत्तर—योगी के जो चार भेद बताये गये हैं वे रूप-भेद हैं, श्रेणी-भेद नहीं, प्रत्येक योग के पालन में तरतमता होती है। कर्मयोगी हजगो हो सकते हैं पर वे सब बराबर होने यह बात नहीं है। इसलिये विद्या, कला आदि के साथ कर्मयोगी बननेवाले और सर्वस्व देकर आर्ति करके कर्मयोगी बनानेवाले समान नहीं हैं। उनका भूत्व तो योग्यता त्याग और फलपर निर्भर है। इसलिये अधिक सेवा का महत्त्व नष्ट नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी न भूल जाना चाहिये कि भक्ति करते से ही कोई भक्ति-योगी नहीं हो जाता, न विद्या कला से सारस्वत-योगी, न गृह-त्याग से सन्यास-योगी और न कर्म करने से कर्मयोगी। ये काम तो हर एक आदमी करता ही रहता है पर इन कामों के करते हुए योगी होना बात दूसरी है। योगी होने के लिये निष्ठाप जीवन तत्त्वदर्शपन और सम-भाव आवश्यक है। रही समाजहित की बात, सो समाजहित अपनी भीतरी और बाह्यी परिस्थिति पर निर्भर है। कभी कभी इच्छा रहते हुए भी समाजहित नहीं हो पाता ऐसी हालत में समाज का अहित न किया जाय यही काफी है। ध्यान-योगी कम से कम इतना तो करते ही हैं। अगर किसी कारण से समाजहित नहीं कर पाते तो उनका स्थान समाजहितकारियों कर्मयोगियों से नीचा रहेगा पर वे अपनी आत्मशुद्धि और जीवन्मुक्ति के कारण योगी अवश्य कहलायेंगे।

इन तीनों प्रकार के योगों में कर्म की प्रधानता नहीं है किन्तु एकप्रभ भवेच्छुक्ति की प्रधानता है इसलिये वे तीनों ध्यान योग है।

कर्मयोग (कज्जोविम्भो)

समाज के प्रति शक्त्यनुसार वचित कर्तव्य करते हुए भीतर से पूर्ण समभावी रहकर निष्ठाप जीवन विताना कर्मयोग है। चारों योगों में कर्म, योग श्रेष्ठ और व्यापक है। ध्यानयोग तो एक तरह से अपवाद है पर कर्मयोग सब के लिये है।

ध्यानयोगी अगर बहुत अधिक हो जायें तो समाज उनके बोझ से परेशान हो जाय पर कर्मयोगी सारा सत्कार हो जाय तो भी परेशानी नहीं होगी।

प्रश्न—म महावीर म बुद्ध आदि गृहस्था-गियों और मिताजीवियों की भी आप कर्मयोगी कहते हैं अगर ऐसे कर्मयोगी अधिक हो जायें तो समाज के ऊपर उनका भी बोझ हो जायगा फिर ध्यानयोग में ही शोक होने की सम्भावना क्या ?

उत्तर—गृह त्यागी कर्मयोगी अगर सर्वांगी में अर्थात्-आवश्यकता से अधिक हो जायेंगे तो कर्मयोगी तो उचित और आवश्यक कर्म करना है। अब अगर किसी कर्म की समाज को आवश्यकता नहीं है अथवा आवश्यकता जितनी है उसकी पूर्ति अधिक हो रही है उसलिये अधिक पूर्ति करने वाले शोक हो रहे हैं तो इसी अवस्था में वे शोक बनने वाले कर्म करते हुए भी कर्म-योगी न कहलायेंगे। इसलिये म महावीर म बुद्ध आदि के अमण संघ में उनसे ही अमण कर्मयोगी रह सकते हैं जितने समाज के लिये जरूरी हों। और उस आवश्यकता के कारण समाज पर शोक न बन सके।

प्रश्न—उस आवश्यकता का निर्णय कौन करेगा ?

उत्तर—आवश्यकता का निर्णय कर्मयोगी की सज्जनद्विवेक बुद्धि करेगी क्योंकि आतिथारों कर्मयोगियों की सेवा का मूल्य समाज समझ नहीं पाता। उनके जीवनकाल में वह उन्हें सताता ही रहता है और उनके जाने के बाद वह उनकी पूजा करता है। क्या धर्म क्या समाज क्या राजनीति सब में प्रार सब महापुरुषों के जीवन ऐसी परिस्थिति में से गुजरते हैं। इसलिये बहुत सी आवश्यकताओं का निर्णय उस समाज-सेवा की ही करना पड़ता है।

प्रश्न—ऐसी हालत में हर एक निष्कन्मा कर्म-योगी बन जायगा। दुनिया माने या न माने, आवश्यकता हो या न हो, पर वह अपनी सेवा की उपयोगिता के पीछे जाता ही रहेगा। व्यर्थ

गाल बजाने को या कागज काला करने को सेवा कहेगा कदाचित् अपना वेष दिखाने को भी वह सेवा कहे। नाटक के पात्र अगर नाना वेष दिखा कर समाज का मनोरंजन आदि करते हैं तो वह साधु-वेष से कुछ न कुछ रंजन करेगा और उसको महान सेवा कहेगा। इस प्रकार कर्मयोग की तो दुर्रक्षा हो जावेगी।

उत्तर—सेवा की आवश्यकता का निर्णय विवेक से होगा इसलिये हरएक निकम्मा कर्मयोगी न बन जायगा। हाँ, वह कह सकेगा। सो कहा करे उसके कहने से हम उसे कर्मयोगी मानलें ऐसी विवशता तो है नहीं। किसी भी तरह के योगी का बोझ उठाने के लिये हम वैधे नहीं हैं फिर कर्मयोगी के लिये तो हम और भी अधिक निश्चित ह। कर्मयोगी तो अपना मार्ग आप बना लेता है। समाज उसका अपमान करे उपेक्षा करे तो भी वह भीतर मुसकराता ही रहता है वह अपनी पूजा कराने के लिये आतुर नहीं होता। निकम्मे और दम्भी अपने को कर्मयोगी भले ही कहें पर विपत्तियों के सामने भीतर की मुसकराहट उनसे न होगी और वे उस परमानन्द से वंचित ही रहेंगे। इस प्रकार चाहे वे कागज काला करें, चाहे गाल बजायें चाहे रूप दिखावें अगर वे कर्मयोगी नहीं हैं तो उसका आनन्द उन्हें न मिलेगा। और दुनिया तो सच्चे कर्मयोगियों को भी नहीं मानती रही है फिर इन्हें मानने के लिये उसे कौन विवश कर सकता है? मतलब यह है कि अपनी समाज-सेवा की आवश्यकता का निर्णय करने का अधिकार तो कर्मयोगी को ही है, इससे वह कर्मयोगी बन जायगा उसका आनन्द उसे मिलेगा और समय आने पर उसका फल भी होगा कदाचित् न हुआ तो इस की वह पर्वाह न करेगा, परन्तु उसे कर्मयोगी मानने न मानने, कहने न कहने का अधिकार समाज को है। दोनों अपने अपने अधिकार का उपयोग करें इसमें कोई बाधा नहीं है।

प्रश्न—कर्मयोगी गृह-त्यागी भी हो सकता है और गृही भी हो सकता है, पर दोनों में अन्तर क्या है?

उत्तर—अच्छे तो दोनों हैं पर किसी एक से अधिक अच्छेपन का निर्णय देश काल की परिस्थिति पर निर्भर है थोड़ी बहुत आवश्यकता तो हर समय दोनों तरह के कर्मयोगियों की रहती है पर जिस समय जिसकी अधिक आवश्यकता हो उस समय वही अधिक अच्छा। इस प्रकार दोनों प्रकार के कर्मयोगी अपनी अपनी जगह पर अच्छे होने पर भी गृहत्यागी की अपेक्षा गृही कर्मयोगी श्रेष्ठ है। इसके निम्न लिखित कारण हैं।

१—गृहत्यागी का बोझ समाज पर पड़ता है अथवा गृही की अपेक्षा अधिक पड़ता है। गृहत्यागी के बंधन अधिक होने से उसकी आवश्यकतापूर्ति की नैतिक जिम्मेदारी समाज पर आ पड़ती है।

२—गृहत्यागी के वेष की ओट में जितने दम छिप सकते हैं उतने गृही की ओट में नहीं छिप सकते।

३—गृहत्यागी की सेवा का क्षेत्र सीमित रहता है उसको बाहरी नियम कुछ ऐसे बनाने पड़ते हैं कि उस में बद्ध होने के कारण बहुत-सा सेवा-क्षेत्र उसकी गति के बाहर हो जाता है। गृही को यह श्रद्धा नहीं है।

४—गृहत्यागी समाज को उतना अनुकरणीय नहीं बन पाता जितना गृही बन पाता है। गृहत्यागी की शान्ति क्षमा उदारता आदि देव्य कर समाज सोचलेता है कि “इनको क्या? इन को क्या करना धरना पड़ता है कि इनका मन अशान्त बने, घर का बोझ उनके सिर पर होता तब जानते। आसमान में घैट कर सफाई दिखाने से क्या? जमीन में रहकर सफाई दिखाई जाय तब बात। संकोचवश लोग ये गज्र मुँह से भले ही न निकालें पर उनके मन में ये भाव लहराते रहते हैं इसलिये गृहत्यागी उनके लिये अनुकरणीय नहीं बन जाना पर गृही के लिये यह बात नहीं है। वह तो साधारण जनता में मिल जाता है उसके विषय में समाज में भाव नहीं ला सकता या कमसे कम उतने तो नहीं ला

सकता जितना गृहत्यागी के विषय में हो सकता है। समाज जब उसे अपनी परिस्थिति में देखा कर शान्त सदाचारी और सेवासक्त देखता है तब समाज पर उसके जीवन का अधिक प्रभाव पड़ता है।

२—गृहत्यागी को जीवन की संभ्रमे कम हो जाती है इसलिये उसको अनुभव भी कम मिलने लगते हैं। इन्हीं अनुभवों के आधार पर तो समाज को कुछ ठीक ठीक सोच दी जा सकती है। शान्ति शान्ति चिन्तने से समाज संगीत का मजा ले सकती है पर प्रेरणा नहीं ले सकती। प्रेरणा उसे तभी मिलेगी जब उसकी परिस्थिति और योग्यता के अनुसार उसे आचार का पाठ्यक्रम दिया जावेगा और परिस्थिति के अनुसार अपना उदाहरण पेश किया जावेगा। गृहत्यागी गृही की अपेक्षा इस विषय में साधारणतः पीछे ही रहेगा। वैयक्तिक योग्यता की बात दूसरी है और उसकी संभावना दोनों तरफ है।

६—गृह त्याग अस्वाभाविक है क्योंकि सब गृहत्यागी होओँ तो समाज का तारा हो जाय। पर गृही के विषय में यह बात नहीं है। फिर गृहत्यागी को किसी न किसी रूप में गृही के आश्रित तो रहना ही पड़ता है। इससे भी उस की अस्वाभाविकता मालूम होती है।

इस का यह मतलब नहीं है कि गृहत्यागी से गृही श्रेष्ठ है। साधारणतः समाज-सेवा के लिये घर द्वार छोड़कर जो सच्चे साधु बन जाते हैं वे गृहियों के द्वारा पूजनीय और वदनीय हैं। विश्वसेवा के अनुसार मूल्य भी उनका अधिक है। परन्तु यहाँ तो इतनी बात कही जा रही है कि गृहत्यागी योगी की अपेक्षा गृही-योगी श्रेष्ठ और अधिक आवश्यक है।

प्रश्न—गृह-वास में योग हो ही कैसे सकता है? पर की संभ्रमे में किसी गृही का मन ऐसा स्थिर नहीं हो सकता जैसा गृहत्यागी का रहता है। इसलिये जो मन की दृढ़ता, निर्लिप्तता, शुद्धि गृहत्यागी की हो सकती है वह गृही की नहीं हो सकती।

उत्तर—यसः—शुद्धि दोनों जगह हो सकती है पर उसकी ठीक ठीक परीक्षा गृह में ही सम्भव है। भ्रमों के छूट जाने से जो स्थिरता दृढ़ता आदि दिव्यता होती है वह सामान्यिक नहीं है विकार के कारण मिलने पर भी जाह्न विकार न हो वहीं शुद्धि सम्भ्रमा चाहिये या तो शेर भी गुफा में योगी की तरह शान्त पग रहता है पर इससे उसकी अहिंसकता सिद्ध नहीं हो सकती। अहिंसकता सिद्ध हो सकती है तब, जब भृगु लगने पर और जानवरों के बीच में मृत्युन्त्रता में रहने पर भी वह शिकार न करे। योगी करने का अवसर न मिलने से हम उमानाश्र है उस बात का कोई मूल्य नहीं। भ्रमों के बीच में रहते हुए जो मनुष्य अपने मनमें बार आना भी शान्त रहता है वह भ्रमों से बचे हुए सोता आना शान्त मन से श्रेष्ठ है। धृष्ट में पड़े होने के कारण धृष्टरित होनेवाले द्वार की अपेक्षा वह मिष्टी या पत्थर का दृढ़ता अधिक शुद्ध नहीं है जो स्वच्छ स्थान पर रक्का हुआ है। शुद्धि की परीक्षा के लिये दोनों को एक परिस्थिति में रखना आवश्यक है।

प्रश्न—रमयोगी-फिर वह गृही हो या गृह-त्यागी-भ्रमों में रहता है। समाज का व्यवहार बिल्कुल शानि से नहीं चल सकता, वहाँ निग्रह अनुग्रह करना ही पड़ता है और जो भी प्रगट करना पड़ता है। दुनिया के बहुत से शास्त्री ऐसे हैं जो लोग से ही किसी धान को समझते हैं, जानवर से वह कहना पड़ता है कि 'आप वहाँ चले जाइये या वो कीजिये' उसे तो लगता था हाथ के द्वारा मारने का डौल करना पड़ेगा या मारना पड़ेगा तब वह आपका भाव समझेगा। ऐसी हालत में योगी का 'लोभ' बड़ा रहेगा? बहुत से मनुष्य भी ऐसे होते हैं जिन्हें सीधी तरह रोको तो वे रोकने का मन्त्र हो नहीं समझते, क्रोध पगट करने पर ही वे आप का मतलब समझते हैं। गृहवास में जानवरों से बा इस तरह का बोधा बहुत जानवरपन रखनेवाले मनुष्यों से कम पड़ता ही है, समाज में जो लोग भी भाषा का जग बना हुआ है ऐसी हालत में

योगी अनुग्रह या शान्त कैसे रहे ? और शान्त न रहे तो वह योगी कैसे ?

उत्तर—जहाँ क्रोध भापा का अंग है वहाँ योगी क्रोध प्रगट करे तो इसमें धुराई नहीं है। पर क्रोध के प्रवाह में वह वह न जाय और परा मनोवृत्ति क्षुब्ध न हो जाय। अपरा मनोवृत्ति के क्षुब्ध होने से योगीपन नष्ट नहीं होता। वह निमग्न अनुग्रह करेगा, क्रोध प्रगट करेगा फिर भी परामनोवृत्ति निर्लिप्त रहेगी।

प्रश्न—वह परा और अपरामनोवृत्ति क्या है और इसमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—इसे ठीक समझने लिये तो अनुभव ही साधन है। चिन्हों से या दृष्टान्तों से उसका कुछ अंदाज़ लगा सकते हैं। त्रैकालिक या स्थिर मनोवृत्ति को परा मनोवृत्ति कहते हैं और क्षणिक या सामयिक मनोवृत्ति को अपरा मनोवृत्ति कहते हैं। जब हम स्मशान में जाते हैं तो एक तरह का वैराग्य हमारे मन पर छा जाता है जो कि घर आने पर कुछ समय बाद दूर हो जाता है यह वैराग्य अपरामनोवृत्ति का है और जब दुहाये में किसी का जवान बेटा मर जाता है जिसके शोक में वह दिनरात रोया करता है तो यह शोक परा मनोवृत्ति का है। हमारे मन में क्रोध आया परन्तु थोड़ी देर बाद क्रोध की नि सारता का विचार भी आया, जिस पर क्रोध दुःखा था उस पर द्वेष न रहा तो कहा जा सकता है कि यहाँ अपरामनोवृत्ति क्षुब्ध हुई परा नहीं। जैसे नाटक का खिलाड़ी रोते हैं सते हुए भी भीतर से न रोता है न हँसता है उसी प्रकार योगी की परा मनोवृत्ति न रोती है न हँसती है। नाटक के खिलाड़ी दो तरह के होते हैं एक तो वे जो सिर्फ गाल बजाते हैं, हाथ मटकाले हैं पर जिनके मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता उनकी अपरामनोवृत्ति भी नहीं भाँगी, वे सफल खिलाड़ी नहीं हैं। सफल खिलाड़ी बड़ी हो सकता है जिसकी अपरामनोवृत्ति भाँगी है। वह सचमुच रोता है, हँसता है फिर भी इस रोने हँसने के भीतर भी एक स्थायीभाव है जो न रोता है न हँसता है वह सिर्फ इतना विचार करता है

कि मेरा खेल अच्छा हो रहा है या नहीं। यही परामनोवृत्ति है।

प्रश्न—इस प्रकार अपनी परावृत्ति और अपरावृत्ति का भेद समझा जा सकता है पर दूसरे की परावृत्ति और अपरावृत्ति का भेद कैसे समझ में आवे ? यों तो हर एक आदमी कहने लगेगा कि मैं परमशांत हूँ, योगी हूँ और जो अशांति या कषाय दिख रही है वह अपरावृत्ति की है इस प्रकार योगी-अयोगी में बड़ी गड़बड़ी हो जायगी।

उत्तर—ऐसी गड़बड़ी होना संभव है पर इस गड़बड़ी की परेशानी से बचने के दो उपाय हैं पहिली बात तो यह कि परामनोवृत्ति के विषय में शाब्दिक दुहाई का कोई मूल्य न किया जाय। समाज के प्रति मनुष्य अपनी अपरा मनोवृत्ति के लिये जिम्मेदार है। परामनोवृत्ति का मजा उसे लेता है तो लेता रहे, समाज को इससे कोई मतलब नहीं। एक लम्बा समय बीन जाने पर अगर उसकी परावृत्ति की निर्दोषता के सूचक प्रमाण मिलेंगे तब देखा जायगा। दूसरी बात यह कि परा-मनोवृत्ति के सूचक तीन चिन्ह हैं उनसे उसकी पहचान की जा सकती है।

१-न्याय-विनय, २-विस्मृत वत् व्यवहार-३ पापी-पाप-भेद।

न्याय-विनय (लंको नाथो) योगी तभी क्रोधादि प्रगट करेगा जब किसी अन्याय का विरोध करना पड़े इसलिये उसमें निष्पक्ष विचारकता हो होना ही चाहिये। वह अपनी गलती समझने और सुधारने को हर समय तैयार रहेगा और पश्चात्ताप भी करेगा। अगर न्याय के सामने वह मुक नहीं सकता तब समझना चाहिये कि उसकी परा-मनोवृत्ति भी दूषित है।

२-विस्मृत-वत् व्यवहार (भूसूर हाजी) घट नाके हो जाने पर या उसके फलाफल का कार्य हो जाने पर इस तरह व्यवहार करना मानो वह घटना हुई ही नहीं है, हम वह घटना बिलकुल भूल गये हैं। इस प्रकार का व्यवहार अकषाय

वृत्तिका सूचक है। इससे भी परामनोवृत्ति का अन्तर्भूत मालूम होता है।

प्रश्न—किसी दुर्जन की दुर्जनता के बाद भी हम उसकी दुर्जनता कैसे भूल सकते हैं? अगर भूल जायें तो हमारी और दूसरों की परेशानी बढ़ जायगी। इसलिये कम से कम उसकी दुर्जनता का स्मरण करके हमें उससे बचते रहने की कोशिश तो करते ही रहना चाहिये और अगर समाज व्यवस्था के लिये दंड देना अनिवार्य हो तो दंड भी देना चाहिये, विस्मृत-वृत्त-व्यवहार करने से कैसे चलेगा।

उत्तर—विस्मृत-वृत्त व्यवहार के लिये घटना का होजाना ही आवश्यक नहीं है किन्तु उसका फलफल-कार्य होजाना भी आवश्यक है। एक चोर ने चोरी की है तो जब तक उसका दंड वह न भोगले तब तक हम उसकी बात नहीं भूल सकते। दंड देने का कार्य हम करेंगे। फिर भी उस पर दया रखेंगे, उसको सहज वैरी न बनायेंगे, तथा तब और जहाँ चोरी की बात नहीं है वहाँ उससे प्रेमल व्यवहार रखेंगे। मतलब यह है कि सुव्यवस्था रखने के लिये जितना दंड अनिवार्य है उतना तो देंगे, लेकिन उस प्रकरण के बाहर उस घटना को भूलें हुए के समान व्यवहार करेंगे।

३—पापी-पाद-भेद-जिसकी परावृत्ति अन्तर्भूत है वह पाप से घृणा करता है पापी से नहीं। पापी पर वह दया करता है उसे एक तरह का रोगी समझता है। पाप को रोग समझ कर उसे पाप से छुड़ाने की चेष्टा करता है। उसका ध्येय दंड नहीं होता सुधार होता है और दंड भी सुधार का अंग बन जाता है।

प्रश्न—ऐसे पाप, या घुराई के लिये, जिसका असर दूसरों पर नहीं पड़ता अर्थात् दूसरों के नैतिक अधिकार को बाधा नहीं पहुँचाती अगर अपराधी को दंड न दिया जाय, सिर्फ सुधार को दृष्टि से उसको चिकित्सा ही की जाय तो ठीक है परन्तु उस पर दया करने के लिये दूसरों की

सुख-पूर्ति (मानसिक आर्थिक आदि) न करें तो समाज में बड़ी अव्यवस्था पैदा होगी। सतबे हुए लोग न्याय न मिलने के कारण कानून को अपने हाथ में ले लेंगे। एक खूनी को आप प्राण दंड न देकर सुधार करने के लिये छोड़ दें तो खून करने की भीषणता लोगों के दिल से निकल जायगी इसलिये अपराध बढ़ जायेंगे। दूसरे वे लोग कानून को हाथ में लेकर खूनी का या उसके सम्बन्धी का खून करेंगे जिनके आदमी का पहिले खून किया गया है। कानून से निराशा होकर जब मनुष्य खुद बदला लेने लगता है तब वह बदले की मात्रा भूल जाता है। जितनी ताकत होती है उतना लेता है। इस प्रकार समाज में अंधाधुन्धी मच जायगी। परन्तु अगर खूनी को प्राण दंड दे दिया जाय तो उसका सुधार कब और कैसे होगा, उस पर हमारी दया कैसे होगी? इस प्रकार पापी और पाप के भेद को जीवन में उतारना योगी को भी असंभव है।

उत्तर—पापी और पाप के भेद का मतलब यह है कि पापी से व्यक्तिगत द्वेष न रखना और उससे बदला लेने की अपेक्षा निष्पाप बनाने का प्रयत्न करना। मूल में तो सभी एक से हैं। परिस्थितियों ने या भीतरी मलने अगर किसी व्यक्ति का पतन कर दिया है तो हमें उसके पतन पर दयापूर्ण दुःख होना चाहिये न कि द्वेष। पर अधिक सुख की नीति के अनुसार जब व्यक्ति और समाज का प्रश्न आता है तब समाज का अधिकार-रक्षण पहली बात है व्यक्ति का इलाज अगर समाज का नाइलाज बन रहा हो तो हमें व्यक्ति के इलाज पर उपेक्षा करना पड़ेगी। इसीलिये खूनी आदि को फाएदंड की जरूरत है क्योंकि इससे उस व्यक्ति का इलाज भले ही न हो पर समाज का इलाज होता है। जैसे कभी कभी हमें रोगी को भी प्राणदंड देना पड़ता है वैसे कभी कभी पापी को भी प्राण दंड देना पड़ता है। पागल कुत्ता काटता है और उसके काटने से आदमी भर जाता है, इसमें उस कुत्ते का क्या अपराध है? फिर भी समाज-रक्षण के

लिये उसे प्राणदंड देना पड़ता है। संक्रामक रोगियों से द्वेष न होने पर भी अशुभक अश में बच रहा जाता है। इस प्रकार व्यक्ति-द्वेष न होने पर भी वृद्धि व्यवस्था चल सकती है।

इन तीन चिन्हों से परा-मनोवृत्ति की पहि-चान हो सकती है। जिसकी यह परा-मनोवृत्ति जुगुप्सु न हो उसे योगी समझना चाहिये।

प्रश्न—योगी का द्वेष जैसे भीतर से नहीं रहता उसी प्रकार राग भी भीतर से नहीं रहता। ऐसी हालत में योगी किसी से प्रेम भी सच्चा न करेगा। इस प्रकार उसका प्रेम एक प्रकार की वंचना हो जायगा। भक्ति आदि भी इसी प्रकार वंचना बन जायगी तब भक्तियोग असम्भव हो जायगा। भक्ति से होनेवाला प्रेम योगी के भीतरी मन तक कैसे जायगी और जब भक्ति परामनोवृत्ति में है ही नहीं तब उससे योग क्या होगा ?

उत्तर—परामनोवृत्ति अगर प्रेम से न भी भोगी हो तो भी वंचना न होगी। वचना के लिये तीन बातें जरूरी हैं। एक तो यह कि अपरा मनोवृत्ति भी न भोगी हो दूसरी यह कि जो विचार प्रगट किये जायें उनके पालन करने का विचार न हो। तीसरी बात यह कि दूसरे के हितहित की पर्वाह न करके अपना स्वार्थ सिद्ध काने की इच्छा हो। योगी का प्रेम ऐसा नहीं होता। न राम कर्मयोगी थे उनकी परा मनोवृत्ति शांत थी, अपरा मनोवृत्ति जुगुप्सु होती थी। उनका सीता-प्रेम और रावण-द्वेष ऐसा ही था। फिर भी उनका सीता-प्रेम वंचना नहीं था क्योंकि सीता के लिये जान जोखिम में डालकर वे रावण से लड़े। यद्यपि वह प्रेम प्रजापति के द्वारा न डाल सका, प्रजा के ज्ञेय होने सीता का त्याग भी किया, फिर भी उनका सीता प्रेम फीका न पड़ा, रिवाज के अनुसार आवश्यक होने पर भी उनसे दूसरी शान्ति नहीं की, विश्वासघात नहीं किया। इस प्रकार परा मनोवृत्ति शान्त थी इसलिये वे सीता का त्याग कर सके पर उनका प्रेम वंचना नहीं था इसीलिये वे रावण से लड़ सके

और जीवन भर सीता के विषय में विन्यासी रहे। परा और अपरा मनोवृत्ति का यह सुन्दर दृष्टांत है। हां, प्रेम परामनोवृत्ति में भी पहुँच कर मनुष्य को योगी बना सकता है। इस का कारण यह है कि द्वेष के समान प्रेम अधर्म नहीं है। द्वेष विभाव है प्रेम स्वभाव है क्योंकि यह विश्वसुख-वर्धक है। हां, प्रेम लड़ा पर अज्ञान या स्वार्थ के साथ मिल कर मोह बन जाता है-विश्व-सुख-वर्धन रूप कर्तव्य में बाधक बन जाता है वहा पाप है। भक्तियोगी की भक्ति परा मनोवृत्ति तक जाती है फिर भी उसकी परामनोवृत्ति दूषित नहीं होती क्योंकि उसकी भक्ति ज्ञान-भक्ति है, स्वार्थभक्ति या अन्वभक्ति नहीं। ज्ञान-भक्ति स्वपर कल्याण की बाधक नहीं है बल्कि साधक है इससे वह दोष नहीं है जिससे परामनोवृत्ति दूषित हो जाय।

प्रश्न—बहुत से लोगों ने तो वीतरागता को ध्येय माना है प्रेम भक्ति आदि को राग माना है। हां, इन्हे शुभराग माना है फिर भी योगी जीवन के लिये तो यह शुभराग भी बाधक है।

उत्तर—प्रेम और भक्ति भी शुद्ध न्याय आदि में बाधक हो जाते हैं इसलिये वे भी अशुद्ध रूप में हेय है। पर शुद्ध प्रेम और शुद्ध भक्ति न्याय या कर्तव्य में बाधक नहीं होते इसलिये वे उपादेय हैं। वीतरागता सिर्फ कथाओं का अभाव नहीं है, क्योंकि अगर वह अभावपूर्ण ही हो तो वस्तु ही क्या रहे, इस प्रकार की अभाव-त्मक वीतरागता या अरागता तो मिट्टी पत्थर आदि में भी होती है। मनुष्य की वीतरागता इस प्रकार जड़ता रूप नहीं है वह चैतन्य रूप है, प्रेम रूप है, विश्व प्रेम रूप है इसलिये वह भाव रूप है। प्रेम वर्ण निरन्तर है जहाँ अपने साथ द्वेष की छाया लगाये रहे। कहा जाता है कि देवों के छाया नहीं होती, वह कल्पना इस रूप में मत्स्य कही जा सकती है कि योगी अर्थात् दिव्यात्माया का प्रेम छायाहीन होता है अर्थात् उनके प्रेम में काली यात्रू नहीं होती। अगर योगी लोग प्रेम हीन हो तो प्रकर्मरथ हो जायें। न महावीर

म शुद्ध यदि प्रेमहीन होते तो जगत् को सुख देने का प्रयत्न ही क्यों करते ? वास्तव में ये महान् प्रेमी या विश्व प्रेमी थे इसीलिये परम वीतराग थे। वीतरागता प्रेम के विरुद्ध नहीं है। वह मोह, लोभ, लालच, वृष्णा आदि के विरुद्ध है। भक्ति में भी स्वार्थ-भक्ति और अन्य भक्ति वीतरागता के विरुद्ध है ज्ञान-भक्ति नहीं। भक्तियोगी तो ज्ञान भक्त होता है।

प्रश्न—कहा जाता है कि म महावीर के मुख्य सिष्य इन्द्रभूति गौतम म महावीर के अत्यन्तिक भक्त थे इसलिये पारम्भ में इस भक्ति वश उनका ज्ञान तो हुआ परन्तु आगे इस भक्तिने उनका विकास रोक दिया। जब तक वे भक्त बने रहे तब तक उनमें केवलज्ञान न पाया अर्थात् योगी न हुए। इससे मालूम होता है कि भक्ति भी एक तरह का राग है जो वीतरागता में बाधक है।

उत्तर—गौतम कर्मयोगी थे फिर भी जीवन भर म महावीर के भक्त रहे। केवलज्ञान हो जाने पर भी वह भक्ति नष्ट न हो गई, सिर्फ म महावीर के विषय में जो उनका मोह या आसक्ति थी वह नष्ट हो गई। इस आसक्ति के कारण गौतम में आत्मनिर्भरता का अभाव था, म महावीर के वियोग में वे दुःखी और निर्बल हो जाते थे केवलज्ञान हो जाने पर यह बात न रही। म महावीर ने जो जगत् का उपकार किया था, उनका उपकार किया था, उसे इन्द्रभूति न भूले, जीवन भर उनका गुणगान करते रहे उनके विषय में इन्द्रभूति का आचरण विनय-युक्त रहा इस प्रकार वे योगी होकर भी उनके भक्त बने रहे।

भक्ति में जब विवेक की काफी कमी होजाती है तब वह हानिकर होजाती है, स्वपर कल्याण में बाधक होजाती है। कृतज्ञता विनय विश्वास आदि उचित हैं और आवश्यक भी हैं। परन्तु कमी कमी भक्ति का ऐसा अतिरेक होजाता है कि वह स्वपर कल्याण में बाधक होजाती है। जिसकी भक्ति की जाती है उसका मार्ग में भी बाधक बनजाती है। किस अवसर पर भक्ति किस तरह प्रगट करना चाहिये इसका भी ध्यान नहीं रहता। योगी या अर्हत् होने के लिये यह

अतिरेक बाधक है। भक्ति नहीं भक्ति की दृढ़ता भी नहीं। सिर्फ भक्ति का अतिरेक बाधक है, या अवसरज्ञता का अभाव बाधक है। अगर यह अतिरेक या अविवेक न हो तो भक्ति योगी अर्हत् आदि बनने में बाधक नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु आवश्यक है। अगर योगी में उपकारक गुरुजन आदि के विषय में भक्ति विनय आदि न हो तो योगी कृतघ्न होजाय, कृतघ्न मनुष्य एक तरह का चोर या डाकू के समान है वह योगी अर्हत् आदि क्या होगा ? इन्द्रभूति जब अर्हत् होगये तब भी वे म महावीर के भक्त रहे, सिर्फ अतिरेक दूर हुआ विवेक बढ़ा भक्ति शुद्ध होगई।

मनलभ यह है कि भक्ति हो, गुणगुराग हो, कृतज्ञता हो या प्रेम का कोई दूसरा रूप हो जो दूसरों के अधिकार में बाधा नहीं डालता, और न उचित कर्तव्य का विरोधी बनता है वह आत्मशुद्धि या योग का साधक नहीं है। अपने सम्पर्क में आये हुए लोग से उचित मात्रा में कुछ विरोध प्रेम योगी की भी होता है। गुणगुराग दीनवात्सल्य कृतज्ञता आदि गुण योगी के लिये भी आवश्यक हैं।

प्रश्न—योग के भेदों में हठयोग आदि का वर्णन क्यों नहीं किया ? इन्हे ध्यानयोग कहा जाय या कर्मयोग ? ध्यानयोग कहा जाय तो भक्ति सम्म्यास या सारस्वत ?

उत्तर—इस योगदृष्टि में हठयोग आदि को कोई स्थान नहीं है। हठयोग तो एक तरह की कसरतें हैं जो शरीर की अवस्थाओं पर विरोध प्रभाव डालती हैं। ऐसा योगी एक तरह का बैद्य है। जीवन शुद्धि संयम आदि से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं है पर योगदृष्टिमें जो योग है वह तो संयम का एक विराट् उत्कर्ष है जिसे पाकर मनुष्य अर्हत् शुद्ध वीतराग या समभावी बनता है। हठयोग से ऐसा उत्कर्ष नहीं होसकता।

प्रश्न—ध्यानयोगी जैसे नाना अवलम्बन लेते हैं, जिनके तीनभेद किये गये हैं, भक्ति

संन्यास और सारस्वत । उसी प्रकार हठयोग आदि में भी मन एक तरफ लगाया जाता है इसलिये ध्यानयोग के भेदों में इसका भी एक स्थान होना चाहिये । जैसे सिर्फ भक्ति से कोई भक्ति योगी नहीं होता उसी प्रकार सिर्फ हठयोग से उसे योगी न माना जाय पर संयम की सीमा पर पहुँचा हुआ कोई योगी भक्ति आदि की तरह हठयोग आदि का अवलम्बन ले तो ध्यानयोग में एक भेद और क्यों न होजाय ?

उत्तर—योगी चार तरह के अवलम्बन लेता है इसलिये योगी जीवन के चार भेद हैं । कोई अवलम्बन मन परवान है कोई बुद्धिपरधान, किसीमें दोनो शिथिल हैं किसी में दोनों परबल ।

१—भक्तियोग—मनपरधान

२—विद्यायोग — बुद्धिपरधान

३—संन्यासयोग—बुद्धिमन शिथिल होकर—समन्वित

४—कर्मयोग — बुद्धिमन परबल होकर—समन्वित ।

हठयोग में बुद्धिमन शिथिल होकर समन्वित होते हैं इसलिये हठयोग के कार्यक्रम को

लेकर अगर कोई ध्यानयोगी बनेगा तो वह संन्यासयोगी समझा जायगा ।

हां ! वह भी होसकता है कि हठयोगी की एकाग्र चित्तवृत्ति किसी देव की भक्ति के कारण हो । उसकी परामनोवृत्ति भक्तिमय हो, भले ही बाहर से भक्ति की कोई क्रिया न दिखाई देती हो, ऐसी हालत में वह भक्तियोगी कहलायगा । अगर उसकी एकाग्रता तत्त्वविचार अन्वेषण आदि के लिये है तो वह विद्यायोगी अर्थात् सारस्वतयोगी है । इसप्रकार उसका अलग भेद बनाने की जरूरत नहीं है ।

यों तो दुनिया में सैकड़ों तरह के निमित्त होसकते हैं जो योगी की दिनचर्या में रमजायें, पर वे सब मन और बुद्धि की वृत्ति की समानता से चार भागों में विभक्त होजाते हैं इसलिये चार तरह के योग बताये गये हैं ।

प्रत्येक प्राणी को योगी बनना चाहिये । बृद्धावस्था या अन्य किसी विशेष कारण से सन्तुष्ट ध्यानयोगी बने, पर साधारणतः कर्मयोगी बनना चाहिये । विश्व में जितने अधिक कर्मयोगी होंगे विश्व उतना ही अधिक विकसित और सुखमय होगा ।

पाँचवँ अध्याय (दुनए होपंगो)

लक्षण दृष्टि [भिम्पो लंको]

जो योगी बन गया है वही पूर्ण सुखी है। पूर्ण सुखी बनने के लिये हर एक व्यक्ति के लिये योगी बनने का प्रयत्न करना चाहिये। जो चार तरह के योगी बनाये गये हैं उनमें से किसी भी तरह का योगी हो उसमें ये पांच गुण अवश्य होना चाहिये। अथवा योगी के ये अवश्य होते हैं— १ विवेक (अमूढ़ता) २-धर्मसमभाव, ३-जाति समभाव, ४-व्यक्ति समभाव ५-अवस्था समभाव।

साधारणतः मनुष्य इकट्ठम योगी नहीं बन सकता। उसे साधना करना पड़ती है। पहिले वह अंश साधक होता है फिर अर्ध साधक होता है फिर बहु साधक होता है।

अंग साधक (अंगसाधक) में विवेक होता है और विवेक होजाने से कुछ अंश में समभाव भी आजाता है।

अर्ध साधक [अर्ध साधक] में विवेक, धर्मसमभाव तथा जातिसमभाव होता है, और अमुक अंश में व्यक्ति समभाव भी होता है।

बहुसाधक (बहु साधक) वह है जो पाँचों गुणों में साधना करता है और अमुक अंश में अयत्नसमभाव भी होता है। फिर भी उसमें कुछ कमी रहती है उसके दूर होते ही वह योगी माना जाता है।

प्रत्येक मनुष्य को कम से कम अंश साधक हो जाना चाहिये इसका भी न हो तो एक तरह से 'नारी मनुष्यता' निराकरण समझना चाहिये।

प्रश्न—विवेक के बिना भी धर्म—समभाव और जाति समभाव हो सकता है। कोई कोई

समाज ऐसे हैं जिन में जाति-प्रेम का विचार होता ही नहीं है, वे किसी भी जाति के हाथ का खाते हैं, कहीं भी शादी करते हैं, पर विवेकी बिलकुल नहीं होते। रिवाज के कारण या अच्छे बुरे की अवलोकन न होने के कारण वे जाति-समभावों या धर्मसमभावों बन गये हैं। वंश—परम्परा से सत्यसमाजी बननेवाला विवेकहीन होकर भी धर्म जाति-समभावों होगा। ऐसे व्यक्तियों को अंश साधक कहा जाय या अर्ध-साधक ?

उत्तर—विवेकहीन व्यक्ति न तो अंश साधक होता है न अर्धसाधक। वह साधक ही नहीं है। वंशपरम्परा से कोई परमाश्रित सत्यसमाजी नहीं बन सकता। परमाश्रित वह तभी होगा जब समझदार होने पर समक्षपूर्वक सत्यसमाज के तत्वों को स्वीकार करेगा। ऋद्धि-वश जो समभाव बनते हैं उनके समभाव का व्यावहारिक मूल्य तो है पर आध्यात्मिक मूल्य नहीं है, वे कोई भी समाजी हो साधक की पहिली श्रेणी में भी नहीं आ सकते। दूसरी बात यह है कि विवेकहीन अवस्था में उनके भीतर जाति-समभाव या धर्म-समभाव आ भी नहीं सकता। अधिक से अधिक इतना ही होगा कि विषमभाव को पगल कानवाले कुछ कार्य न हों। सब के साथ रोटी घेटी व्यवहार करने पर भी विषमभाव रह सकता है। विषमभाव के बिना धृष्टा और अधिमान हैं। रोटी-घेटी-व्यवहार का बन्धन न होने पर भी गान्ध, गांध, रागादि के नामपर जातिभेद आ सकता है। धार्मिक सम्प्रदायों में समभाव रहने पर भी सामाजिक सम्प्रदायों में गीति मिश्रण से विषमभाव आ सकता है। इसलिये जहाँ विवेक

नहीं है वह। वास्तविक समभाव नहीं आ सकता, हा! समभाव के दर्शन की अति हो सकती है। धर्म-समभाव में धर्म के नाम पर चलते हुए घुरे से घुरे क्रियाकण्ड आदि भी वह मानने लगेंगे मनुष्य और पशु के बीच जो उचित भेद है वह भी नष्ट हो जायगा इस प्रकार के अतिवादी समभाव से कोई साधक योगी नहीं बन सकता। योगी होने के लिये निरतिवादी समभाव चाहिये जो कि विवेक के बिना नहीं हो सकता। योगी होने के लिये विवेक पहिली शर्त है।

विवेक (अंको)

अच्छे घुरे का कल्याण अकल्याण का ठीक ठीक निर्णय करना विवेक है। एक तरह से पहिले सत्यदृष्टि अध्याय में इसका विवेचन हो गया है। विवेकी में तीन बातें होना चाहिये निःपक्षता, परीचकता, और समन्वय-शीलता।

भगवान् सत्य के दर्शन करने के लिये इन तीन गुणों की आवश्यकता है। भगवान् सत्य के दर्शन हो जाने का अर्थ है विवेकी हो जाना। इसलिये उक्त तीन गुण विवेकी होने के लिये जरूरी हैं।

उक्त तीन गुणों के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य अश-सायक योगी हो जाता है और किसी भी तरह की मूढ़ता अज्ञानता के निर्णय में बाधक नहीं रहती। फिर भी चार तरह की मूढ़ताओं का कुछ स्पष्ट विवेचन करना जरूरी है। क्योंकि योगी बनने के लिये इस प्रकार की मूढ़ताओं का त्याग आवश्यक है।

चार मूढ़ताएँ निम्न चित्वन हैं—१ गुरु-मूढ़ता २—रास्त्र मूढ़ता, ३—देव-मूढ़ता ४—लोक मूढ़ता।

गुरु मूढ़ता (तारुणो)

जो पूर्ण योगी बन गया है उसका काम तो गुरु के बिना चल ही सकता है तथा और भी बहुत लोगों का काम गुरु के बिना चल सकता है। विवेक ही उक्त गुरु है, या युगानुरूप पैग-

म्बर के वचन उनके लिये गुरु का काम दे सकते हैं। फिर भी सद्गुरु मिल जाय तो अच्छा। योगी के भी गुरु हो सकता है। शिष्टाचार और कृपज्ञता के कारण वह पूर्ण अवस्था के गुरु को गुरु मानता है, हा, नये गुरु की उसे आवश्यकता नहीं होती। यद्यपि योगियों में भी तरतमता होती है, विवेक, धर्म, जाति, व्यक्ति, अवस्था-सम-भाव सप्त योगियों में पर्याप्त मात्रा में होने पर भी उनमें श्रुतिक अंश में न्यूनाधिकता होती है। फिर भी कल्याण पथमें वे इनने बढ़ाये होते हैं कि उन्हें नया गुरु नहीं बनाना पड़ता। कदाचित् जनसेवा की दृष्टि से किये गये संगठन के लिये नेता की आवश्यकता हो सकती है। जनसेवा की दृष्टि से पूर्व गुरुको वह गुरु भी मानता है। इस विषयको स्पष्ट रूप में समझने के लिये निम्न-लिखित सूचनाएँ ध्यान में रखना चाहिये।

१—योगी को गुरु की आवश्यकता नहीं है।

२—पूर्व गुरु को वह कृपज्ञता की दृष्टि से गुरु मानता है, अनुभव और विशेष प्रतिभा की दृष्टिसे भी गुरु मानता है, जनसेवा में विशेष उपयोगी या प्रभावशाली होने से भी गुरु मानता है।

३—योगी अन्य लोगों को जनसेवा में उपयोगी होने से नेता मान सकता है।

४—योगी न होने पर भी विवेकी मनुष्य गुरु के बिना काम चला सकता है।

५—साधारण मनुष्य को गुरु मिल जाय तो सौभाग्यकी बात है।

६—अगर योग्य गुरु न मिले तो गुरुशून्य जीवन ही अच्छा। कुतूहल या अगुरु की गुरुवन्दना ठीक नहीं। गुरु रहित होना अपमान या बदनामी की बात नहीं है।

इन बातों का विचार कर गुरु मानना चाहिये।

गुरु (तार) कल्याण के मार्ग में जो अपने से आगे है और अपने को आगे न माने

का प्रयत्न करता है वह गुरु है। साधारणतः साधुता के बिना कोई सच्चा गुरु नहीं हो सकता। क्योंकि सन्धा गुरु होने से एक तरह की निस्वार्थता जरूरी है और वही साधुता है। निस्वार्थ परोपकार या स्वार्थ से अधिक परोपकार साधुता का लक्षण है।

गुरु की तीन श्रेणियाँ हैं। स्वगुरु सच्चगुरु और विश्वगुरु। दुनिया के लिये वह कैसा भी हो परन्तु जो हमारा उद्धारक है वह स्वगुरु (कीर्तनार) है। परोपकार आदि तो उसमें भी होना चाहिये इतना ही है कि उसका उपकार एक व्यक्ति तक ही सीमित रहता है।

जिसका उपकार किसी एक वर्ग, जल या समाज पर है वह सत्त-गुरु (जिपतार) है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायों की सेवा करनेवाले गुरु भी संघ-गुरु हैं। इसी प्रकार राष्ट्र, प्रान्त आदि की सेवा करने वाले भी संघ-गुरु हैं।

प्रश्न—मनुष्य कितना भी शक्तिशाली हो पर वह सारे जगत के प्रत्येक व्यक्ति की सेवा नहीं कर सकता इसलिये बड़ा से बड़ा गुरु भी संघ-गुरु कहलायगा फिर विश्वगुरु भेद कि। लिये किया ?

उत्तर—विश्व-गुरु होने के लिये प्रत्येक व्यक्ति की सेवा करने की जम्हरत नहीं है किन्तु उस उदारता की जरूरत है जिस में प्रत्येक व्यक्ति समा मरे जिसकी सेवान्ति मनुष्यमात्र या प्राणिमात्र के कल्याण की हो। फैलने के विशाल माधन न होने से वह थोड़े क्षेत्र में भले ही काम करे पर जिसका मन सङ्कुचित न हो वह विश्व-गुरु है।

प्रश्न—राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महात्माओं ने किसी एक जाति या सम्प्रदाय के लिये काम किया था तो इन्हें संघ-गुरु माना जाय या विश्वगुरु ?

उत्तर—विश्वगुरु (जीवसत्तार) क्योंकि इनकी नीति मनुष्यमात्र ही सेवा करने की थी।

उनने जो सम्प्रदाय भी बनाये वे मनुष्यमात्र की सेवा करने के लिये स्वयंसेवकों के संगठन के समान थे वे जगत्कल्याण की प्रत्येक बात प्रदूषण करने को तैयार थे इन्हें कोई पुरानी परम्परा काया अमुक मानव-समूह का कोई पक्षपात न था। विश्वहित के निश्चय को जीवन में उतारकर बताना इनका ध्येय था इसलिये ये विश्वगुरु थे।

पर इनके बाद जो साम्प्रदायिक लोग इनके अनुयायी कहलाये उनके लिये विश्वहित गैरु वा अमुक परम्परा या अमुक नाम मुख्य था जिनको अपना नाम लिया था उनके लिये वे दूसरों की पर्वाह नहीं करते थे इसलिये वे नेता अधिक से अधिक संघ-गुरु कहे जा सकते हैं, विश्वगुरु नहीं।

प्रश्न—क्या कोई हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध या ईसाई आदि रहकर विश्वगुरु नहीं हो सकता ?

उत्तर—हो सकता है पर वह हिन्दू या मुसलमान आदि अपने वर्ग के लिये दूसरों का दुःखान न करेगा। नाम की छाप रहेगी पर काम व्यापक होगा। इसलिये वह विश्वमात्र की सेवा करने की नीति के कारण विश्वगुरु कहलायगा।

प्रश्न—इस प्रकार उदारता रखने से ही अगर कोई विश्वगुरु कहलाने लगे तब जिसको पढोसी भी नहीं जानता वह भी अपने को विश्व-गुरु कहेगा। विश्वगुरुत्व बड़ा सस्ती चीज हो जायगी।

उत्तर—विश्वगुरु को पहिले गुरु होना ही चाहिये, वह सिर्फ उदार नीति रखता है पर उस नीति पर दूसरा को चलाने की शक्ति नहीं रखता तो वह गुरु ही नहीं है विश्वगुरु क्या होगा ? उस प्रकार उदार और गुरु होने के साथ उसका प्रभाव इतना व्यापक होना चाहिये जो जनाते को देखते हुए विश्वव्यापी कहा जा सके। जब जाने अपने के साधन थोड़े थे, छापान्याना, समाचार पत्र, नाग आदि न होने से मनुष्य अपना

प्रभाव बहुत नहीं फैला पाता था तब अरब या मगध में ही प्रभाव फैला सकना विश्वगुरुत्व होने के लिये पर्याप्त प्रभाव था। आज उनसे काम नहीं चल सकता। आज विश्वगुरु होने के लिये कई राष्ट्रों की जनता पर थोड़ा बहुत प्रभाव चाहिये। कल गृह नवत्र आदि में मनुष्य की गति हो जाय तो केवल पृथ्वीपर प्रभाव होने से ही कोई विश्वगुरु न कहलायगा। उसे उससे भी अधिक प्रभाव फैलाना पड़ेगा। इसलिये विश्वगुरु होने के लिये उदारनीति, गुरुत्व और व्यापक प्रभाव चाहिये।

प्रश्न—ऐसा भी देखा गया है कि गुरुत्व और उदारता होने पर भी जीवन में किसी का प्रभाव नहीं फैला और मरने के बाद वह अपेक्षा कृत विश्वव्यापी हो गया। जैसे म ईसा की लीजिये, उनके जीवन में उनके अनुयायी इनेगिने वे पर आज करोड़ों की संख्या में हैं तो उनका गुरुत्व उनके जीवन-काल की दृष्टि से लगाया जाय या आज की दृष्टि से।

उत्तर—ऐसे व्यक्ति मरने के बाद गुरु नहीं रहते, वे देव व्यक्तिदेव, बन जाते हैं। यह स्थान विश्वगुरु से भी ऊँचा है। पर मानलो कोई देव नहीं बन सका, वह मनुष्यमात्र का सेवक या गुरु था पर अपने जीवन में नहीं फैला तो भी वह विश्वगुरु कहा जायगा। क्योंकि विश्वगुरु होने का बीज उसके जीवन में था जो कि समय पाकर फल गया। जीवन में फले या जीवन के बाद फले वह विश्वगुरु कहलाया। जो लोग बीज से ही फल का अनुमान कर सकते हैं उस की दृष्टि में वह पहिले ही विश्वगुरु था-बाकी जगत की दृष्टि में फलने पर हो गया।

प्रश्न—इस प्रकार स्वर्गीय लोगों को विश्वगुरु ठहराने से उन्हें क्या लाभ? और अपने को क्या लाभ?

उत्तर—उनको तो कोई लाभ नहीं पर पीछे के लोगोंको बहुत लाभ है। उनके पद-चिन्हों से उन्हें कल्याणमार्ग पर चलने में सुभीता होता है।

प्रश्न—विश्वगुरु तो हर हालत में आवश्यक मालूम होता है पर संवगुरु तो कुतुर है क्योंकि वह अपने संघ की तितनी भलाइ करता है उससे अधिक दूसरे संघों की बुराई करता है।

उत्तर—जैसे स्वगुरु का वह अर्थ नहीं है कि पर की बुराई करे उसी प्रकार संवगुरु का भी वह अर्थ नहीं है कि वह सब की बुराई करे। भलाई का सेवा क्षेत्र परिमित है और बाकी क्षेत्र पर काफ़ी उपेक्षा है यही उसका संवगुरुत्व है, पर अगर विश्वका अहित करे तो वह एक प्रकार का कुगुरु हो जायगा। एक आदमी धर्म-मद के बश में होकर जगत की निन्दा करता है या सब को मिथ्यात्वा या नास्तिक बताता है तो वह कुगुरु है।

प्रश्न—पर निन्दा से अगर गुरु कुगुरु बन जाय तो सत्य-असत्य की परीक्षा करना कठिन हो जायगा क्योंकि असत्य की निन्दा करने से आप उसका गुरुत्व छीनते हैं।

उत्तर—असत्य की निन्दा करना बुरा नहीं है, निष्पक्ष आलोचना आवश्यक है और कल्याणकर को कल्याणकर और अकल्याणकर को अकल्याणकर भी कहना ही पड़ता है पर यह कार्य निष्पक्ष आलोचक बन कर करना चाहिये और धर्ममद आदि मद के कारण पर-निन्दा कभी न करना चाहिये।

प्रश्न—निष्पक्षता से क्या मतलब है? ईश्वर मनुष्य कुछ न कुछ अपने विचार रखता ही है-आलोचना करते समय वह उन्हें कहीं फँक देगा?

उत्तर—अपने विचार होना ही चाहिये पर उनके अनुसार सिर्फ मन को ही बनाकर रखना जिससे उनके अनुसार काम कर सके। हठ निश्चय होना भी अच्छा है पर उनके समान बुद्धि को भी उनका गुलाम बनाकर मन रखने आलोचना करते समय बुद्धिको चिन्तक स्वतंत्र रखने, अनुभव और मर्कस निर्णय मानने से नयान गरी।

प्रश्न—घटना-विशेष पर कभी कभी इन्सा अनुभव होता है कि वह पुराने अनुभवों को नष्ट सा कर देता है। जो जीवनभर हिनैपी होने से प्रिय रहा है वह अप्रिय सा मालूम होने लगता है, चिकित्सा क कष्ट से घबरा कर रोगी वैद्य को भी बुरा समझने लगता है। इसी प्रकार कोई कोई विद्वान अपने बुद्धि वैभव से सत्य को भी असत्य सिद्ध कर देता है, अगर ऐसे समय में बुद्धि को स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो वैद्यको शत्रु मानना पड़ेगा और सत्य को असत्य मानना पड़ेगा।

उत्तर—यह बुद्धि का नहीं मनका दोष है। जिस समय मन झुंध हो उस समय मनुष्य सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर सकता, कम से कम जिस विषय में चोम है उस विषय में नहीं कर सकता या कदाचित् ही कर सकता है। इस-लिये रोगी के झुन्ध मन के निर्णय का कुछ मूल्य नहीं, रही बुद्धि के विमोहित होने की बात सां विचारणीय विषय जैसा गम्भीर हो उसके लिये सनना समय देना चाहिये और निष्पत्ति विचारक के नाम पर इतना कहना चाहिये कि अभी तो इस बात का उत्तर नहीं सूझा है पर कुछ समय बाद भी अगर न समझेगा, दूसरे से चर्चा करने पर भी अगर न मिलेगा तो अवश्य विचार बदल दूंगा। काफी समय लगाने पर भी अगर अपने विचार परीक्षा में न टूटते तो मोहवश या मद्-वश उनसे चिपके न रहना चाहिये। अगर कोई गुरु ऐसा पक्षपाती है तो वह कुगुरु है। जो स्वयं सत्य को नहीं पा सकता वह दूसरों को कैसे सत्य प्राप्त करायगा और सत्य पर चलायगा ?

प्रश्न—कुगुरु किसे कहना चाहिये ?

उत्तर—जो गुरु नहीं है किन्तु शब्द-भाषा या मौन-भाषा द्वारा गुरु होने का दावा करता है वह कुगुरु है।

प्रश्न—शब्द-भाषा और मौन-भाषा का क्या मतलब ?

उत्तर—शब्दों से बोलकर या किसी प्रकार लिख कर विचार परगट करना शब्द-भाषा

(ईगो इका) है। तब प्राप्ति में जो स्व-व्यञ्जन संरुन होते हैं वह भी शब्द-भाषा है पर वेप से या किसी तरह क व्यञ्जक से अभिव्यक्ति परगट करना मौन-भाषा [चुप्पी इका] है।

किसी भी तरह से जो गुरु होने का दावा करे किन्तु गुरु न हो वह कुगुरु है।

प्रश्न—जो गुरु नहीं है उसे अगर कहना चाहिये कुगुरु क्यों ?

उत्तर—अगुरु तो शत्रु मनी हैं। पर जो गुरु न होने पर भी गुरु होने का दावा करे वह बचक है उसलिये कुगुरु है।

प्रश्न—हा सकता है कि कोई गुरु न हो पर अपने से अच्छा हो तो उस गुरु मानने में क्या बुराई है ?

उत्तर—अपने से अच्छा हो, तो इतना ही मानना चाहिये कि वह अपने से अच्छा है। अगर वह अच्छापन हमें भी अच्छा बनाने के काम आता हो तो स्वगुरु मानना भी ठीक है पर अमुक आवसी से अच्छा होने के कारण कोई गुरुत्व का दावा करे तब वह कुगुरु ही है। वह अपने से जितना अच्छा है उतना उनका दावा आदि होना चाहिये पर गुरु मान कर नहीं। खोटा रुपया पैसे की अपेक्षा अधिक कीमती होने पर भी बाजार में नहीं चलता क्योंकि वह राखा बन कर चलना चाहता है। इसी प्रकार अगुरु हमसे सिर्फ कुछ अच्छा होने पर ही जब गुरु बन कर चलना चाहता है तब खोटे रुपये की तरह निन्दनीय है।

परन्तु यह भी जयाल चाहिये कि अच्छेपन की निशानी १ वेप (१) जो २ पद [पम्पो] ३ व्यर्थ किया, [नकावे] और ४ व्यर्थ विद्या (नकुबो) नहीं है। बहुत से लोग इनको गुरुत्व का चिन्ह समझते हैं पर यह गुरु मूढता का परिणाम है।

नगना, पीले वस्त्र, सफेद वस्त्र, भगवाँ वस्त्र, जटा, मुँहपत्ति आदि अनेक तरह के जो साधुवेप हैं उन्हे गुरुता का या साधुता का चिन्ह न समझना चाहिये। वेप तो सिर्फ अमुक संस्था के प्रमाणित सदस्य होने की निशानी है पर किसी

संस्था के सदस्य हो जाने से गुरुत्व या साधुता नहीं आती।

प्रश्न—दुनिया के बहुत से काम वेप से ही चलते हैं। खास कर अपरिचित जगह में कौन मनुष्य कितना आदरणीय है इसका निर्णय उसके वेप से ही करना पड़ता है।

उत्तर—वेप के ऊपर पूर्ण उपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं है किन्तु उसकी उपयोगिता मामूली शिष्टाचार तक ही रहना चाहिये। विनय के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। शिष्टाचार में भी साधुता या अन्य गुणों की अवहेलना न होना चाहिये। उदाहरणार्थ एक समाज-सेवी विद्वान या श्रीमान है, इतने में एक साधु-वेपी जैनमुनि, बौद्ध भिक्षु, हिन्दू संन्यासी, पादरी या फकीर आया तो जबतक उसके विशेष गुणों का परिचय नहीं मिला है तबतक वह एक सम्यक् गृहस्थ के समान आदर पायगा। बाद में परिचय होने पर उस समाजसेवी की अपेक्षा साधुवेपी की सेवा आदि जैसी कम-ब्यादा होगी उसके अनुसार आदर पायगा।

प्रश्न—वेप की उपयोगिता कहां तक है? नियत वेप रखना चाहिये या नहीं? सब को कैसा वेप रखना चाहिये?

उत्तर—वेप भी एक तरह की भाषा है इस लिये अपने व्यक्तित्व का परिचय इस मौन भाषा में दिया जाना है। पर भाषा तो यही पता सकती है कि यह आदमी यह बात प्रगट करना चाहता है। वह बात इसमें है ही, ऐसा नियम तो है नहीं, इसलिये जैसे कहने मात्र से हम किसी को साधु या महापुरुष नहीं मान लेते—उसके अन्य कार्यों का विचार करते हैं उसी प्रकार वेप-मात्र से किसी को साधु न मान लेना चाहिये। किसी संस्था की सदस्यता बनाने के लिये नियत-वेप भी उचित है फिर भी वेप ऐसा रखना चाहिये जो धीमास या भयंकर न हो। नम्र वेप लेकर नगर में घूमना, व्यापारियां पहिना आदि अनुचित है। साथ ही वेप अपनी

सुविधा, जलवायु तथा आर्थिक स्थिति के अनुसार होना चाहिये। वेप के द्वारा जनता में भ्रम पैदा न करना चाहिये और न अपने से भिन्न वेप देखकर घृणा। वेप को लेकर साधुता में काफी भ्रम पैदा किया जाता है क्योंकि साधुता सब से अधिक पूज्य और वदनीय है और गुरुता तो उससे भी अधिक। गुरुता का तो हमारे जीवन की उत्पत्ति-अवनति से बहुतसा सम्बन्ध है, इसलिये इस विषय में बहुत सतर्क रहने की जरूरत है। सिर्फ वेप देख कर किसी को गुरु या साधु न मानना चाहिये।

प्रश्न—जो साधु-संस्था जगत का कल्याण करती हो उसमें थगर धोखे से कोई निर्बल या चालाक आदमी घुस जाय और अपने दोष से उस साधु-संस्था की बदनामी करे तो साधु-संस्था की बदनामी रोकने के लिये उस साधुवेपी के दोष छिपाये रखना और साधु-संस्था के सम्मान करने के लिये उस साधु का सम्मान करना क्या अनुचित है?

उत्तर—अनुचित है। साधु-संस्था को बदनामी से बचाने के लिये दोषों के दोष दूर करने की या उसे अलग कर देने की जरूरत है न कि छिपाने की। छिपाने की नीति से साधु-संस्था बदमाशों का अशुभ बन जानी है और सबसे पवित्र संस्था सबसे अधिक अपवित्र होकर जनता का नाश करती है और साधु-संस्था की बदनामी सग के लिये हो जाती है। दुर्गचारी और बदमाश लोगों को उससे अलग कर दिया जाय तो जनतापर इस का अच्छा प्रभाव पड़ता है। जनता समझने लगती है कि इस साधु-संस्था में स्वभाव आदमीकी गुजर नहीं है, स्वभाव आदमी यह से निकाल दिया जाता है। वेप की इज्जत रखना हो तो वेपका दुरुपयोग न करने देना चाहिये। फिर भी यह तो हर हालत में आवश्यक है कि वेप की इज्जत साधुता आदि से अधिक न हो।

वेप के समान पत्र भी गुरुता की निशानी नहीं है। पत्र का सम्बन्ध किसी संस्था की व्यवस्था से है—गुरुता से नहीं। आचार्य, पोप

हलीफा यात्रि पद समय समय पर लोगो न धर्म
रक्षा की व्यवस्था के लिये बनाये वे। हर एक
रीज का दुरुपयोग होता है—पद का तो कुछ
वशेष मात्रा में फिर भी जो उस संस्था के अंग
उन्हे पद का सम्मान रखना चाहिये। उसका
दुरुपयोग हो रहा हो या अनावश्यक हो तो भले
ही वह राष्ट्र का विश्व जाय पर व्यवस्था के लिये
उसका सम्मान करना उचित है। इतना होनेपर
भी पद गुरुता की निशानी नहीं है और पद का
दुरुपयोग होरहा हो तो उसको निभाते जाना भी
उचित नहीं है। साबक किसी पद के कारण किसी
को गुरु नहीं बनाता।

क्रियाकारण भी गुरुता की निशानी नहीं
है। एक आदमी अनक तरह के आसन लगाता
है, अनेक बार स्नान करना है या बिलकुल स्नान
नहीं करता, धूप में नरना है या अग्नि तपता है,
मिर के बाल हाथ से उठाव लेता है, घंटो पूजा
करता है, त्राप जपता है, एकान्त में बैठता है,
मौन रखता या दिनभर नाम यात्रि जपता रहता
है, उपवास करता है या एक ही बार खाता है,
अनेक घरा स मांगकर खाता है या एक ही घर
में जाता है इत्यादि बहुतसा क्रियाकारण भी
गुरुता की निशानी नहीं है। उनमें बहुतसा निर-
र्थक है। बहुतसा सिर्फ व्यायाम के समान उप-
योगी है वह भी किसी खास समय के लिये—पर
गुरुता की निशानी कोई नहीं है।

क्रियाकारण वही उपयोगी है जिससे जगत
ही मना होनी हो, जगत का कुछ लाभ होता हो।
किसी तरह से अभाषागता बनना ही लोगों को
यमज्ञाना। उनका "ज्ञान अपनी तरफ मीचना
और इस प्रकार अपनी पूजा फाँटना एक प्रकार
का उन्मत्त है। इसका गुरुत्व से कोई सम्बन्ध नहीं।
उन्मत्त गुरुता के लिये ये कथ्य क्रियाकारण हैं।

रष्ट्र-मान भी पर-सेवा में उपयोगी होने
चाहिये निर्दोष राष्ट्र सदन के छोड़ें मूल्य नहीं।
राष्ट्र-मान या कितना राष्ट्र मानते हैं अद्वयता
होना नहीं साबक के मा मात्रा के निरर्थक
रष्ट्र-मान के विषय में नहीं उन्मत्त चाहिये।

कोई कोई सार्थक क्रियाएँ भी होती है, जैसे
सेवा, विनय आदि। ये साधुता के चिन्ह हैं अपने
से अधिक मात्रा में हा तो गुरुता के चिन्ह बन
सकते हैं।

विद्वत्ता भी गुरुता का चिन्ह नहीं है। अनेक
भाषाया का ज्ञान, वक्तृत्व, लेखन, कवित्व, धर्म,
दर्शन, इतिहास, पदार्थ, विज्ञान, गणित, ज्योतिष
आदि का पांडित्य यश और सम्मान की चीज
है पर इसका गुरुत्व से सम्बन्ध नहीं है। इससे
मनुष्य शिक्षक हो सकेगा गुरु नहीं। गुरुता का
सम्बन्ध ज्ञान के साठ सवाचार और सेवा से
है। ज्ञान आवश्यक है, पर सिर्फ ज्ञान से कोई
गुरु नहीं कहलाता। हा, हो सकता है कि उनका
ज्ञान किताने पढ़कर नहीं, किन्तु प्रकृति को पढ़कर
आया हो, नागमात्र की किताने पढ़कर चिन्तन
मनन से आया हो।

अपना असली गुरु तो मनुष्य स्वयं है पर
हर एक को कल्याण मार्ग का पूरा परिचय नहीं
होता कभी कभी जटिल समस्याएँ आकर किंक-
तकषविमूढ़ बना देती है, कभी कभी समझते हुए
भी खुद पर अकुश रखना कठिन होता है इसके
लिये अधिकतर मनुष्यों को गुरु की आवश्यकता
होनी है पर गुरु बनाना ही चाहिये—ऐसा कोई
नियम नहीं है। जिनमें सबसदाविवेक काफी है
और मनकी उदात्त धृतिसे पर भी
अकुश है उन्हे गुरु की कोई जरूरत नहीं।
गुरु मिल जाय तो अच्छा, न मिले तो गुरुहीन
जीवन अच्छा, पर कुगुरु—सेवा अच्छी नहीं।
मूल्य स जादवी इतनी जल्दी नहीं मरता जितनी
अहंता विष खाकर मरता है। गुरुहीन से कुगुरु-
सेवा की हानि कई गणी है।

प्रश्न—गुरु का तो नाश ही करना चाहिये।
गुरु के होने से गुरुहम फैलता है धर्म के नाम
पर अत्याचार शुरू होत है, समाज का बोझ
बढ़ता है। अतिया गुरु को अस्मन ही क्या है ?

उत्तर—वैयार्थिक आवश्यकता नहीं है।
असुर आदमी को गुरु मानना ही चाहिये या
गुरु का पद होना ही चाहिये यह नियम भी नहीं

है। गुरुद्वय फैला है वेप और पद को अधिक महत्व देने से। सो देना चाहिये जब गुरु के योग्य गुरु दिये तभी गुरु भानना चाहिये। हमारे सम्प्रदाय का आचार्य है, मुनि है, अमुक वेप में रहता है इसलिये हमारा गुरु है जब यह नियम टूट जायगा तब गुरुद्वय न फैल पायगा। गुरुद्वय शब्द ऐसे गुरुवाद के लिये प्रचलित है जिस में गुरु पद-वेप आदि के कारण भ्रमोपर अनुचित अधिकार रखता है या उस अधिकार का दुरुपयोग करता है, साधुताहीन जीवन बिताता है, छलकर लोगों की सम्पत्ति लूटता है और उससे मौज करता है, उन्हें अधश्चक्रालु बनाता है। ऐसे गुरुद्वय का नाश अवश्य करना चाहिये। पर जहाँ ज्ञान, त्याग, सेवा, विवेक है वहाँ गुरुत्व माना जाय तो कोई हानि नहीं है थलिक लाभ है।

प्रश्न—लाभ क्या है ?

उत्तर—अज्ञान के कारण कोई अकस्त्री दात हमारी समझमें नहीं आती तो वह समझता है, कुमार्ग में जाने से रोकता है, प्रमाद दूर करता है, साहस देता है, धैर्य की रक्षा करता है विपत्ति में सहायक होता है और भी जो उचित सेवाएँ हो सकती हैं करता है।

प्रश्न—गुरु और शिष्य में प्रतिम निर्णय कौन करे ? अगर शिष्य की चलती है तो गुरु गलाम बन जाता है फिर वह उद्धार क्या करेगा और गुरु की चलती है तो गुरुद्वय फैलता है।

उत्तर—यह तो राजी राजी का सौदा है। होता अपनी अपनी जगह स्वतंत्र हैं। शिष्य को गुरु की परीक्षा करने का पूर्ण अधिकार है इसलिये गुरुद्वय फैलने की बहुत कम सम्भावना है और सच्चा गुरु शिष्य को परीक्षा नहीं करता वह उसके हित को पनाह करता है। इसलिये गुरु के गलाम होने की सम्भावना नहीं है।

प्रश्न—गुरु की परीक्षा कैसे होगी ? जो दोग-प्रपन में है उन्हें दूसरे में निजालना कठों तक पचन है ?

उत्तर—ईर्ष्या द्वेष आदि के बश होकर किसी के दोष न निकालना चाहिये पर किसी पर कोई जिम्मेदारी डालना है तो उसमें उस जिम्मेदारी को संभालने की योग्यता है या नहीं इसकी जाँच तो करना ही चाहिये। हो सकता है कि जो दोष उसमें है वह दोष अपने में उससे अधिक हो और अपने दोषों की संख्या भी अधिक हो फिर भी हम उसके दोष निकालेंगे क्योंकि उससे हमें अमुक योग्यता का काम लेना है, अध्यापक अगर अध्यापक के योग्य नहीं है तो इतने से ही वह सन्तोष नहीं हो सकता कि विद्यार्थी तो और कम जानता है। गुरु को गुरु के योग्य बनना चाहिये। जो जिस पद पर है उसे उस पद के योग्य बनना जरूरी है। इस प्रकार गुरु की पूर्ण परीक्षा का गुरुमूढता का हर प्रकार त्याग करना चाहिये। साधक गुरुमूढतासे सदा दूर रहता है।

शास्त्र मूढता (ईदू तो) साधक में शास्त्र-मूढता भी नहीं होनी। परम गुरुओं या गुरुओं के वचन शास्त्र हैं। जब हम गुरुओं की परीक्षा करते हैं तो शास्त्र की भी परीक्षा करना आवश्यक है।

प्रश्न—गुरुओं की परीक्षा करने से काग चल जाता है फिर शास्त्रों की परीक्षा करने की क्या जरूरत है ? यासफर परम गुरुओं के वचनों की परीक्षा करना तो और भी अनावश्यक है।

उत्तर—इसके पांच कारण हैं। १ गुरुपरोक्षता (तार नोइन्गो) २ परिस्थिति-परिवर्तन (लजिजो भुरो) ३ शब्द-परिवर्तन, (डकोभुरो) ४ अर्थ-परिवर्तन, (आगोभुरो) ५ अविज्ञान। (नो लनीमो)

शास्त्र के उपयोग के समय गुरु या तो स्वर्याय हो जाते हैं या बहुत दूर हो जाते हैं। जब गुरु नहीं मिलते तब हम उनके वचनों से जान चलाते हैं। नीं हालत में गुरु की परीक्षा करने का ठीक ठीक अवसर ही नहीं मिल पाता तब महासत्य की जाँच ज्ञान के लिये उनके वचन की परीक्षा करना आवश्यक है। परमगुरु २

मनस्य है ऐसा महान विश्वगुरु जो ठेक कोटि म जा पहुँचा है अर्थात् व्यक्तित्व। व्यक्तिदेव की भी परीक्षा करना जरूरी है क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि अयोग्य व्यक्ति भी कारणवश व्यक्तिदेव मान लिया गया हो। इस प्रकार किसी के भी वचन हो उनकी विश्वाससम्भव जाँच तो होना ही चाहिये। परीज होने के कारण गुरु की जाँच नहीं हो सकती तो उसके वचन की जाँच आवश्यक है।

परिस्थित क बदलने से भी शास्त्र की बहुत सी बातें अमोह हो जाती हैं। जो ज्ञान एक समय के लिये जनकदायक होती है वही दूसरे समय के लिये हानिकर या अनावश्यक हो जाती है। इसमें शास्त्र का दोष नहीं है यह प्रकृति का ही परिणाम है। उस परिस्थिति क विचार से भी शास्त्र की परीक्षा आवश्यक है।

बाद रखने में या कभीवा आदि पर नकल करने वा छापने में शास्त्रों के शब्द बदल जाते हैं इस प्रकार शास्त्र क्या के लिये नहीं रह पाते इसलिये शास्त्र की परीक्षा आवश्यक है।

कभी कभी शब्द तो नहीं बदलते पर अर्थ बदल जाता है। कुछ तो बहुत समय बीत जाने से शब्दों का धार्मिक अर्थ मालूम नहीं रहता जैसा कि वेदों के विषय में है। और कुछ लक्षण व्यञ्जना आदि से अर्थ बदल दिया जाता है। यही कारण है कि एक ही पाठ क नाना अर्थ हो जाते हैं और उन अर्थों के सम्प्रदाय भी चल जाते हैं इसलिये भी शास्त्र की परीक्षा आवश्यक है।

शास्त्रकार—कि वं गुरु वा परम गुरु कौन भी हो—ऐसे संबंध नहीं हो सकते जिनके ज्ञान में ज्ञान की सीमा कहा जा सके। ऐसा संबंध कोई भी नहीं हो सकता। वह अपन जमाने के अनुरूप महान जानी हो सकता है। पर उसके बाद जगत् में ज्ञान की वृद्धि स्वाभाविक है। समय-समय विकास भले हो न हो पर ज्ञान का विकास मात्र ही होता है और होगा है। इसलिये शास्त्रों में भी बहुत सी बातें आ जाती हैं

जो आज तथ्यशून्य कही जा सकती हैं। इसमें शास्त्रकारों का अपराध नहीं होता क्योंकि उनमें तो अपने जमाने में जितना तथ्य मिल सकता था उतना तथ्य लिख दिया। अब आज अगर ज्ञान का विकास हो जाने से पुरानी मान्यताएँ अतथ्य होगई हैं तो उन्हें बदल देना चाहिये। शास्त्रकार जितना कर सकते थे किया, अब हमें कुछ आगे बढ़ना चाहिये और शास्त्रकारों ने जितनी सामग्री दी उसके लिये उनका कृतज्ञ होना चाहिये और कृतज्ञतापूर्वक उनके वचनों की परीक्षा करना चाहिये।

जहाँ परीक्षकता है वहाँ शास्त्र-मूढ़ता नहीं रहती परीक्षकता के विषय में और शास्त्र के उपयोग के विषय में पहिले अध्याय में जो कुछ लिखा गया है उनपर ध्यान देने से और उसे जीवन में उतारने से शास्त्र-मूढ़ता दूर हो जाती है फिर भी स्पष्टता के लिये कुछ कहना जरूरी है।

शास्त्र मूढ़ता के कारण नाना तरह के मोह हैं। १ स्वत्वमोह, २ प्राचीनता-मोह, ३ भाषा-मोह, ४ वेदमोह आदि।

अपने सम्प्रदाय के, जाति के, प्रान्त के और देश के कानूनों की वनाई यह पुस्तक है इसलिये सत्य है यह स्वत्वमोह है। स्वर्गीय विद्वान की वनाई यह पुस्तक है इसलिये सत्य है यह प्राचीनता-मोह है। यह पुस्तक संस्कृत मातृभाषा अथवा पारसी लेटिन भाषा का है इत्यादि सत्य है यह भाषा-मोह है। यह पुस्तक जिसने बनाई है वह संन्यासी था मुनि था फकीर था इसलिये सत्य है यह वेदमोह है। ये सब मोह शास्त्र-मूढ़ता के चिह्न हैं। बहुत से लोग किसी पुस्तक को इसीलिये शास्त्र कहते हैं कि वह पुस्तक सस्कृत आदि किसी प्राचीन भाषा में बनाई है, अपने सम्प्रदाय की है और बनानेवाला मर गया है यह मान्यता शास्त्र-मूढ़ता का परिणाम है। इस प्रकार शास्त्रमूढ़ता के और भी रूप हैं उन सब का त्याग करना चाहिये और शास्त्रों की विश्वासपूर्वक परीक्षा करके उसका उपयोग करना चाहिये।

प्रश्न—परीक्षा करके ही अगर शास्त्र माने जायें तो शास्त्र की उपयोगिता ही नष्ट हो जायगी शास्त्र की परीक्षा का अर्थ है उसमें लिखे हुए विषयों की परीक्षा। जिज्ञासु उनकी परीक्षा कैसे करे? जाने तो परीक्षा करे, परीक्षा करे तो जाने, फिर पहिले क्या हो?

उत्तर—यहां एक तीसरी चीज भी है—मानना। पहिले जाने, फिर अपने अनुभव तथा अन्य ज्ञान के आधार से परीक्षा करे, फिर माने। परीक्षा करके मानने की जरूरत है—जानने की नहीं। जानना तो पहिले भी हो सकता है।

प्रश्न—जो शास्त्र की परीक्षा कर सकता है उसे शास्त्र की जरूरत क्या है? जिस बुद्धे वैभव से वह शास्त्र की परीक्षा कर सकता है उसी से वह शास्त्र में वर्णित विषय क्यों न जाने?

उत्तर—यहां गुरु-परीक्षा नहीं आलोचन-परीक्षा है, इस परीक्षा में उतने बुद्धि-विभव की जरूरत नहीं होती जितनी शास्त्र के निर्माण में। निर्माता को अप्राप्त वस्तु प्राप्त करना पड़ती है, आलोचक को प्राप्त वस्तु की सिर्फ जांच करना पड़ती है। प्राप्त वस्तु को जाचना सरल है पर उसका निर्माण या अर्जन कठिन है इसलिये हर एक आदमी शास्त्र-निर्माता नहीं हो सकता पर परीक्षा हो सकता है।

प्रश्न—परीक्षक बनने के लिये कुछ विशेष ज्ञान की आवश्यकता है पर बिना परीक्षा किये किसी की कोई बात मानना ही न चाहिये ऐसी हालत में विशेष ज्ञान कैसे मिलेगा? बालक का भी कर्तव्य होगा कि वह माँ बाप की बात परीक्षा करके माने, इतना ही नहीं—किन्तु माँ बाप की भी परीक्षा करे? जब सरस्वती माता की परीक्षा की जाती है, गुरु की परीक्षा की जाती है तब माँ बाप की परीक्षा क्यों नहीं? पर इस प्रकार परीक्षकता के दृष्टैव से क्या जगत का काम चल सकता है?

उत्तर—दुनिया दुर्गम है, भीतर कुछ और बाहर कुछ, इसलिये परीक्षक बने बिना मनुष्य की गुजर नहीं हो सकती? पर मनुष्य जन्म से विश्वासी होता है, दूसरों से बञ्चित होने पर वह परीक्षक बनना सीखता है। इस प्रकार के अनुभव ज्यों ज्यों बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्य परीक्षक बनता जाता है और जहां परीक्षक नहीं बन पाता वहां विश्वास से काम लेता है। मनुष्य का जीवन-व्यवहार विश्वास और परीक्षा के समन्वय से चलता है। जहां अपनी गति हो वहां परीक्षा करना चाहिये, बालक माँ बाप की बात की परीक्षा करते हैं और माँ बाप की भी परीक्षा करते हैं। जब बालक माँ बाप की बात का भी विश्वास नहीं करता है तब समझना चाहिये कि उसमें परीक्षकता है। हर एक आदमी को माँ बाप नहीं कहता, विशेष आकृति स्वर आदि से माँ बाप को पहिचानता है—यह माँ बाप की परीक्षा है। जैसी उसकी योग्यता है वैसी परीक्षकता है। प्रारम्भिक शिक्षण में विश्वास से काम लेना ही पड़ता है और परीक्षकता का उपयोग भी कुछ नियमों के अनुसार करना पड़ता है। परीक्षा करने में तीन बातों का विचार करना चाहिये:—

१ वस्तु का मूल्य २ परीक्षा की सुसम्भावना की मात्रा, ३ परीक्षा न करने से लाभ हानि की संभावना।

१ सोना चाँदी आदि की जितनी परीक्षा की जाती है उतनी साधारण पदार्थों की नहीं। उसी प्रकार गुरु शास्त्र देव आदि की जितनी परीक्षा की जाती है उतनी अन्य सम्बंधियों की नहीं, क्योंकि गुरु शास्त्र आदि पर लोक-परलोक का कल्याण निर्भर है।

२ शास्त्र गुरु आदि की परीक्षा जितनी सुसम्भव है उतनी माता पिता आदि की नहीं। सम्भव है, माता पिता कहलानेवाले माता पिता न हो कुछ संकरता हो, शैशव में उनमें अपना लिया हो, तो हमारे पास ऐसे चिह्न नहीं हैं कि उनकी ठीक ठीक जांच कर सकें। इसलिये माता पिता की असंख्यत की जांच कम की जाती है।

१ माता पिता अगर असली न हों तो भी उसमें कोई विशेष हानि नहीं है पर गुरु शास्त्र आदि के विषय में ऐसी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनके असत्य होने से जीवन नष्ट हो सकता है।

ज्ञान की परीक्षा में मरस्वती माता का अपमान न समझना चाहिये। सरस्वती तो सत्य-मयी है और शास्त्र के नाम पर तो सत्य-असत्य सभी चलता है, उसकी परीक्षा करके सत्य को खोज निकालना सरस्वती की खोज करना है उसकी परीक्षा करके उसका अपमान नहीं। सत्य की खोज करना भगवान सत्य का अपमान नहीं सम्मान है। परीक्षा को अपमान नहीं समझना चाहिये। इसलिये शास्त्र परीक्षा अवश्य करना चाहिये। हा, जहाँ अपना बुद्धि-वैभव काम न दे वह। विश्वास से काम ले फिर भी इतना तो समझ ही लेना चाहिये कि वह प्रमाण-विरुद्ध तो नहीं है, देशकाल का देवते हुए सम्भव है या नहीं? जब विरोध समझ में आ जाय तब माहदश अमत्य को अपनायें न गये।

इस प्रकार शास्त्रों को परीक्षा करके शास्त्र-मूढ़ता का त्याग करना चाहिये।

देवमूढ़ता—(जीमूत) जीवन का आदर्श देव है। जीवन के आदर्शरूप में जब हम किसी तत्त्व को अपनाते हैं तब वह गुणदेव कहलाता है। जब किसी व्यक्ति को अपनाते हैं तब उसे व्यक्तिदेव कहते हैं। मन्त्र अहिंसा आदि गुणदेव हैं, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध ईसा मुहम्मद, ज़रथुस्त मार्कम आदि व्यक्तिदेव हैं। गुणदेवों को जीवन में उतारना व्यक्तिदेवों के जीवन में शिक्षा लेकर उनका उचित अनुकरण करना, उनके विषय में अपनी भक्ति बनाने के लिये आदर्श, पूजा, मन्त्र स्तुति करना आदि सब देवों की परामर्श है। माधव ऐसी देवोपासना तो करता है पर पर देवमूढ़ता का परिणाम नहीं देता।

देव-मूढ़ता पाँच तरह की है १ देव-भ्रम (जीम-भूहो) अर्थात् देव मानना, २ रूप-भ्रम (कर्मो-भूहो) देव का स्वरूप विकृत या असत्य कल्पित करना ३ कुपाचना (नियाचो) अनुचित मंग पेश करना ४-दुरुपासना (रुपूजो) बुरी तरह पूजा करना ५ परनिष्ठा (बुमधुपो) एक देव की पूजा के लिये दूसरे देव की निन्दा करना।

१—भय से, मोह से और अन्ध-अज्ञा से किसी को देव मानना देवभ्रम है। जैसे भूत पिशाच शीतला आदि को देव मानना उनकी पूजा करना। पहिले तो भूत पिशाच आदि कल्पनारूप हैं। एक तरह के शारीरिक विकारों को लोग भूतावेश कहने लगते हैं पर ऊपर ये हो भी, तो भी इन्हें देव मानना देवभ्रम है। क्योंकि ये आततायी हैं-आदर्श नहीं अगर ये उपद्रव करें तो इन्हें दंड देना चाहिये। दंड नहीं दे सकते तो उसका यह मतलब नहीं है कि इन्हें देव माना जाय। शनैश्चर आदि ग्रहों को देव मानना भी देवभ्रम है। अनन्त आकाश में घूमनेवाले ये भौतिक पिंड कोई प्राणी नहीं हैं कि उन्हें देव माना जाय। इनकी गतिका जीवन पर ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता जैसा कि लोग समझते हैं। बायुमण्डल आदि पर कोई प्रभाव पड़ता भी हो, तो भी इन्हें देव मानने की जरूरत नहीं है। अगर इनका कोई दुष्प्रभाव होता हो तो उससे बचने के लिये हमें कोई चिकित्सा करना चाहिये, इनकी पूजा करना और इन्हें खुश करने की कल्पना से इनके दुष्प्रभाव से बचने की आशा करना मूढ़ता है। इस मूढ़ता से बड़ी भारी हानि यह है कि मनुष्य अयोग्य चिकित्सा से बख़्ति हो जाता है और अयोग्य चिकित्सा में अपव्यय करता है इस प्रकार दुहरी हानि उठाता है।

प्रश्न—ईश्वर भी एक कल्पना है तो क्या उसे मानना भी देवभ्रम समझा जाय?

उत्तर—भय से, मोह से और अन्ध अज्ञा से ईश्वर मानना देवभ्रम है पर विचारपूर्वक ईश्वर मानना और किसी तरह की अनुचित आशा नहीं रखना देवभ्रम नहीं है। उपासना

ईश्वर कल्पित भी हो तो भी यदि उसका दुरुपयोग न किया जाय तो देवभ्रम नहीं है । जैसे पाप करना और ईश्वर की पूजा करके पाप के फल से छुटकारा मानना यह ईश्वर का दुरुपयोग है । पर उसे पूर्ण न्यायी मान कर पाप से बचते रहना ईश्वर का सदुपयोग है । इससे मनुष्य का कल्याण है । इसलिये अगर ईश्वर कल्पित भी हो तो भी उसकी मान्यता सिर्फ अतथ्य होगी, असत्य नहीं ।

दूसरी बात यह है कि गुणमय ईश्वर कल्पित भी नहीं है । सत्य अहिंसा आदि गुणों का पिंड ईश्वर विश्वव्यापी है, घट घट वासी है, अनुभव में आता है, बुद्ध-सिद्ध भी है उसे मानना तथ्य भी है और सत्य भी है इसलिये ईश्वर की मान्यता देव-मूढता नहीं है ।

प्रश्न—मूर्ति को देव मानना तो देवभ्रम अवश्य है । क्योंकि मूर्ति तो पत्थर आदि का पिंड है । वह देव कैसे हो सकता है ?

उत्तर—मूर्ति को देव मानना देवभ्रम है पर मूर्ति में देव की स्थापना करना देवभ्रम नहीं है । अपनी भावना को व्यक्त करने के लिये कोई न कोई प्रतीक रखना उचित है । जैसे कागज और ग्याही को (पुस्तकों को) ज्ञान समझना भ्रम है पर उसमें ज्ञान की स्थापना करके उसके द्वारा ज्ञानोपार्जन करना भ्रम नहीं है । हाँ, जब हम कला आदि का विचार न करके अन्ध-अज्ञावश किसी मूर्तिविशेष में आतिशय मानते हैं, उसे देव की पदने की पुस्तक न समझ कर देव ही समझने लगते हैं तब वह देवभ्रम हो जाता है । कोई मूर्ति सुन्दर और कलापूर्ण है तो उस दृष्टि से उसका महत्व समझो, अगर उसका कोई अदृष्ट इतिहास है तो ऐतिहासिक दृष्टि से उसे महत्व दो, पर उसमें दिव्यता की कहना मत करो, उसे देव मत समझो, देवमूर्ति समझो ।

प्रश्न—मूर्ति द्वारा देव की उपासना करते समय अगर हम मूर्ति को न भुला सके तो देव

की उपासना ही न हो सकेगी । मूर्ति को भुला देने पर देवत्व ही देवत्व रह जायगा, पर मूर्ति को जगह देवत्व को आप भ्रम कहते हैं ।

उत्तर—मूर्ति द्वारा देव की उपासना करते समय मूर्ति को भुला देना ही ठीक उपासना है मूर्ति को याद रखना उपासना की कमी है । देव की उपासना में देव ही याद रखना चाहिये उसका आधार नहीं । जितने अर्थ में अवलम्बन (मूर्ति बगैर) याद आता है उतने अर्थ में वह देवोपासना नहीं है । जिस प्रकार अक्षरों की आवाज देदी आकृतियों को देखते हुए और उनका उपयोग करते हुए भी उन्हें भुलाकर अर्थ पर विचार करना पड़ता है उसी प्रकार मूर्ति के सामने मूर्ति के रूप को भुलाकर देव का रूप याद करना पड़ता है । इस में अदेव को देव नहीं माना गया है जिससे देवभ्रम कहा जा सके ।

२—देव के वास्तविक और मुख्य गुणों को भुलाकर कल्पित निरुपयोगी गुणों को मुख्यता देना, उनका रूप बदल कर उसका वास्तविक उपयोग न होना देना आदि रूपभ्रम है । जैसे अमुक महात्मा के शरीर में दूध सरीखा खून था, ब्रह्मा विष्णु महेश उसका धार्मिकर्म करने आये थे, वह बैठे बैठे अघर चला जाता था, वह समुद्र को हुक्म देकर शान्त करता था, वह उंगली पर पहाड़ उठाता था, उसके चार मुँह छिखते थे, एक प्रकार के सब रूप-भ्रम हैं । दूसरे प्रकार के रूपभ्रम वे हैं जिनमें सम्भव किन्तु संभव्य वातों को महत्व दिया जाता है । जैसे महात्मा की लोकोपकारता आदि को गौण करके उनका असाधारण सौन्दर्य आदि को महत्व देना हो सकता है कि वे सुन्दर हो पर वे महत् होने के कारण सुन्दर व यह बात नहीं है । के अवेश में ऐसी बातों का इतना महत्व न देना चाहिये कि उनके महात्मापन के चिन्ह वगैरह तीसरे प्रकार का रूपभ्रम वह है जिस में महात्मा का उनके जीवन से विलम्बित चित्रित किया जाता है जैसे किसी

साधु की मूर्ति को—जो तब तक रहा हो—गहन पढ़िनाता आदि। ये सब रूपभ्रम देव-मूर्तता के ही एक रूप हैं।

प्रश्न—आलंकारिक वर्णन में थोड़ी अतिशयोक्ति हो ही जाती है। अगर वन्दे देव-मूर्तता कहा आयेगा तब तो काव्य की इतिश्री ही हो जायगी।

उत्तर—आलंकार अलंकाररूप में काम में आये तो कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि उससे अर्थ में कोई कमी नहीं होती वस्तुि अर्थ स्पष्ट होता है। मुख को चन्द्रमा कहने से सुन्दरता ही मालूम होती है उसे प्रकारा समझकर रात में दीपक नहीं बुझाये जाते। दुःख का पहाड़ उठा लिया, विपत्ति के समुद्र को पी गया या पार कर गया आदि अलंकार वाक्य के अर्थ को सुन्दर और साफ बनाते हैं इसलिये अलंकार के उपयोग में मूर्तता नहीं है। मूर्तता है अलंकार को इतिहास या विज्ञान, समझने में। पुराणों में आये हुए बहुत से वर्णन इसी प्रकार के आलंकारिक हैं उनका वास्तविक अर्थ पहिचान लेनेपर मूर्तता नहीं रहती।

३ तीसरी देव-मूर्तता है कुयाचना। देवोपासना का मतलब उनके गुणों को या आज्ञाओं को अपने जीवन में उतारना है जिससे हमारा उद्धार हो। भक्ति-मय भाषा में हम यह भी कह सकते हैं कि तुम हमारा उद्धार करो, जगत में शान्ति करो, हमारे पापों को दूर करो आदि। इसका मतलब यही कि हम आपका अनुसरण करें जिससे हमारा उद्धार हो आदि। यह कुयाचना नहीं है। पर सहा अपने कर्तव्य की भावना तो है नहीं, मरिच देव को क्रुश करके बन की स्वाम्य ठी, सन्तान की, विजय की, शत्रु-जय की याचना है वह कुयाचना है। देव-पूजा अपने कर्तव्य को समझने और उसका पालन करने और उसपर हठ रहने के लिये होना चाहिये सुप्तबोधि के लिये नहीं। कुयाचना काने से यह पूरी नष्ट। मरिच अपनी बुद्धता और अन-

धम का पता लगता है। कुयाचना देव-मूर्तता का परिणाम है।

प्रश्न—व्यक्तिदेवों की उपासना में उनके जीवन का अनुकरण लक्ष्य हो सकता है पर ईश्वर की उपासना में क्या ध्येय होगा? ईश्वर का अनुकरण तो किया नहीं जा सकता। उससे छोटी वही सभी चीजों की याचना ही की जा सकती है। परन्तु तो ईश्वर के आगे सदा मिलारी है। उससे याचना क्या और कुयाचना क्या?

उत्तर—जगदीश्वर एक ही हो सकता है इसलिये हम एक आदमी जगदीश्वर नहीं बन सकता फिर भी उसका अनुकरण कर सकता है। ईश्वर सर्वगुण-मण्डार है इसलिये जिस गुण का जिसने अणों में अनुकरण हो उतना ही अच्छा है। उसके सामने सिर झुकाने में उसका शासन के विषय में अज्ञा पराट होती है और इससे उसकी व्यवस्था-नीति धर्म को बनाये रखने की इच्छा पैदा और पराट होती है। उससे अपने विकास की या आत्मिक की ही याचना करना चाहिये—दया जमा की नहीं। प्रार्थना में अगर भक्तिवश दया जमा के शब्द आ भी जायें तो इतना ही समझना चाहिये कि हम अपने पापों को स्वीकार कर रहे हैं और पश्चात्ताप प्रकट कर रहे हैं। ईश्वरीय न्याय को बदलना नहीं चाहते। वास्तव में कोई मनुष्य ईश्वर का अपराध नहीं करता, नहीं कर सकता, वह अपराध करता है उसकी सन्तान का अर्थात् हमारा कुम्हारा, उसका न्याय होना ही चाहिये। इसलिये न्याय से बचने की याचना कुयाचना है। जों पाप काने से दूर रहने की और संकट सड़ने की याचना सुयाचना है वह मागना चाहिये। ईश्वर के आगे इतना ही मिलारीपन सार्थक है।

प्रश्न—धन सम्पत्ति आदि की याचना भी देवोपासना से सफल होती है। देवोपासना से पुण्य होता है और पुण्य से धैरिक लाभ मिलते हैं फिर मनुष्य वह याचना क्यों न करे? अथवा उसे कुयाचना क्यों कहा जाय?

उत्तर—देवोपासना से पुण्य होगा तो उस का फल आगे मिलेगा इससे पुराने पाप का फल कैसे नष्ट होजायगा ? दूसरी बात यह है कि देवोपासना से ही पुण्य नहीं हो जाता, पुण्य होता है देवोपासना के सत्प्रभाव—तीति सदाचार आदि को जीवन में उतारने से, प्रतिक्रमण आदि उप करने से। ये न हो तो देव-पूजा क्षणिक आनन्द देने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती। तीसरी बात यह है कि हरएक कारण से हरएक कार्य नहीं हो सकता इसलिये देव-पूजा शारीरिक चिकित्सा का काम नहीं कर सकती। बीमारी में या संकट में देव-पूजा से सहने की ताकत आ सकती है, मन को बल मिल सकता है पर वैद्य का काम पूरा नहीं हो जाता। देव पूजा से निरन्तानता का कष्ट सहा जायगा, विश्व-अन्धुत्व गैदा होकर सन्तान-मोह दूर जायगा पर सन्तान गैदा न हो जायगी। इसलिये कुयाचना न करना चाहिये।

४—चौथी देव मूढ़ता दुरुपासना है। संयम को नष्ट करनेवाली उपासना दुरुपासना है। जैसे देवता के नाम पर पशुबध करना, मद्यपान करना, मांस-भोजन करना, अभिचार करना, आत्मघात करना (पहाड़ से गिर पड़ना जल में डूब मरना आदि) नरमेध बध आदि भी इसी मूढ़ता में शामिल हैं।

प्रश्न—कोई कोई देव ऐसी तामस प्रकृति के होते हैं जो ऐसे ही कार्यों से खुश होते हैं। उनकी उपासना के लिये ये कार्य करना ही पड़ते हैं, अन्यथा वे परेशान करते हैं।

उत्तर—पहिले तो ऐसे कोई देव है ही नहीं जो मांस आदि चाहते हों। यह सब हमारी लोलुपता का परिणाम है। अगर हों तो उन्हें पूजना न चाहिये। देव तो प्राणिमात्र के देव हैं वे पशुओं के भी देव हैं। जगदम्बा पशुओं की भी अम्बा है वह अपने लिये अपने पुत्रों का बलिदान कैसे चाहेगी ? सच्चे देव पाप नहीं करते। पाप करनेवाले देव कुदेव हैं। जो अपने लिये आदर्श

नहीं है और देवरूप में माने जाते हैं वे कुदेव हैं। उनकी उपासना न करना चाहिये।

५ पाचवीं देवमूढ़ता है परनिन्दा। सम्प्रदाय आदि के मोहवश दूसरे देवों की निन्दा करना पर-निन्दा है। अगर किसी देव के विषय में तुम्हारा खास आकर्षण है तो उसकी खूब उपासना करो पर दूसरे देवों की निन्दा न करना चाहिये और न ऐसी प्रार्थना पढ़ना चाहिये जिससे उनकी निन्दा होती हो।

प्रश्न—इस तरह तो दो व्यक्ति-देवों में तुलना करना कठिन हो जायगा क्योंकि तुलना में तरतमता सिद्ध होना स्वाभाविक है। जिसका स्थान कुछ नीचा बताया जायगा उसी की निन्दा हो जायगी और इसे आप देव-मूढ़ता कह डालोगे।

उत्तर—निष्पक्ष आलोचना में परनिन्दा नहीं होती। परनिन्दा मोह का परिणाम है, आलोचना मोह का परिणाम नहीं है। तुलना करना चाहिये पर वह मोह और अहंकार का कारण या फल न होना चाहिये। साथ ही तुलना करने की बीमारी भी न होना चाहिये। जब विशेष आवश्यकता हो तब ही तुलना करना चाहिये फिर परनिन्दा का दोष नहीं रहना।

लोक-मूढ़ता (लुहो ऊतो) बिना समझे या बिना पर्याप्त कारण के लोकाचार का पक्षपात होना लोकमूढ़ता है। रीतिरिवाज किसी अवसर पर किसी कारण से बन जाते हैं अगर कोई हानि न हो तो उनके पालन करते में बुराई नहीं है पर उनका पक्षपात न होना चाहिये। हमारे यहाँ ऐसे ऋषि पंडित हैं, ऐसे बाल कटाते हैं ऐसा भोजन बनाते हैं, इस प्रकार सजाते हैं इस प्रकार अभिवादन करते हैं, विवाह विधि ऐसी होती है, जन्म मरण पर ऐसा करते हैं ऐसी बातों का पक्षपात प्रबल होना उसकी बुराई को न दख सकना उससे भिन्न लोकाचार की भलाई न देख सकना लोक-मूढ़ता है।

वैपभूपा में स्वच्छता सुविधा आदि का विचार करना चाहिये। जिसमें हमें सुविधा है

इसमें दूसरा को असुविधा हो तो चिढ़ना न चाहिये। इसी प्रकार खानपान में रुचि, स्वास्थ्य, स्वच्छता, निर्दोषता आदि का विचार करना चाहिये इसी प्रकार हर एक लोकाचार को बुद्धि-संगत बनाकर पालन करना चाहिये।

प्रश्न—लोकाचार को बुद्धि-संगत बनाया जाय तो बड़ी परेशानी हो जायगी। आज मिल चला यूरोपीय पोषाक पहिन ली, कल हेंगोटो तगा ली, पगसो मारवाडो बन गये, किसी दिन महागण्डी बन गये, किसी दिन पंजाबो बन गये। इसे तरह का बहुरूपवापन क्या अच्छा है? प्राणिय आश्रत भी कोई चीज है। उसके साथ बलाग्न्य करना कहाँ तक उचित है?

उत्तर—लोक-मूढता के स्वाग के लिये बहु-रूपिया धनन की जरूरत नहीं है न आवत के साथ धनारकार करने की जरूरत है। जरूरत इतनी ही है कि रुन्दिया की गुनामी छोड़ी जाय और सभारणक परिवर्तन के लिये तैयार रहा जाय। आज हमारे पास पैसा नहीं है, ठंड भी नहीं लगती तब कोट न पहिनता तो अच्छा ही है चादर ही ओढ़ लिया तो क्या बुराई है? अधिक भूषणों से शरीर मलिन रहता है असु-विधा होती है तो रिवाज होने पर भी आभूषण न पहिन या कम पहिन तो अच्छा ही है। शरीर की जरूरत चेसी है जैसे पोशाक का लेना चाहिये। एक जमाने में ब्राह्मण-वर्ण के निर्वाह चिय उन्म मृत्यु के अवसर पर दान दणिष्ठा भोजन प्राणि उचिन या आज आवश्यकता नहीं है तो उन रति का किसी न किसी रूप में पालन होना ही चाहिये यह सुलामी क्या? नहीं आश्रत की जान मो आश्रत बुरी (स्वयं-दुःखकारक) न होना चाहिये फिर आश्रत के अनुसार कार्य करने में कोई बुराई नहीं है। अगर आश्रत बुरी न हो तो उसे हमें उसके त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न—आज काय काल क्या मृत्यु के उत्पत्ति का कारण बुद्धि भले ही हो पर उसकी भिन्ना का कारण मन्त्रा है। हम मा नहिन घेटी को पवित्रता की प्रश्न में देखते हैं इसका कारण हमारे बौद्धिक

प्रकार का आग्रह भी लोक-मूढता है। क्योंकि वाप वादे हमारे उपकारी हो सकते हैं पर इससे अधिक विद्वान थे ऐसा कोई नियम नहीं है। पर इससे भी अधिक महत्व की बात तो यह है कि वाप वादे विद्वान भी हों पर उनका कार्य उनके समय के लिये ही उपयोगी हो सकता है आज के लिये आज का युग देखना चाहिये। आज के रिवाज किसी न किसी दिन नये सुधार थे। उन पुराने सुधारको ने जब अपने समय के अनुसार रिवाज बनाते समय अपने पुरखों की पर्वाह नहीं की तो उनकी दुहाई देकर हमें क्या करना चाहिये?

प्रश्न—बहुत से लोकाचार ऐसे हैं जिनके लाभ शीघ्र नहीं मालूम होते पर उनसे लाभ है जरूर। हर एक लोकाचार के विषय में ज्ञानबीन करने की हर एक आदमी को फुरसत भी नहीं रहती इसलिये बहुत से लोकाचारों का बिना विचारे पालन करना पड़ता है। इसमें लाभ हो तो ठीक ही है, नहीं तो हानि तो कुछ है ही नहीं। एसी हालत में इसे लोक-मूढता कैसे कह सकते हैं?

उत्तर—लोकाचार का पालन करना लोक-मूढता नहीं है पर बिबेक छोड़कर हानिकर लोकाचार का पालन करना लोक-मूढता है। जिस विषय पर विचार नहीं किया है उसका पक्षपात न होना चाहिये और लोकाचार के दोषों पर जानबूझकर उपेक्षा भी न करना चाहिये। अक्सर न मिलने से विरोध विचार न किया हो पर इतना विचार तो आवश्यक है कि इस लोकाचार से सत्य और अहिंसा में बाधा तो नहीं पड़ती। लौकिक हानि दूसरों की प्रसन्नता के लिये भले ही सहन करनी जाय पर वह हानि किसी न होना चाहिये जिससे समाज के दूसरे लोगों को भी हानि का शिकार होना पड़े। जहाँ तक धन लोकाचार के संशोधन का प्रयत्न तो होते ही रहना चाहिये।

प्रश्न—मनुष्यता की उत्पत्ति का कारण बुद्धि भले ही हो पर उसकी भिन्ना का कारण मन्त्रा है। हम मा नहिन घेटी को पवित्रता की प्रश्न में देखते हैं इसका कारण हमारे बौद्धिक

विचार नहीं संस्कार है और इन संस्कारों का कारण लोकाचार है। संस्कार समझने से नहीं पड़ते किन्तु आसपास के लोगों के आचार से पड़ते हैं। और यही लोकाचार है। इसलिये लोकाचार को हम महत्व देना ठीक नहीं।

उत्तर—लोकाचार की उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती परन्तु उसका जितना महत्व है उतना ही उसका संगोपन आवश्यक है। जिस लोकाचार पर मनुष्यता-निर्माण संस्कार तक अवलम्बित हो उसमें विवेक को स्थान न होना मनुष्यता को पशुता की तरफ ले जाता है। अन्धे अर्थात् कल्याणकारी लोकाचार को नष्ट करने की जरूरत नहीं है, जरूरत है देशकाल विरुद्ध अकल्याण कर लोकाचार को बदलने की, जिससे संस्कार अन्धे पड़े।

लोकमदता का त्यागी मज्दया का गुलाम न होकर उचित रुद्धियों का पालन करेगा, देशकाल के अनुसार सुधार करने को तैयार रहेगा। इस प्रकार चारों तरफ की मूढ़ताओं का त्यागी और निपट विचारक बनकर मनुष्य विवेकी बनता है जो कि योगी जीवन की पहिली शर्त है।

धर्म-समभाव (धर्मोसम्मभावो)

योगी का दूसरा चिन्ह धर्म समभाव है जिसका अर्थ है—

वर्मपथ या सभ्यता फैले विविध विचार।

समभावी निपट बन लो उन सब का सार॥

वैश्वर तीर्थंकर अवतार मसीह श्रृष्टि आदि कहलाने वाले महात्माओं ने, महान विचारकों ने, जगत को सुधारने और सुखी बनाने के लिये अनेक तरह की योजनाएँ बनाई और चलाई हैं। उनमें से कुछ योजनाएँ धर्मपथ या सम्प्रदाय कहलाने लगी हैं, कुछ इस प्रकार की छाप लगाये बिना लोगों के आचार विचार में धुल मिल गई हैं। इनमें से अधिकांश योजनाएँ अपने देशकाल को देखते हुए जगत्कल्याण के लिये उपयोगी होती हैं। पूर्ण सत्य तो कोई योजना बन नहीं सकती, क्योंकि समस्त विश्व

और समस्त काल में उपयोगी होसके ऐसी योजना बनाई नहीं जासकती। ऐसी असीम या अनंत योजना मनुष्य की ज्ञानशक्ति और शक्त शक्ति के बाहर है। साधारणतः ऐसी योजनाएँ अपने देशकाल के अनुरूप ही बनती हैं, हा। दूरदर्शिता की विशेषता के कारण अधिक से अधिक देशकाल को ध्यान में रक्खा जासकता है। इस दृष्टि से इन योजनाओं में दरतमता हो सकती है। जो योजना जिस देशकाल के अनुरूप है, कल्याणकर है, वह योजना उस देशकाल के सत्य है। या जितना हिस्सा कल्याणकर है उतना हिस्सा सत्य है। इस सत्य को ग्रहण करना, कालमोह स्वत्वमोह छोड़कर इन पर निःपक्ष विचार करना, इनके विषय में योग्य शिक्षाचार का पालन करना धर्मसमभाव है।

औ अगर विशेष नामकरण न किया जाय तो धर्म जगतमें एक है। भले ही उसे सत्य कहें, अहिंसा कहें, प्रेम कहें, सदाचार कहें। पर उसके व्यावहारिक रूप देशकाल को देखते हुए असंख्य हैं। धर्म को पालन करने के लिये देशकाल के अनुसार जो आचार विचार संगठित किये जाते हैं वन्हे भी धर्म कहते हैं। उनकी जब परम्परा चलती है तब उन्हें सम्प्रदाय कहते हैं। इस प्रकार धर्म, संस्कार, मत, मजहब रितीजन, तीर्थ, आदि राज उस निरधर्म, सत्य और अहिंसा के सामयिक दैशिक रूप के लिये प्रयुक्त होते हैं। हिन्दूधर्म, इसलाम मजहब, क्रिश्चियानिटी, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, जैथोली धर्म, कन्फ्यूशियस धर्म, आदि जो अनेक धर्म जगत में फैले हैं उनमें से अधिकांश अपने अपने समय और अपने अपने देश के लिये हितकारी थे और आज भी उनका बहुतांश भाग जगत के लिये हितकारी है, उनकी विविधता परस्पर विरोधी नहीं है, देशकाल साक्षेप होने से विरोध का कारण नहीं रह जाता इन धर्मों को पूर्ण सत्य समझना, या पूर्ण असत्य समझना भूल है। हर एक धर्म सामयिक सत्य है, सत्यका अंश है। किसी

का उपयोग करते समय बुरावाहा या असत्य अंश निकाल देना चाहिये और बुरासत्य छोड़ना चाहिये। इस प्रकार विवेक और आवरणक उसका उपयोग करना चाहिये।

यद्यपि धर्म के नाम पर चलने वाले ऐसे भी सम्प्रदाय हो सकते हैं जो किसी व्यक्ति ने सत्य या जनहित के लिये नहीं किन्तु व्यक्ति के मोह-रा, ईर्ष्या अहंकार या लोभवशा खड़े कर लिये हो, जिनमें लोकहित की उपेक्षा या विरोध हुआ हो कर भी किसी कारण चल पड़े हों। ऐसे धर्म ठेक नहीं पाते या बहुत फैल नहीं पाते। समभाव नाम पर उनके आगे आत्मसमर्पण की जरूरत नहीं है।

प्रश्न—धर्म तो सत्य अहिंसा आदि हैं। इनमें आतुर भाक्ति आदि रचना जरूरी है। पर इनके नामपर जो अनेक तीर्थ वत हैं उनके विषय में समभाव रखने का क्या मतलब है? क्या इससे विनय मिथ्यात्व या अविवेक पैदा नहीं होता? क्या वह सब की चापलूसी नहीं है?

उत्तर—धर्मसमभाव के नामपर अविवेक चापलूसी या विनय मिथ्यात्व आसकते हैं पर य धर्मसमभाव नहीं कहला सकते। इनसे धर्मसमभाव में जमीन आसमान का अन्तर है। विनय मिथ्यात्व में अविवेक की सीमा है और धर्मसमभाव में विवेक की सीमा है। विनय मिथ्यात्व की किसी धर्म के गुण नहीं समझता न उनका विश्लेषण करता है, जब कि धर्मसमभावी सबके गुणदोष समझता है उनका विश्लेषण करता है। जो जान अच्छी है धरी ग्रहण करता है उसी की तारीफ़ करना है, उसी के कारण उस धर्म की या धर्मतत्पर अंगभूत अवतार की पूजा करता है, बुरी बात को ग्रहण नहीं करता, उसकी तारीफ़ नहीं करना उसके कारण किसी की पूजा नहीं करता। ऐसी हालत में धर्म समभाव, न श्रद्धा-पूर्ण चापलूसी है, न मूढतापूर्ण बैलविक मिथ्यात्व।

प्रश्न—जब ऐसा विश्लेषण करना है तब अन्तर्गत कैसे रहेगा? विश्लेषण में तो विषय

ही प्रगट होगी। यदि विषयता को बढ़ाया जायगा तो विवेकपूर्ण समभाव कैसे रहेगा? आखिर इस धर्म समभाव का उपयोग क्या है?

उत्तर—विश्लेषण से विषयता पैदा होती है पर उसीसे उसमें अपने जन्म के धर्म में पक्ष-पात मोह आदि नहीं रहते। दूसरे धर्मों से इस-लिचे द्वेष (उपेक्षा घृणा) आदि नहीं होते कि वे पराये हैं, अपने धर्म की दो एक अच्छी बातों की, और दूसरे के धर्मों की बुरी बुरी बातों के गीत गाने की आवृत्त नहीं रहती, इसप्रकार मनुष्य निष्पक्ष विचारक, सत्यान्वेषी और मानवताप्रेमी बनता है।

धर्म समभाव के खास खास लाभ ये हैं—
१. सत्यशोधकता, २. धार्मिक द्वन्द्व परिहार,
३. अनेकान्तदर्पित लब्धि, ४. स्वत्वमोह विजय,
५. इतिहास प्रकाश ६. कुलवृत्ता परिहार, ७. धर्म-मर्मज्ञता, ८. सामाजिकता वृद्धि।

१—सत्यशोधकता (सत्य हिरण्य) सम-भावी मनुष्य ही सत्य की ठीक ठीक खोज कर सकता है। जिन्हें किसी एक धर्म का पक्षपात नहीं है वे ही वह समझ सकते हैं कि कहाँ कहाँ क्या क्या सत्य है। समभाव हीन व्यक्ति अपने धर्म के गुणों को अतिरञ्जित कर उसके गीत गाता है और दूसरे धर्मों के गुणों पर उपेक्षा करता है, या उन्हें विह्वल रूप में चित्रण कर निन्दा करता है, अपने धर्म के दोषों और दुष्टियों पर उपेक्षा करता है छिपाता है जब कि दूसरे धर्म के दोषों को अतिरञ्जित कर बार बार उनका उल्लेख करता है दिखोरा पीटना है। ऐसी हालत में वह सत्य की खोज नहीं कर पाता उसमें वैज्ञानिकता नहीं आसकती। उसमें विज्ञान के नाम-पर मुँह छिपाने की वृत्ति पैदा होजाती है।

२—धार्मिक द्वन्द्व परिहार (मनो लुगे लोपो) धर्मसमभाव में समभाव न होने से जगत में इनके अन्धव्य अत्याचार हुए, देशों के टुकड़े हुए, मनुष्य में शैतानियत दिखाई दी, कि धर्म तीर्थोंके लोग अभिजात तक नमस्ते लगे।

जब कि धर्मसमभाव के जरिये भिन्न-भिन्न तरह की जनता का भी सम्मिलन हुआ है, उनका एक समाज, एक राष्ट्र आदि बन सका है। हिन्दू के इतिहास में ये दोनों बातें साफ दिखाई देती हैं। हिन्दू सुसलमानों में धर्म समभाव के अभाव के कारण देश के टुकड़े हुए, लाखों मरे, करोड़ों भागों और अरबों की सम्पत्ति नष्ट हुई। कहरता के दृश्यों से रौतान भी शरमागया। और आर्य-अनार्य के समन्वय के बाद शैव वैष्णव आदि में जो समभाव पैदा हुआ उससे धार्मिक द्वन्द्व दूर होगये। अन्य देशों का इतिहास भी धर्मसमभाव के लाभों की गवाही देसकता।

३. अनेकान्त दृष्टि लब्धि (लंबुको लंबो-सीनो धर्म समभाव से मनुष्य की दृष्टि सर्वतो-मुखी होजाती है। कौनसा आचार कौनसा विचार किसीको कब कहां कितना उपयोगी या अनुपयोगी है इसका इससे पता लगता है। दर्शन के क्षेत्र में म. महावीर ने यह अनेकान्त दृष्टि दी थी, पर धर्म के क्षेत्र में उसका उपयोग यथेष्ट न हो सका। अगर होता तो जैन धर्म एक धर्मसमभावी सिद्ध बनजाता। फिर भी जितनी अनेकान्त दृष्टि आसकी सत्य की उतनी ही अधिक उपलब्धि हुई, बहुत कुछ विरोध परिहार भी हुआ।

प्रश्न—अनेकान्त दृष्टि का धर्मसमभाव से क्या सम्बन्ध? अनेकान्त दृष्टि विज्ञान या विवेक पर आधारित है वह वस्तुस्थितिबिहीन समन्वय का भ्रूत प्रयास नहीं है, जब कि धर्मसमभाव एक भावना है—मन की लहर है—वह कदाचित् कल्याणकारी होने से सत्य कही जासके पर वास्तविकता तो उसमें नहीं मानी जासकती। विज्ञान तत्त्वज्ञान या ऐतिहासिक तथ्य के सामने वह टिक नहीं सकती।

उत्तर—भूतकाल में अनेकान्त दृष्टि का व्यवहार पदार्थ विज्ञान तक ही सीमित रहा, वह धर्मविज्ञान के क्षेत्रमें ठीक ठीक या पर्याप्त काम न कर सका, यह दुर्भाग्य ही कहा जासकता है, पर कम दुर्भाग्य को छिपाने के लिये

उसे सौभाग्य सिद्ध करने की जरूरत नहीं है। और यह कहना तो घोर एकान्त है कि “पदार्थ विज्ञान का सापेक्षवाद तो विवेकाश्रित है और धर्मविज्ञान का सापेक्षवाद विवेकहीन अविज्ञान है कोरी भावना है मन की लहर है।” पदार्थ के क्षेत्रमें अनेकान्त दृष्टि जितनी वैज्ञानिक है जीवन के क्षेत्रमें धर्मसमभावदृष्टि भी उतनी ही वैज्ञानिक है। मूर्तियों के नाम पर अरब देश के टुकड़े टुकड़े करनेवाले और एक दूसरे का खून बहाने वाले अरबों के लिये मूर्ति पूजा का विरोध जितना उचित था, उतना ही उचित मूर्ति के मर्म को और उसकी धर्म साधनता को जानने वाले जैन बौद्धों के लिये मूर्ति का उपयोग था। इसी प्रकार आचार शास्त्र के भिन्न भिन्न विधान कहा उचित हैं कहां अनुचित है यह सापेक्ष दृष्टि जीवन की वास्तविकता से संबन्ध रखती है। यह केवल मन की लहर नहीं है कोरी भावना नहीं है किन्तु जीवन की वैज्ञानिक चिकित्सा है। द्रव्यों के या पदार्थों के विज्ञान से इसकी उपयोगिता आवश्यकता हजारों गुणी अधिक है। पदार्थ विज्ञान के विषयमें गलत जानकारी करके भी मनुष्य सम्यक्त्वो अर्हत् केवली योगी आदि होसकता है पर धर्म विज्ञान के विषयमें गलती होने से उसका सारा पदार्थ विज्ञान जीवन को नरक बनाने वाला बन सकता है। इसलिये तत्व धर्म विज्ञान है पदार्थविज्ञान नहीं। और धर्मसमभाव उसी धर्म विज्ञान के सहारे खड़ा होता है कोरी भावना या मन की लहर के सहारे नहीं। कोरी भावना के सहारे जो खड़ा होता है वह दैनिक मिथ्यात्व है, चापलूसी है या कुछ अच्छे शब्द में गिटाचार है। धर्मसमभाव जीवन शुद्धि, समाजशुद्धि विकास आदि के अनन्तरूपों-आचार विचार व्यवहारों-के विषयमें नि पक्ष सापेक्ष दृष्टि से संबन्ध रखनेवाली विवेकपूर्ण व्यापक विचारधारा है। इस धामक अनेकान्त दृष्टिकी लब्धि धर्मसमभाव से होती है।

४-स्वत्वमोह विनाश (एमो मुहो जयो) धर्मसमभावी को अपने धर्म का मोह (मूढ़तापूर्वी पक्षपात) नहीं रहता । इसलिये वह निःपक्ष विचार कर सकता है । धर्मतीर्थ का धमण्ड नहीं आता, झूठी वकालत करने की वृत्ति नहीं रहती, सब जगह से सत्य खींचने की वृत्ति पैदा होने से उसके पास सत्य का भरपूर अधिक से अधिक होसकता है । ये सब पर्याप्त लाभ हैं । स्वत्वमोह की एक तरह का निकटान्ध होजाता है । वह अपनेपन के कारण अपने पास के बड़े बड़े गोपों को नहीं देखता और दूसरों के छोटे छोटे गोपों को बड़े परिमाण में देखता है । साम्प्रदायिक दृष्टि सं चर्चा या वाद करने वाले, या इस दृष्टि से साहित्य लिखने वाले इस निकटान्धता का खूब परिचय देते हैं ।

५-इतिहास प्रकाश (लूलसो पिमो) धर्म-समभावी इतिहास को सत्य और निष्पक्ष दृष्टि से समझ सकता है । चूंकि अतीतकाल में मानव-जीवन के भीतर धर्मों ने काफी परिवर्तन किये हैं उनके निमित्त से अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी हैं, उन सब को ठीक ठीक समझने के लिये धर्म-समभावी होना जरूरी है । जो लोग धर्मों को घृणा की दृष्टि से ही देखते हैं एक तरह की वेव-कूपी समझते हैं वे इतिहास में धर्मों के कर्तृत्व का, और धर्मों ने जो मानव समाज को उन्नति दी है उसका ठीक ठीक ज्ञान नहीं कर सकते । जो किसी एक धर्म के पक्ष से रंगे हैं उनको इतिहास का ठीक ठीक ज्ञान और भी दुर्लभ है । वे अपने धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली छोटी छोटी घटनाओं को इतना महत्व देंगे मानों ब्रह्मांड बन्दों से लटक रहा है और दूसरे धर्मों के द्वारा किये गये बड़े बड़े परिवर्तनों पर उनका ध्यान ही नहीं जायगा । धर्मसमभाव हीन व्यक्ति जब इतिहासज्ञ बन बैठता है तब वह इतिहास की ऐसी विडम्बना करता है कि इतिहास का मामूली विचार्यों भी हैंससकता है । घटनाओं को तोड़ना मरोड़ना, झूठी घटनाएँ बनाना, उत्तर पक्ष को पूर्व पक्ष या पूर्वपक्ष को

उत्तर पक्ष बनाकर विलकुल उल्टी बात की घोषणा करना आदि अनेक तरह से वह इतिहास की हत्या करता है । इतिहास को ठीक रूप में समझने के लिये धर्मसमभावी होना आवश्यक है ।

६-कृतघ्नतापरिहार (भक्तनोसो लोपो) धर्मसमभाव की हीनता से मनुष्य कृतघ्नता का परिचय देता है । जिन पूर्वजों की सेवाओं का उसने या उसकी पीढ़ी ने काफी लाभ उठाया होता है उनके उपकार को वह भूल जाता है । हिन्दू के मुसलमान ईसाई आदि धर्मान्तर करने पर अपने पूर्वजों के प्रति कृतघ्न होगये, महावीर और बुद्ध ने इस देश का अनेक अंशों में काया-कल्प किया पर जो उनके धर्म के अनुयायी नहीं बने वे उन्हें भूल गये या निन्दक होगये, यही हाल श्रमणों का वैदिक ऋषिमुनिपुत्रों के बारे में हुआ । हरणक धर्मवाले का यही हाल होता है । धर्मसमभाव के बिना वह कृतज्ञ नहीं रहपाता ।

जो लोग हर धर्म के विरोधी होते हैं वे भी इसी कृतघ्नता की राह चलते हैं । वे यह नहीं सोचते कि पुर्गने लोगों के बनाये धर्म या उनकी सेवाएँ भले ही आज मृत या युगबाह्य होने से निरुपयोगी हों पर मानव समाज के विकास में उनसे सीढ़ी का काम किया है । रेल के एंजिन का आविष्कार करने वाला वैज्ञानिक यदि आज के समान शक्तिशाली और द्रुतगामी एंजिन नहीं बना सका तो उसका उपकार भूलने लायक नहीं होजाता, और न हमने उसके मज्जाक उठाने का अधिकार मिलता है ।

धर्मतीर्थ एक समय की क्रान्ति है । निःसन्देह किसी भी क्रान्ति का रूप अपना ही विकसित होता है जितना उस जमाने के आधुनिकी विकसित होते हैं, इसलिये होसकता है कि वह आज के लिये एक मामूली बात हो और अपना काम करके वह निर्जिव होगई हो और उसके बाद नये तीर्थान्तों ने फिर क्रान्ति की हो, पर इसी कारण मृतक्रान्ति के उपकार को भूलना या उसकी निन्दा करना उचित नहीं । पिछले क्रान्ति-

कारों की हम तारीफ करे पर उन्हें पुराने क्रान्ति-कारों का दुश्मन न समझे। भले ही उसने पुरानी क्रान्ति को मिटाया हो। वास्तव में उनसे पुरानी क्रान्ति के मुर्दा को जलाया था, उसके प्राण को नहीं। यह उपकार या विगेष या दुश्मनी नहीं।

हमारे माता पिता की लाश को जलाने के लिये जो आगमी आता है, और मोहवश यदि हम लाश से लिपटते हैं तो हमें लाश से हटाने की कोशिश करना है वह हमारे माता पिता का दुश्मन नहीं है। इसीप्रकार पुरानी क्रान्ति की अन्तक्रिया करनेवाले भी उस क्रान्ति के दुश्मन नहीं होते और न लाश जलाने से वे अपने पूर्वजों पर विजय करने वाले कहे जा सकते हैं। उनकी अगर विजय है तो लाश से चिपटने वाले मोहियों पर है उस शरीर में रह चुकने वाले आत्मा पर नहीं।

इस कारण से धर्म-समभावी कुतर्क रहता है और समभाव विरोधी कुतर्क हो जाता है।

७ धर्ममर्मज्ञता (धर्मो शारिणो) समभाव के बिना धर्म का सार समझ में नहीं आता। क्योंकि किसी एक ही सम्प्रदाय में मोह होजाने से मनुष्य में वह विचारकता और विशालता पैदा नहीं हो पाती है जिससे वह धर्म का भरोसा समझ सके। पद पद पर अन्धश्रद्धा विचारकता में बाधा डालती है। समभावी में वह अन्धश्रद्धा नहीं रहती इसलिये उसकी विचारकता खूब पन-पती है।

८ सामाजिकता वृद्धि ('समाजपरो विद्धो') समभाव के बिना धर्म संस्थाएँ सामाजिक दृष्टि से एक कैदगृह बन जाती हैं। धर्मतीर्थ के भेद से सामाजिक जीवन के टुकड़े टुकड़े होजाते हैं एक दूसरे के उत्सव त्यौहार जयन्तियाँ आदि में शिष्टाचार के नाते भी आना जाना बन्द होजाता है। सामाजिकता का यह अभाव एक राष्ट्रीयता में भी बाधक होता है, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में भी असहयोग आदि पैदा करता है। सम-भाव से ये बुराइयाँ दूर होजाती हैं।

इस प्रकार धर्मसमभाव के बहुत से लाभ हैं और यह एक वैज्ञानिक विवेचना होने से तथ्य भी है और सत्य भी है।

प्रश्न—धर्मसमभाव के विवेचन से ऐसा मालूम होता है कि भूतकाल में धर्मतीर्थ या सम्प्रदाय के नाम पर कोई खराबी आई ही नहीं। किसी ने भी धर्मगुरु बनकर चार चेलों इकट्ठे कर लिये कि धर्मसमभाव के नाम पर उसको भी आपका प्रमाणपत्र मिल गया। पर क्या पुराने जमाने में जितने सम्प्रदाय आये वे सब ठीक थे ? पर क्या उतने ही ठीक थे जितने कि उस जमाने में होसकते थे ? क्या भिन्न-भिन्न तीर्थों के तीर्थंकर ज्ञान संकम आदि गुणों में समान थे, क्या उनमें किसी तरह के स्वार्थों का मिश्रण नहीं हुआ था ? यदि यह सब अन्तर रहा है तो देशकाल का भेद बताकर भी समभाव कैसे व्यावहारिक बनसकता है, सब को समान कैसे समझा जासकता है ?

उत्तर—विश्वप्रेम, सर्वभूतसमता, आदि शब्दों के प्रयोग में जिस प्रकार गुणी दुर्गुण आदि का संकर नहीं किया जाता उनका विवेक रक्खा जाता है उसी प्रकार धर्मसमभाव में भी गुण दुर्गुण और उनकी तरतमता का ध्यान रक्खा जाता है। विश्वप्रेम का अर्थ यह है कि विश्वप्रेमी ने साधारण रूप में सब के साथ प्रेम करने का निश्चय किया है और अब वह किसी मोह या स्वार्थ के कारण उनके साथ अन्याय न करेगा, और स्वभावतः उनके साथ प्रेम करेगा। धर्मसमभावी भी इसी तरह सब धर्मों के साथ स्वभावतः प्रेम करता है, उनके साथ किसी तरह का अन्याय नहीं करता, स्वार्थ या मोह के कारण उनकी निन्दा नहीं करता। विश्वप्रेमी सब को पहिले प्रेमपात्र बनाता है फिर अगर उसमें पाप हो तो वह उपेक्षा करता या दूर हटता है उसी प्रकार धर्म समभावी सब धर्मों से पहिले प्रेम करता है फिर यदि किसी में कोई खराबी दिखाई दे तो वह उपेक्षा करता है दूर हटता है। सम-भावी यह मानकर चलता है कि साधारणतः सभी धर्मतीर्थ उगत के कल्याण के लिये आये हैं,

अगर कोई धर्मनिर्य कल्याण विरोधी हो और चल भी रहा हो तो उसे अपवाद समझना चाहिये। जब कि समभाव विरोधी समझता है कि मेरे धर्म को छोड़कर धार्मिक धर्म मिथ्या हैं उनमें अगर कोई सचाई हो भी तो वह अपवाद है।

चार चले जोड़कर धर्मतीर्थ खड़े नहीं होवे, या थोड़ी देर को खड़े भी हो तो शीघ्र लुप्त हो जाते हैं। अगर मानव कल्याण न करने वाला धर्म पड़ा होकर टिका हुआ है तो समभावी अपने विवेक से उसकी जांच करेगा और उसे जन्मीकाट कर डेगा, पर कहेगा कि ऐसा तीर्थ अपवाद है। साधारणतः धर्म कल्याणकर हैं।

तीर्थारों में ज्ञान संयम आदि की दृष्टि से नरतमता होती है पर इससे समभाव के व्यवहार में बाधा नहीं पड़ती। जैसे माता पिता काका आदि में तरतमता होती है पर वे सब गुरुजन माने जाते हैं और साधारणतः धन्वीय होते हैं इसी प्रकार सब तीर्थार धन्वीय हैं, भले ही उनमें तरतमता रहे।

मतलब यह कि समभावी अपने तीर्थ या तीर्थार का अन्ध प्रशंसक और दूसरे के तीर्थ या तीर्थार का अन्धनिन्दक नहीं होता। निपटना में निरीक्षण परीक्षण करता है। इसलिये चार चले जोड़कर गुरु बनने वाले लोगों के सम्प्रदायों की उमें पवाह नहीं होती। वह विवेकहीन होकर सब को सत्य नहीं मानता फिरता। नरतमभाव या जीवन पर जो सब से बड़ा और महत्वपूर्ण उभर पड़ता है वह यही कि मनुष्य धर्मों से ज्ञान के विश्वविद्यालयों के समान आचार के विश्वविद्यालय समझने लगता है जैसे कोई शिष्या यह नहीं सोचता कि "मेरे विश्वविद्यालय में पढ़ने में ही मनुष्य शिक्षित होसकता है या तो ममार भर के विश्वविद्यालय शिक्षण के नामपर मनुष्य से उल्टे ही हैं" इसी प्रकार रीढ़ धर्मज्ञाना या न सोचे कि "मेरे धर्म को मानने वाला ही धर्ममा मन्वन्धी आस्तिक या मानसमा आदि है और दूसरे धर्म को मानने वाले मन्वन्धी आदि नहीं समझते।

हमारा तीर्थार ही सर्वज्ञ है, दूसरे धर्म के तीर्थार मिथ्यात्वो छद्मस्य आदि हैं"। इसप्रकार की संकुचितता का त्याग करने से मनुष्य समभावी बनजाता है। फिर वह सब धर्मों की निपत्त आलोचना, गुणदोषों की परीक्षा करे इससे समभाव को धक्का नहीं लगता।

यहां यह बात भी ध्यान में रखना चाहिये कि धर्मसमभाव में धर्म का अर्थ है लोक कल्याण की सच्ची योजना। परम्परा से आनेवाली हर एक विचारधारा धर्म नहीं कहलाती। विवेकपूर्ण धर्मसमभावी कैसे धर्मतीर्थों के साथ कैसा व्यवहार करता है या विचार रखता है इसकी कुछ सूचनाएँ यहां दी जाती हैं।

धर्म या धर्मतीर्थ का मतलब उन व्यवस्थित योजनाओं से है जो अपने युग की मुख्य मुख्य समस्याओं को हल करती हुई मानवजीवन को विकास के पथ में ढंगे बढ़ाती है, और संसार को अधिक सुखमय बनाने का प्रयत्न करती है। इसप्रकार के कितने धर्म होगये इसका पूरा हिसाब तो नहीं बतलाया जासकता पर निम्नलिखित धर्म इस श्रेणी में आते हैं।

हिन्दूधर्म, जराधोन्मीधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म, ईसाई धर्म, इस्लामधर्म, कन्फ्यूसियस धर्म इत्यादि।

धर्मसमभावी इन धर्मों का आदर करता है कुतज रहता है। पर इन्हे पूर्ण प्रमाण नहीं मानता क्योंकि ये सैकड़ों ब्रह्मिक हजारों वर्षों से अधिक पुगने होने के कारण आज के युग की समस्याओं को पूरी तरह या पर्याप्त रूप में हल नहीं करपाते। हाँ, इनसे प्रेरणा काफी तो जासकती है, सो वह लेता है। इन्हे भूत तीर्थ (लूतमन्तो) कहना चाहिये।

२-आज की शाय. सभी समस्याओं का समाधान करने वाले तो युगधर्म हैं. समभावी उनकी कार्पा परीक्षा करता है और विलकुल निरपेक्ष दृष्टि से विचार करके उसे उसे सर्वोत्तम मान्ज होता है उसे स्वीकार करता है। अनशत

के धर्मों की अपेक्षा वह वर्तमान युगधर्म की परीक्षा अधिक करता है। क्योंकि भूतकाल के धर्मों से वह मुख्य रूप में प्रेरणा लेता है, उनकी थोड़ी बहुत बातें आम तौर पर युगवाह्य समझली जाती हैं इसलिये उन्हें अस्वीकार करके भी उनके विषय में आत्मीयता का भाव रक्खा जा सकता है। किन्तु वर्तमान में जो धर्म बतर्ह हैं उनके विषय में ऐशकाल के अन्तर की दुहाई नहीं दी जा सकती है इसलिये टोटल मिलाकर जो सर्वोत्तम होता है उसे वह स्वीकार कर लेता है। हां! अन्ध अनुकरण वह किसी का नहीं करता, यथा-शक्ति समझबूझकर ही वह स्वीकार करता है, और जिसे वह स्वीकार नहीं करता उसमें अगर कोई बात विशेष अच्छी मालूम होती है तो उस की प्रशंसा करने और अपनाने में नहीं हिचकता है।

सत्यसमाज को आज युगधर्म (हूलोभन्तो) कहा जा सकता है। युगधर्म को युवाधर्म (यंग-भन्तो) भी कहा जा सकता है।

३-किसी पुराने धर्म का कोई बिल्कुल कायाकल्प करदे, आज के युग के अनुकूल बनादे, आधुनिक विज्ञान के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करदे, खराबियाँ हटा दे त्रुटियाँ पूरी करदे, एक तरह से युगधर्म बनादे, पर नाम पुराना रहने दे, पारिभाषिक शब्द और व्यक्ति पुराने रहने दे, तो धर्मसमभावी धर्म के इस रूप को पुराने रूप की अपेक्षा अधिक मान्यता देगा।

इसे कायाकल्पतीर्थ (फूजिज भन्तो) कहना चाहिये। सत्यसमाज की स्थापना के पहिले जैन-धर्म भीमंता लिखकर जैनधर्म का ऐसा ही कायाकल्प किया गया था।

यह युगधर्म की बराबरी नहीं कर सकता फिर भी काफी अंशों में उसका काम देसकता है।

४-कई ऐसे सम्प्रदाय चल पडते हैं जो जीवन की एक दो समस्याओं पर कुछ ठीक प्रकाश डालते हैं, कुछ संशोधन भी करते हैं, उनके प्रवर्तकों में स्वतन्त्र विचारकता होती है,

फिर भी वे युग के अनुरूप जीवन की अधिकांश मुख्य मुख्य समस्याओं को नहीं सुलझा पाते। एक तरह से वे अंश धर्म (अंश भन्तो) कहने लायक होते हैं। धर्म-समभावी उनकी प्रशंसा करता है पर अनुवायी नहीं बनता क्योंकि वे पूर्ण नहीं हैं।

५-किसी एक धर्म के भीतर जो किसी एकाध बात को लेकर कुछ सुधार किया जाता है और उस सुधार का भी एक सम्प्रदाय बनजाता है, समभावी उसकी प्रशंसा करता है पर उसे अलग तीर्थ नहीं मानता इसलिये उसकी प्रशंसा एक धर्म की प्रशंसा नहीं होती। मूलधर्म जिस जिस श्रेणी का होता है करीब करीब उसी श्रेणी में उसकी यह नई शाखा मानी जाती है। अधिकतर इस प्रकार के सुधारकों का यह दावा रहता है और कोशिश रहती है कि मूलधर्म के ऊपर चढ़े हुए विकारों को वे दूर करते हैं, उसकी सफाई करते हैं उसकी धूल झाड़ते हैं। इसप्रकार के सुधारकों का भी एक सम्प्रदाय मूलधर्म की शाखा रूप में बनजाता है। जैसे ईसाइयों का प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय। पटे कपड़े में बेगरा लगाने के समान इनका कुछ उपयोग तो है फिर भी इससे युगधर्म का निर्माण नहीं होता। इसे धर्म को धोने वाला सम्प्रदाय (भन्तोधोव फर्रो) कहना चाहिये।

६-एक स्वतन्त्र विचारक व्यक्ति अपने स्वतन्त्र विचारों से युग की मुख्य मुख्य समस्याओं को सुलझाने की कोशिश करता है, जनहित की भावना भी रखता है, पर मुख्य समस्याओं को सुलझाने की राह नहीं बता पाता बल्कि उलझा देता है। उसके विचारों पर खड़े सम्प्रदाय को भ्रम सम्प्रदाय (भूह फर्रो) कहते हैं। धर्म-समभावी उसे मानने से इनकार कर देता है। फिर भी एकाध बात जो उसमें अच्छी मालूम होती है उसकी प्रशंसा करता है, प्रवर्तक व्यक्ति की साबना की भी उचित कद्र करता है।

७-जब मानवता के विकास का प्रारम्भ ही हुआ था, धर्मतीर्थ उच्च-राज्य शक्ति धारण कर

रहे थे, उस आदिम युग के अविकसित तीर्थों को भ्रूणोपम तीर्थ कहते हैं। इनमें न्यूनाधिक रूप से नीचे लिखी वृद्धियाँ पाई जाती हैं।

क-अज्ञानभय की प्रमुखता रहती है। प्रकृति के भयंकर रूपों की तथा भयंकर आणियों की पूजा की जाती है।

ख-प्राकृतिक शक्तियों को आलंकारिक रूप में नहीं वास्तविक रूप में (लक्षणा रूप में नहीं, अभिधा रूप में) देव मानलिया जाता है।

ग-कर्तव्य करने की अपेक्षा, बलिदान निरर्थक कष्टसहन और दीनता दिखाने आदि से देवताओं को खुश करने की वृत्ति तीव्र रहती है। और इसे धर्म मानलिया जाता है।

घ-मन्त्र-तन्त्र जादू-टोना आदि धर्म के मुख्य रूप रहते हैं। अवैज्ञानिक चमत्कारों पर काफी विश्वास किया जाता है।

ङ-मानवता की भावना नहीं रहती। नीति के कुछ तत्व अगर माने भी जाते हैं तो वे सिर्फ अपने गिरोह के भीतर ही। दूसरे गिरोह के लोगों के प्रति अत्याचार करना दुर्ग नहीं समझा जाता।

ये सब चिन्ह धर्मतीर्थ के अतिप्रारम्भिक रूप हैं बल्कि वो कहना चाहिये कि वास्तविक धर्मतीर्थ के उत्पन्न होने के पहिले के रूप हैं। गर्भावस्था में शिशु की वो हालत होती है धर्म-संस्था की गर्भावस्था का रूप भी ऐसा ही होता है। इसलिये ऐसे अतिप्राचीन धर्मतीर्थों को भ्रूणोपम तीर्थ (गभेत्तर भन्तो) कहना चाहिये।

धर्मसमभावों न इनकी निन्दा करता है न इन्हें स्वीकार करता है। मानव विकास की स्वाभाविक अवस्था समझकर उन्हें जन्तव्य मानता है।

हा। भ्रूणोपम तीर्थ की बातों को कोई आज चलाना चाहे वो वह विरोध करेगा।

८-कुछ सम्प्रदाय अहंकार से खड़े कर लिये जाते हैं। लोक-कल्याण की भावना उनमें

मुख्य नहीं होती, सिर्फ यही देखा जाता है कि शीघ्र प्रतिष्ठा कैसे मिलेगी। इनमें लोक-रंजन की या कुछ लोगों की स्वार्थपरता को सुरक्षित रखने की मुख्यता रहती है। ऐसे सम्प्रदाय धर्म-तीर्थ नहीं कहे जा सकते। धर्मसमभावी उन्हें आदर देना उचित नहीं समझना। अधिक से अधिक उपेक्षा करता है। जब कभी लोकोहित की दृष्टि से विरोध करने की आवश्यकता होती है तब विरोध भी करता है। इन्हें अहंकारज (मठोज) सम्प्रदाय कहते हैं।

९-कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय होते हैं जिनका भी प्रारम्भ लोक-कल्याण की भावना से नहीं, किन्तु अहंकार कृतघ्नता आदि से होता है। अमुक संस्था में मुझे अमुक पद नहीं मिला, या मुझे अमुक सहूलियत नहीं दी गई या मेरे साथ ठीक व्यवहार नहीं किया गया, इसलिये उस संस्था की सामग्री लेकर अलग सम्प्रदाय बनालेना, नाम मात्र के मतभेद की छाप लगालेना, इसप्रकार अहंकार चोरी और कृतघ्नता से जो सम्प्रदाय पैदा होते हैं वे निन्दनीय हैं। धर्मसमभावों ऐसे सम्प्रदायों को धर्म-तीर्थ नहीं मानता। म महावीर के शिष्य जमालि ने ऐसा ही सम्प्रदाय खड़ा किया था। इनमें चोरी की मुख्यता रहती है इसलिये इन्हें चौरज, चुरोज) सम्प्रदाय कहना चाहिये।

१०-कुछ सम्प्रदाय धर्म के नाम की दूकान, दारी ही होते हैं इनमें जीविका की मुख्यता रहती है। प्रतिष्ठा आदि का लोभ भी रहता है। इनमें दुनिया को लुभाना ठगना अन्धविश्वास बढ़ाना, इसके लिये पद्धत्यन्त्र करना आदि खराबियाँ रहती हैं। इनका धरमदार ठगी धोखेबाजों पर रहता है। इन्हें ठगी संग्रदाय (चोटोज) कहलाना चाहिये। धर्म समभावी इनका विरोध करता है निन्दा करता है।

संग्रदाय के इन भेदों से और उनके विषय में धर्म समभावी के व्यवहार से पता लगता है कि धर्म समभाव का वास्तविक रूप क्या है।

प्रश्न—हिन्दू धर्म को आपने भूत तीर्थों में गिन लिया है परन्तु इसकी अति प्राचीनता देखकर और उसके भीतर घुसे हुए अन्धविश्वास आदि देखकर यह भ्रूणोपम तीर्थ मालूम होता है। धर्म समभावी इसका आदर कैसे कर सकता है या इससे प्रेरणा कैसे ले सकता है ?

उत्तर—हिन्दू धर्म की परंपरा बहुत पुरानी है, यह एक संग्रह तीर्थ है। इसमें भ्रूणोपम तीर्थ की बातें भी शामिल हैं फिर भी इसे भ्रूणोपम तीर्थ नहीं कह सकते। क्योंकि यह युग के अनुरूप विकास करता गया है। कुछ बातों पर ध्यान देने से ही यह बात समझ में आजाती है।

१—अहिंसा सत्य आदि संयम के ऊँचे से ऊँचे प्रकार इसमें शामिल होगये हैं।

२—इसके सर्वभूतहित के सिद्धांत ने इसकी संकुचितता को दूर कर दिया है।

३—इसके सहयोगी दर्शन-शास्त्र इतने विकसित हैं कि उस जमाने में ही नहीं, किन्तु अभी कल तक इससे अच्छा दर्शन शास्त्र दूसरा नहीं दे सका। सांख्य-दर्शन का प्रकृतिवाद, वेदान्त का अद्वैत, वैशेषिक का भौतिक विज्ञान न्याय दर्शन का तर्क आदि सूक्ष्म विचार भ्रूणोपम तीर्थों में संभव नहीं हैं।

४—आत्मा कर्म-फल आदिकी व्यवस्था भी भ्रूणोपम तीर्थों से काफी उच्च है, और किसी भी तीर्थ से कम नहीं है।

५—इसका कर्मयोग, बहुत ऊँचे दर्जे की चीज है। बहुतसे भूत तीर्थों में इसके जोड़ की चीज नहीं मिलती।

६—इसकी समन्वय नीति भी काफी ऊँचे दर्जे की है।

इस प्रकार बहुत-सी खूबियाँ बताई जा सकती हैं जो भ्रूणोपम तीर्थों में नहीं पाई जा सकती। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस धर्म-तीर्थ में मूलक्रान्ति नहीं हुई, सुधारों की परंपरा से ही इसका विकास हुआ इसलिये पुराना

कचरा भी नीचे स्तरों पर पड़ा हुआ है। इस प्रकार यह ऐसी पुरानी विशाल दूकान के समान बन गया है जहाँ पुराने से पुराने सड़े-गले माल के साथ, नये से नये अच्छे माल का भंडार भरा पड़ा है, पर इसीलिये इसे कचरे की दूकान या सड़मालकी दूकान नहीं कह सकते। जब इसमें ऊँचे से ऊँचा और अच्छे से अच्छा माल काफी मिलनकता है तब अच्छी दूकानों में ही इसकी गिनती की जायगी।

यो तो भ्रूणोपम तीर्थ के कुछ दोष जैन बौद्ध आदि विकसित धर्मों में भी पाये जाते हैं, मंत्र तंत्र और ऋद्धियों ने वहाँ भी जगह घेर रखी है पर उनकी अन्य बातों को देखकर जैसे इन दोषों पर उपेक्षा करके उन्हें विकसित तीर्थ मानते हैं उसी तरह हिन्दूधर्म को भी मानना चाहिये।

धर्म की विकसितता अविकसितता का निर्णय करने में यद्यपि यह भी देखना पड़ता है कि उसका दार्शनिक या वैज्ञानिक आधार किस श्रेणी का है, परन्तु इसके निर्णय की इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उसका जीवन-सन्देश क्या है, उसमें सदाचार सहयोग विश्वास प्रेम आदि पर कितना जोर है और उसका क्षेत्र न्याय-हारिकता को सम्हालकर कितना व्यापक है। इस दृष्टि से विकसित होनेपर अगर अन्य दृष्टियों से अविकसित हुआ तो उसे विकसित कहा जायगा। एक ऐसा धर्म, जिसमें मानवमात्र के हित का विचार नहीं है अपने राष्ट्र या गिरोंह के ही हित का विचार है, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से काफी समुन्नत है, वह उतना विकसित नहीं है जितना मनुष्यमात्र के कल्याण का विचार करने वाला किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ कम समुन्नत धर्म विकसित है। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म काफी विकसित कहा जा सकता है।

प्रश्न—हिन्दू धर्म की विरोधवाधोंमें आपने उसका समन्वय भी बताया है पर हिन्दू धर्म समन्वय धर्म नहीं कहा जा सकता। यह तो उसकी

कमजोरी है जो उसने दुनियाभर का कूढा-कचरा भी इकट्ठा कर लिया ।

उत्तर—तब तो परस्पर समझौते के पर्यन्त को, शान्ति के पर्यन्त को, सहिष्णुता को कमजोरी कहा जायगा, और असहिष्णुता आदि को बहादुरी समझा जायगा । जिन दिनों यूरुप प्रोटेस्टेन्ट और रोमन कैथोलिक के नामपर खून बहा रहा था और एक दूसरे को मिटा रहा था उन दिनों वह बलवान था, और आज इस बात को लेकर सहिष्णुता से काम लेनेवाला यूरुप कमजोर है क्या यह कहना ठीक है ? दो राजाएँ आपस में लड़ती रहें तो बहादुर, और सहिष्णुता या समभाव से काम लेकर इन्सानियत का परिचय दें तो कमजोर, यह मानव विकास का या जगत्कल्याण का क्रम नहीं है । आदिम युग में एक दल शत्रुदल को जीतकर खाजाता था, पीछे उसमें समझौतारी आ गई और वह उनको बरा में करके काम लेने लगा, फिर उसमें सामाजिकता बढ़ी, इस आदान प्रदान में एक दूसरे का कूढा-कचरा भी थोड़ी-बहुत मात्रा में आया, पर इसी-लिये विजित शत्रु जीतकर खालान की अपेक्षा यह कमजोरी का रास्ता था यह नहीं कहा जा सकता । अगर इसे कमजोरी ही कहा जाय तो इसकी तारीफ ही करना पड़ेगी । हिन्दूधर्म की यह कमजोरी है तो भी यह परासनीय है ।

वात यह है कि हिन्दू धर्म की नींव डालनेवालों ने यह समझलिया था कि ऐसी पाठशाला बनाना व्यर्थ है जिसमें सब को एक ही कक्षा में पढ़ाया जाय । धीरे धीरे ही उन्हें उच्य कक्षा में पहुँचाया जा सकता है । इसप्रकार एक तरफ हिन्दू धर्म ने ऊँचे सिद्धान्तों का कार्यक्रम रक्खा दूसरी तरफ पिछड़े हुए लोगों के साथ धार्मिक बलात्कार नहीं किया । ज्ञान (चार पर भरोसा किया । कक्षाएँ अलग अलग रहीं पर पाठशाला एक बनी । वह समन्वय एक दिन में किसी एक आदमी के जरिये नहीं हुआ किन्तु कई हजार वर्ष में अनेक व्यक्तियों ने मिलकर किया । यह कमजोरी नहीं, उदारता और भाईचारे का परिणाम था । इसे चतुरता भी कह सकते हैं ।

प्रश्न—हिन्दू लोग भी अपने किसी एक संप्रदाय को ही मानते हैं, सब हिन्दुओं के अलग अलग संप्रदाय हैं । सब को हिन्दू कह देने से सब का समन्वय नहीं होजाता है । मनुष्यों में फैले हुए भिन्न भिन्न धर्मों को एक मानवधर्म कह देने से क्या यह कहा जासकता है कि सब मनुष्यों का समन्वयारमक एक मानवधर्म है । यदि नहीं, तो हिन्दू धर्म को भी समन्वयार्मक एक धर्म कैसे कहा जासकता है ? वह तो बहुत से संप्रदायों का एक सासान्य नामकरण मात्र है ।

उत्तर—हिन्दू धर्म में शैव वैष्णव आदि जितने संप्रदायों का समावेश किया जाता है उनके विषय में साधारण हिन्दुओं का क्या रुख है इसीसे इस बात का पता लगसकता है कि वे संप्रदाय व्यक्ति में समन्वित भी हुए हैं या मुसलमान ईसाइयों की तरह अलग अलग रहकर ही किसी एक नामकरण के अन्तर्गत किये गये हैं ।

यद्यपि हिन्दुओं में संप्रदाय अभी भी बने हुए हैं पर साधारण हिन्दू राम नवमी कृष्णाष्टमी शिवरात्री गणेश वक्तुर्या नवदुर्गा आदि त्यौहारों को अपना त्यौहार समझता है और भाग लेता है । और समयसमय पर इनके मन्दिरों में भी जाता है जब कि मुसलमान न चर्च में जाकर ईसा जयन्ती मनाते हैं न ईसाई मसजिद में जाकर मुहम्मद जयन्ती मनाते हैं । एक तरफ हिंदू शिवजी को जल चढ़ाता है दूसरी तरफ विष्णुजी को भोग लगाता है । यह बात हज़ारों में एकाध हिन्दू को छोड़कर बाकी नव सौ गिन्यानवे हिंदुओं के बारे में कही जासकती है । इस तरह के हिंदू शास्त्र भी बनगये हैं जिनमें कहा गया कि शिव-भक्ति के बिना विष्णुभक्ति सफल नहीं होती विष्णुभक्ति के बिना शिवभक्ति सफल नहीं होती । इसप्रकार शास्त्र में और व्यवहार में यह समन्वय सिद्ध किया गया । इतना ही नहीं दार्शनिक ढंग से भी यह समन्वय सिद्ध किया गया ब्रह्मा विष्णु महेश एक ही परमात्मा के जुड़े-जुड़े कामों के अनुसार जुड़े-जुड़े नाम हैं यह बात भी कही

गई। इस तरह यह समन्वय सर्वांगपूर्ण बनाया गया। सिर्फ सम्मिलित नामकरण ही नहीं रहा।

प्रश्न—भूतधर्म, युगधर्म आदि येदो से पता लगता है कि आप कालक्रम से धर्मों का विकास मानते हैं पर ऐसी बात नहीं मालूम होती। जैन-धर्म बौद्धधर्म काफी पुराने होनेपर भी काफी विकसित कहे जा सकते हैं जब कि इसके पीछे के अनेक धर्म कम विकसित हैं।

उत्तर—समुद्र तट से हिमालय की तरफ बढ़ने में हमें ऊँचे ऊँचे जाना पड़ेगा पर चढ़ाई का क्रम एक सा न होगा। बीच बीच में उतार भी आयागा। हर रास्ते का उतार चढ़ाव का क्रम भी एक-सा न होगा। इसी तरह मानव के धार्मिक विकास में भी उतार चढ़ाव आते हैं। हर देश की परिस्थिति के अनुसार विकास के क्रम में भी अन्तर है। कहीं दोहजार वर्ष पहिले जितना विकास होगया दूसरी जगह एक हजार वर्ष पहिले भी उतना विकास नहीं था। पर सामूहिक रूप में मनुष्य का विकास होता जा रहा है और धर्मसंस्था का भी विकास हो रहा है इसमें कोई सन्देह नहीं।

प्रश्न—आज तक मनुष्य ने धर्मसंस्थाओं का काफी उपयोग किया है क्योंकि उससमय विज्ञान प्रगति पर नहीं था पर अब वैज्ञानिक युग आगया है अब धर्मसंस्थाओं को मितना पड़ेगा, नई धार्मिक संस्थाएँ तो पैदा हो ही नहीं सकती, क्योंकि धर्म विज्ञान के साथ मेल नहीं बैठ सकता। लोग धर्म और विज्ञान को मिलाने की कोशिश करते हैं जरूर, पर यह असम्भव है। धर्मसंस्था अवास्तव कल्पना पर खड़ी होती है, गरीबी पिछड़ी हुई उत्पादन पद्धति आदि पर टिकती है, आज यह सामग्री नहीं मिलसकती। कुछ दिनों तक पुगने धर्म मृत्युशय्यापर पड़े पड़े सिसकेगे फिर बिना नया धर्म पैदा किये भर जायेंगे। इसलिये मानव विकास के साथ धर्म संस्था के विकास का तिरम बनाना ठीक नहीं।

उत्तर—मनुष्य के उस आचार-विचार को धर्म कहते हैं जिसके द्वारा मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण होता है सुख बढ़ता है एक व्यवस्था पैदा होती है। उस धर्म को पैदा करने या टिकाये रखने के लिये जो एक व्यवस्थित मनोवैज्ञानिक प्रयत्न किया जाता है उसे धर्मसंस्था कहते हैं। इसके लिये बहुत-सी धर्म-संस्थाओं ने ईश्वर परलोक आत्मा आदि का सहारा लिया है पर ये धर्मसंस्था के अनिवार्य अंग नहीं हैं, इनके बिना भी धर्मसंस्था खड़ी होसकती है हुई है। प्रारम्भ में बौद्धधर्म संस्था इसके बिना ही खड़ी हुई थी। धर्मसंस्था की जो एकमात्र विशेषता है वह है किसी आचार-विचार के लिये मन में निष्ठा पैदा करना, सत्कार के जरिये अमुक आचार-विचार को मन में स्थिर करना। यह भी उसकी एक विशेषता कही जासकती है कि उसमें कल्पित वा अकल्पित अमुक व्यक्ति या व्यक्तियों के प्रति एक तरह का विशेष विनय रहता है। धर्म और धर्मसंस्था का इस प्रकार ठीक रूप समझने के बाद इस प्रश्न के उत्तर में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिये।

१—वास्तव में एक समय ऐसा आसकता है जब मनुष्यमात्र इतना विवेकी होजायगा कि उसे किसी धर्मसंस्था (धर्मतीर्थ) की जरूरत न होगी और वह धर्मात्मा बनजायगा। पर वह समय अनिश्चित भविष्य का है। और अच्छी तरह इसकोलिये प्रयत्न किया जाय तो भी सौ वर्ष तक वह समय नहीं आसकता। अभी हमें उस समय की आशा ही रखना चाहिये। उसके अनुकूल मनुष्य की मनोवृत्ति तथा सामाजिक राजनैतिक आर्थिक परिस्थिति का निर्माण करना चाहिये। इनके बिना धर्मसंस्थाओं को उत्पाद फेंकने की बात बेकार है, और अत्यन्त हानिकर है। मनुष्य धर्मसंस्था की जरूरत अनुभव करे और उसे धर्मसंस्था न दीजाय तो इसका अर्थ होगा किसी अविकसित और गम्भी धर्मसंस्था को अपना लेना। अगर किसी को प्यास लगी

हो और उसे साफ पानी न दिया जाय या वर्षा होनेपर आसमान से बरसते हुए साफ पानी पीने का आग्रह किया जाय तो तब तक मनुष्य प्यासा न बैठे रहेगा वह गटर का भी गन्दा पानी पी लेगा। इसलिये उचित यह है कि जब तक वर्षा नहीं होती और आदमी प्यासा है तब तक परिस्थिति के अनुसार जितना स्वच्छ पानी दिया जासके दिया जाय।

२-यह कहना कि 'धर्म विज्ञान के साथ मेल नहीं बैठा सकता' बिल्कुल गलत है। जगत में जो नई नई धर्मसंस्थाएँ पैदा होती हैं उनके दो मुख्य काम होते हैं १-परिस्थिति के अनुसार नये आचार-विचार देना, २-विज्ञान के साथ मेल बैठाना। अपने युग के विज्ञान के साथ मेल बैठाये बिना कोई धर्मसंस्था टिक नहीं सकती। धर्म और विज्ञान का मेल टूटता है तब जब धर्म-संस्था पुरानी और युगवाक्य होकर अपना पुनर्जन्म या कायाकल्प नहीं करती, और विज्ञान अपना कायाकल्प कर जाता है। इसलिये नई धर्मसंस्था की जरूरत होती है।

३-विज्ञान और धर्म परस्पर पूरक हैं। विज्ञान का काम कमाले का है धर्म का काम व्यवस्था करने का। कमाला न जाय तो व्यवस्था का आधार टूट जाय, और व्यवस्था न की जाय तो कमाला मिट्टी में मिलजाय। यद्यपि राज्य-संस्था भी व्यवस्था का काम करती है, पर राज्य संस्था का मुख्य आधार शक्ति है और धर्मसंस्था का मुख्य आधार संस्कार है। संस्कार ठीक न हो तो शक्ति का काफी दुरुपयोग होता है। राज्य-संस्था का कार्यक्षेत्र बाहर है और धर्मसंस्था का भीतर। तुम मन्न बनो, छुतज रहो, शान्त रहो टपालु बनो, परोपकार कर, आदि आर्य कानून ने नहीं कराये जासकते, धर्म से कराये जासकते हैं। वयपि यह समय आया या आसकता है जब धर्म और राज्य मिलकर एक होजायेंगे परन्तु जब तक वह समय नहीं आया है तब तक व्यवस्था के कार्य में धर्म की आवश्यकता है, इस प्रकार विज्ञान और धर्म परस्पर पूरक रहेंगे।

४-यह कहना ठीक नहीं कि वैज्ञानिक युग आजाने से धर्मसंस्था की जरूरत नहीं है। धर्म-संस्था को विकसित करने से विज्ञान का हाथ है पर उसे रखना न रखना विज्ञान के बरा के बाहर है। विज्ञान की दृष्टि से पिछड़े हुए जगत में भी धर्मसंस्था न हो यह सम्भव है। और विज्ञान की दृष्टि से बड़े हुए जगत में भी धर्म की आवश्यकता होसकती है। जैसे गणित रसायन आदि के शिक्षण बदलाने पर भी काव्य की आवश्यकता मिट नहीं जाती वसी प्रकार विज्ञान के प्रसार से भी धर्म की आवश्यकता मिट नहीं सकती। हा। काव्य की शैली बदलने और विकसित होने के समान धर्म की भी शैली बदलती और विकसित होती है। इसलिये विज्ञान के आनेपर धर्म विकसित होगा, मिटेगा नहीं।

५-यह कहना भी ठीक नहीं कि 'नई धार्मिक संस्थाएँ पैदा नहीं होसकती और धार्मिक संस्थाएँ पैदा होने का समय चलागया।' जब धर्मतीर्थों की आवश्यकता लोगों को महसूस हो रही है तब यह कैसे होसकता है कि कोई युगालु-रूप धर्मसंस्था पैदा न हो। बाजार में किसी माल की बिक्री होरही हो, तब यह नहीं कहा जासकता कि बाजार में पुराना माल ही बिकेगा नया न आयेगा या न बनेगा। जिस माल की आवश्यकताका अनुभव लोग कर रहे हा और उसे ले भी रहे हा वह अच्छे से अच्छा बनसकता हांगा तो जरूर बनेगा। इसी प्रकार जब तक धर्मसंस्था को लोग अपनाये हुए हैं तब तक धर्मतीर्थ नये-नये और विकसित बनते रहेंगे। ब्राह्मसमाज आर्य समाज सरीखी धर्मसंस्थाएँ भी जब खड़ी होसकी तब इनसे भी अधिक वैज्ञानिक धर्म-संस्थाएँ क्यों न खड़ी होगी? तब तक धर्म-संस्थाओं की आवश्यकता बिल्कुल नष्ट नहीं होजाती और जब तक ऐसी कोई धर्मसंस्था पैदा नहीं होजाती जो उस जगत को पैदा करदे जिसमें धर्मतीर्थ की जरूरत न होगी, तब तक युगानुसंग-धर्मसंस्था पैदा होगी और पैदा होना चाकिये।

६-“ धर्म प्रवास्तव कल्पना पर खड़े होते हैं, इसलिये धर्म न रहेंगे। यह बात करीब करीब ऐसी ही है कि काव्य अधस्तव कल्पना पर खड़े होते हैं इसलिये काव्य न रहेंगे। धर्म तो इतनी अधस्तव कल्पनाओं को लेते नहीं है जितनी अधस्तव कल्पनाओं को काव्य लेते हैं, तब जब काव्य नहीं मिटते तब धर्म कैसे मिटा जायेंगे। हाँ! इतना ही हो सकता है कि पुगने जमाने में जिसप्रकार काव्यों में अतिशयोक्तियों की गुंजाइश थी वैसे आज नहीं है उसी प्रकार पुराने जमाने में धर्मों में जिसप्रकार अन्वविश्वास की गुंजाइश थी वैसे आज नहीं है। आज के विकसित विज्ञान के अधिकार में ही धर्मों के कल्पनाएँ अपना काम करेगी।

प्रश्न—धर्म, सम्प्रदाय तीर्थ आदि किसी भी श्रेणी के हो उनके नामपर जगत में जो अत्याचार हुए हैं शायद ही किसी दूसरी चीज के नामपर हुए हों इसलिये धर्म से घृणा पैदा होजाय यह स्वाभाविक है। क्रान्ति के चक्र में जब दुनिया भर के पाप पिसेंगे तब इन धर्मतीर्थ नाम के पापों को भी पिसना चाहिये।

उत्तर—आज जो क्रान्ति कहलाती है कल नहीं धर्म सम्प्रदाय आदि कहला सकती है या धर्म सम्प्रदाय के गुणगोपों से पूर्ण होसकती है। आज जो धर्म कहलाते हैं वे भी एक जमाने की सफल क्रान्ति हैं। जैसे आज की क्रान्ति पाप नहीं है उसी प्रकार एक समय की क्रान्ति, ये धर्म पाप नहीं कहे जासकते। रही दुरुपयोग की बात, सो दुरुपयोग किसका नहीं हुआ है? कलम से लिखने की वजाय कोई कोई मारा करे तो इसमें कलम बेचारी क्या करे? अतिभोजन या विकृत भोजन से कोई बीमार होजाय या मरजाय तो भोजन घृणास्पद नहीं हो सकता सिर्फ उसकी ‘अति’ घृणास्पद हो सकती है। सच पूछो तो धर्म के लिये लड़ाई नहीं होती धर्म के नामपर होती है। धर्म का नाम अपनी पाप-वासनाओं के लिये आँट बना लिया जाता है।

प्रश्न—पाप के लिये जो ओट का काम दे वह क्यों न नष्ट कर दिया जाय ?

उत्तर—मकान अगर चोरो के लिये ओट का काम दे तो मकान गिराया नहीं जाता चोर ही ढंढा जाता है। अगर कभी गिराने की आवश्यकता ही पड़ जाय तो फिर बनाना पड़ता है। आवश्यकतानुसार पुनर्निर्माण करना उचित है पर सर्वथा ध्वंस नहीं। सच पूछा जाय तो अभी युगो तक धर्म का ध्वंस हो नहीं सकता। ध्वंस ध्वंस चिल्लाकर हम सिर्फ हाँकिर जोश पैदा करते हैं। हम धर्म के विषय में कितनी ही नास्तिकता का परिचय दें अगर हमारी नास्तिकता सफल है तो उसी के नामपर विराट् आस्तिकता पैदा हो जायगी। यहाँ तक कि अनीश्वरवाद भी प्रचार की दृष्टि से सफल होनेपर ईश्वरवाद बनजाता है। महावीर और बुद्ध ने ईश्वरवाद के विषय में नास्तिकता का जो सफल प्रचार किया उसका फल यह हुआ कि उनके सम्प्रदायों में महावीर, बुद्ध, ईश्वर के आसन पर बिठला दिये गये। जिन देशों में धर्म की नास्तिकता सफल हुई है उन देशों में वे नास्तिकता के तीर्थकर आज देवता की तरह पूज रहे हैं। उनकी कब्रों पर हजारों आदमी प्रतिदिन सिर मुकाते हैं और उनके गीत गाते हैं। मनुष्य के पास जब तक हृदय है तब तक उसके पास ऐसी आस्तिकता अवश्य रहेगी। मन्दिर, मसजिद, चर्च, कब्र, शिला ध्वजा, चित्र, मूर्ति नगी, पहाड़, वृक्ष आदि प्रतीकों में परिवर्तन भले ही होता रहे पर इनमें से कोई न कोई किसी रूप में रहकर आस्तिकता को जगाये रहता है। आस्तिकता इतनी प्रचण्ड है कि वह नास्तिकता को भी अपना भोजन बना लेती है। जब तक हृदय है तब तक आस्तिकता है। हृदय को कोई नष्ट नहीं कर सकता। सिर्फ अशुभ समय के लिये सुला सकता है। पर उसका जागरण हुए बिना नहीं रहता। इसलिये उसके नष्ट करने की चेष्टा व्यर्थ है। उसका दुरुपयोग न होने पावे सिर्फ इतनी ही चेष्टा करना चाहिये और उसके मर को सुधा-

रते रहना चाहिये। मनुष्य का हृदय जब तक धर्मतीर्थ से जूझ नहीं होसकता तब तक उसे अच्छा तीर्थ देने का प्रयत्न करना चाहिये, नहीं तो वह खराब से खराब संग्रहालय को अपना लेगा। इसलिये कुपयुक्त के समान दुरुपयोग ही रोकना चाहिये।

प्रश्न—दुरुपयोग हर एक चीज का होता है यह ठीक है, पर धर्म का दुरुपयोग अधिक से अधिक होता है। वन, धन, सौन्दर्य, आदि के प्रहकार की अपेक्षा धर्म का अहंकार प्रबल होता है। भगडे आदि भी धर्म के लिये बहुरूप होते हैं इन सब का असली कारण क्या है ?

उत्तर—धर्म तो जगत् में शान्ति प्रेम, और आनन्द ही फैलाता रहा है। परन्तु मनुष्य एक जानवर है, बुद्धि अधिक होने से इसमें पाप करने की, पाप को छिपाये रखने या टिकाये रखने की शक्ति अधिक आगई है। अहंकार इसमें सब से अधिक है। महत्त्वानन्द के लिये यह सब कुछ छोड़ने को तैयार होजाता है। पर हर एक आदमी को यह आनन्द पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल सकता जब कि लालसा वीर रहती है इसलिये मनुष्य अनुचित कल्पनाओं से इस लालसा को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है उसी का फल है धर्म-मद, धन, जल और बल आदि का मद न तो अक्षुण्ण है न स्थिर। आज धन ही कल नहीं है, आज बल ही कल बीमारी बुढ़ापा आदि में नहीं है इस प्रशंग इनके मदों से मनुष्य को सन्तोष नहीं होता। तब वह धर्म और ईश्वर के नामपर मद करता है। हमारा धर्म सब से अच्छा, हमारा देव सब से अच्छा आदि। धर्म और देव धोखा नहीं होते, बुढ़े नहीं होते और छिन्ते भी नहीं अर्थात् इनका नाम नहीं छिन्ता (अर्थ मे तो धर्म अहंकारियों के पाम में फटकते भी नहीं हैं फिर मिलेगे क्या ?) इसलिये इनका अभिमान मग्न बना रहता है और तुलना में सुख भी नहीं होता। वन में तो लक्षपति का महत्त्व फसलपति के आगे सुख होता है।

बल आदि में भी यही बात है। पर ईश्वर और धर्म में तो तुलना करने की जरूरत ही नहीं है अन्धधृष्टा के अन्धेरे के कारण दूसरा दिखता ही नहीं फिर तुलना क्या ? तुलना तो सिर्फ कल्पना से की जाती है कि हम अच्छे सब खराब, क्योंकि हम हम हैं। इस प्रकार महत्त्वानन्द की अनुचित लालसा के कारण जो हमारे दिल में शैतान घुसा है वह ईश्वर और धर्म की ओट में ताड़ब कर रहा है। वास्तव में यह शैतान (पाप) का उपद्रव है धर्म या ईश्वर का नहीं।

प्रश्न—माना कि धार्मिक दृष्टि में मुख्य अपराध शैतान का है पर धर्म भी उसमें सहायक है। धर्मों में तरतमता है यह आप मानते हैं तब जिसको अच्छा धर्म मिला है वह उसका गौरव क्यों न रखे ? क्या अच्छे को अच्छा समझना भी शैतानीय है ? यदि नहीं तो अच्छे बुरे का द्वन्द्व होगा ही। इस प्रकार यदि धर्म हैं तो उनमें तरतमता है और तरतमता है तो द्वन्द्व है, तब इसका क्या उपाय ?

उत्तर—दो उपाय हैं १-गौरव विवेक (एंजो अंको) २-तरतमता विवेक (जीपो अंको)

गौरव विवेक—मनुष्य इस बात का अभिमान करता है कि हमारा धर्म बड़ा अच्छा। पर अगर धर्म अच्छा होनेपर भी हम उसके द्वारा अच्छे नहीं बने, तो धर्म जितना अच्छा होगा हमारी तनी ही अधिक हीनता सावित होगी। किसी आदमी में अगर ईमानदारी सेवकता परोपकार ज्ञान आदि हम से अधिक हो और हम कहे कि उसका धर्म खराब है और हमारा धर्म अच्छा है तो इसका कर्ण यह होगा कि वह आदमी हमसे अधिक लायक है कि खराब धर्म का सहारा लेकर भी उसने हमसे अच्छा जीवन बनाया और हम बड़े नालायक हैं कि अच्छा धर्म पाकर भी खराब धर्मबाल से अच्छा जीवन न बना पाये इसप्रकार गौरव-विवेक से पता लगेगा कि हमारा गौरव अपने धर्म के अच्छे या बुरे होने में नहीं है किन्तु अपने जीवन को अच्छा

या दुरा बनाने में है। हम अच्छे से अच्छे धर्म को चुनें, जिससे हमारा जीवन अच्छा बने, पर अपने गौरव के लिये दुनिया के सामने अपने धर्म के गीत न गाये, क्योंकि धर्म जितना अच्छा होगा हमारे गौरव को उतना ही धक्का लगेगा। अधिक पूँजी में कम कमाई करने वाले की अपेक्षा कम पूँजी में अधिक कमाई करनेवाले का गौरव अधिक है। इस प्रकार गौरव विवेक रखनी जाय तो धार्मिक द्वन्द्व दूर होजायें।

तरतमता विवेक—धर्मों की न्यूनाधिकता या अविकसितता का ठीक ठीक विचार करना तरतमता विवेक है। इसके पाजाने से धर्मों के द्वन्द्व शान्त होजाते हैं।

तरतमता का भाव दो तरह का होता है। एक तो वैज्ञानिक दूसरा भ्रमजन्य। विकास तरतमता (लंतीम जीपो) का भाव दुरी बात नहीं है। मानव समाज—उठताबैठता—विकसित होता जा रहा है, इसलिये मनुष्य की धार्मिक भावना भी विकसित होती जा रही है। देशकाल का असर ससपर पड़ता है इसलिये विकास में कुछ अन्तर भी होता है। पर इससे द्वन्द्व नहीं होता, निम्ना अपमान आदि का साव नहीं आता। प्राचीन काल का महात्मा या उसका सन्देश या सन्देश देने का रूप यदि आज के समान समुन्नत नहीं है तो भी तीन कारणों से हमें उसका सम्मान करना चाहिये। १. पारिस्थितिक महत्ता (लंजिजं वीगो) २ सार्वजनिक कृतज्ञता (पुमपेरं भत्त-जेयो) ३ बन्धुपूज्यसमादर (सगपुजमोनो)

१—पारिस्थितिक महत्ता का मतलब यह है कि जो व्यक्ति या वस्तु अपने देशकाल में महान है उसकी महत्ता को स्वीकार करना आदर करना, भले ही आज की अपेक्षा वह भद्दा न मालूम हो। जो अपने जमाने में अपने जमाने के लोगों से आगे बढ़ सका वह आज के साधन पाकर आज के जमाने के लोगों से भी आगे बढ़ता, जो धर्म उस जमाने में उतना अच्छा धनसका वह आज के साधन पाकर आज की दृष्टि से भी

महान बनता यह पारिस्थितिक महत्ता है। इस विचार से धर्मों के द्वन्द्व दूर होते हैं, वमपह घटता है और युगवाच्य वस्तु में अन्धश्रद्धा रखने की भी जरूरत नहीं होती।

२—सामूहिक कृतज्ञता का मतलब यह है कि हमारा जो आज विकास हुआ है उसके मूल में पूर्वजों की काफी पूँजी है इसलिये आज के युग को पिछले युग का कृतज्ञ होना चाहिये आज के महामानव को पहिले के महामानव का कृतज्ञ होना चाहिये। इस सामूहिक कृतज्ञता के कारण भी हमें पहिले महामानवों का आदर करना चाहिये।

३—बन्धु-पूज्य-समादर का मतलब उस व्यावहारिकता से है जो हम पक्षीसियों के गुरु-जनो के विषय में रखते हैं। यदि हम किसी को मित्र कहते हैं तो हमारा कर्तव्य होजाता है कि उसके मातापिता का यथोचित आदर करें। जो हमारे बन्धु के लिये पूज्य है वह हमारे लिये काफी आदरणीय है। यही बन्धु-पूज्य-समादर है। धर्म के विषय में भी हमें इसी नीति से काम लेना चाहिये। मानलो हजरत मूसा का जीवन आज हमारे लिये आदर्श नहीं है पर वे यहूदियों के गुरुजन हैं इसलिये यहूदियों के साथ बन्धुता प्रदर्शन करने के लिये हमें हजरत मूसा का आदर करना चाहिये। यदि हम किसी यहूदी मित्र के बाप का गुणधोष का विशेष विचार किये बिना आदर कर सकते हैं तो समस्त यहूदियों के लिये जो पिता के समान हैं उनका आदर क्यों नहीं कर सकते ?

प्रश्न—यदि बन्धुता के लिये दूसरों के देवों या गुरुओं का आदर करना कर्तव्य है तब तो यही परेशानी हो जावगी। हमें उनका भी आदर करना पड़ेगा जिनको हम पाप समझते हैं। किसी शक्ति मनुष्य के साथ बन्धुता रखनी है तो वक्तों का बलिदान लेनेवाली कात्ती का आदर करना भी हमारा कर्तव्य हो जायगा। बहुत से चालाक

धूर्त लोग भोले लोगों को बहकाकर गुरु बन जाते हैं अगर उन भोले लोगों का आदर करना हो तो उन धूर्त गुरुओं का भी आदर करना चाहिये। इस प्रकार हमें देव-मूढ़ता गुरु-मूढ़ता आदि मूढ़ताओं का शिकार हो जाना पड़ेगा।

उत्तर—इस प्रकार के अपवाद धर्म में ही नहीं साधारण लोक-व्यवहार में भी उपस्थित होते हैं। हम पड़ोसी के पिता को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं इस साधारण नीति के रहते हुए भी यदि पड़ोसी का पिता वज्रमाश हो, कहर हो और अत्याचारी हो तो न्याय के संरक्षण के लिये हम उसका निगदर भी करते हैं पाप का आदर नहीं करते। धर्म के विषय में भी हमें इस नीति से काम लेना चाहिये। फिर भी इसमें निम्न-लिखित सूचनाओं का ध्यान रखना चाहिये।

१—गुरुदेवों का तिरस्कार न करना चाहिये सिर्फ उनके दुरुपयोग दुरुपासना आदि का तिरस्कार करना चाहिये। जैसे काली, जगद्धन्वा आदि नामों से प्रसिद्ध शक्ति देवी को शक्ति नामक गुण की मूर्ति समझकर उसका सम्मान ही करना चाहिये। परन्तु शक्ति का जो विकराल रूप है पशु-वलि आदि जो उसकी उपासना का बुरा तरीका है उसका विरोध करना चाहिये। हाँ, विरोध में भी दूसरों को समझाने की भावना हो उनका तिरस्कार करने की नहीं। समझाव की गुरुदेवों का सम्मान करते हुए देव मूढ़ता का कोई रूप न आने देना चाहिये।

२—वर्तमान की दृष्टि से व्यक्तिदेवों की तीन श्रेणियाँ हैं क-उपयोगी (उश) उपोपयोगी (फ़उश) ईपदुपयोगी (वेउश) जो आज के लिये पूर्ण उपयोगी है उन्हें उपयोगी कहना चाहिये, परन्तु जो अपने समय में पूर्ण उपयोगी थे किन्तु आज परिस्थिति बदल जाने से कुछ कम उपयोगी हो गये हैं, जिनके सन्देश में थोड़े बहुत परिवर्तन की आवश्यकता है वे उपोपयोगी हैं। जैसे राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा मुहम्मद आदि। ऐसा भी होसकता है कि जो आज उपोपयोगी हैं वे

परिस्थिति बदल जाने पर उपयोगी बनजायें जो आज उपयोगी हैं वे कभी उपोपयोगी बन जाँय। मानव-समाज के विकास के कारण जो आज के लिये कम उपयोगी रह गये हैं वे ईषदुपयोगी हैं। जैसे हज़रत मूसा आदि। इनमें से उपयोगी और उपोपयोगी तो पूर्णरूप से पूजनीय हैं अर्थात् ईष्ट-देव की तरह बन्दनीय हैं। ईषदुपयोगी वन्धु-पूज्य-समादर आदि की दृष्टि से आदरणीय हैं।

३—कुछ गुणदेव और व्यक्तिदेव अनुपयोगी भी होते हैं उन्हें कुदेव कहना चाहिये। भूत-पिशाच आदि कल्पित देव, देव रूप में माने गये सर्प आदि कहर जन्तु, शनैश्चर यम आदि भयंकर और कहर देव आदि अनुपयोगी देव हैं, इनकी पूजा न करना चाहिये।

शंका—महादेव या शिव की उपासना करना चाहिये या नहीं? वह तो संहारक देव होने से कहर देव है।

समाधान—भय से उपासना न करना चाहिये। शिव पाप संहारक हैं इसलिये कहर नहीं है इसलिये गुणदेवों में शिव की गिनती है। अथवा सत्य और अहिंसा में ही हम शिव-शिवा का दर्शन कर सकते हैं। जगत्प्राण के अंग की दृष्टि से किसी की भी उपासना की जासकती है।

शंका—गोमाता कहना उचित है या अनुचित, गाय तो एक जानवर है।

समाधान—गाय के उपकार काफी हैं कृत-ज्ञता की दृष्टि से गोमाता कहा जाय तो कोई बुरा नहीं है। गो माता शत्रु में गो जाति के विषय में कृतज्ञता है जोकि उचित है। वास्तव में उसे कोई देवी नहीं मानता। नहीं तो लोग उसे बाँध कर क्यों रखते और मारते पीटते भी क्यों? जानवर के साथ जानवर सरीखा व्यवहार करके उस जानि के उपकारों के विषय में कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिये शब्दस्तुति करना अनुचित नहीं है।

४—गुरु के विषय में शिष्टाचार का उतना पालन करना चाहिये जितना पड़ोसी के गुरु के

विषय में रखते हैं। विशेषता इतनी है कि वज्रना के द्वारा भी गुरु धनजाने की सम्भावना है इसलिये गुरु-मूढ़ता से बचने के लिये कुछ परीक्षा भी करना चाहिये। गुरु जीवित व्यक्ति है इसलिये उसके विषय में अच्छी तरह कुछ कहा नहीं जा सकता, न जाने कल उसका क्या रूप दिखलाई दे। इसलिये देव के विषय में आदरभाव की जितनी आवश्यकता है उतनी गुरु के विषय में नहीं। उसको तो परीक्षा करके ही मानना चाहिये। फिर भी स्वरूप कल्याण की दृष्टि से जहाँ विरोध करना आवश्यक हो वही विरोध करना चाहिये। वह विरोध अहंकारवश परनिन्दाका रूप धारण न करले। धूर्त गुरुओं का विरोध करना तो जन-साधारण की सेवा है।

इन चार प्रकार की सूचनाओं पर ध्यान रक्खा जाय तो बन्धुपूज्यसमादर की नीति का ठीक तरह से पालन होसकता है।

इसप्रकार पारिस्थितिक महत्ता, सार्वजनिक कृतज्ञता और बन्धुपूज्यसमादर से वैकासिक तरतमता रहनेपर भी धर्म समभाव के पालन में बाधा नहीं आती।

तरतमताका दूसरा भाव भ्रमजन्य (भूहोज) है उसका त्याग करना चाहिये।

कुछ लोगों के मनमें धर्म-संस्थाओं के विषय में यह भ्रम है कि वे अनुक्त वर्ग के पद्यन्त्र का परिणाम हैं। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि, धर्म इसलिये खड़े किये गये जिससे सामन्त और पुंजीपति लोग जनता को चूसते रहें और जनता परलोक की आशा में बिद्रोह न करे पिसती रहे और चुप रहे।

पर यह बड़ा भारी भ्रम है। निःसन्देह धर्म-संस्थाओं का काफी दुरुपयोग सामन्तों ने पुंजीपतियों ने उच्च जाति कहलाने वालों ने तथा कुछ चालाक आश्रमियों ने किया है पर इस दुरुपयोग को धर्मसंस्थाओं का ध्येय बताना ऐसा ही है जैसे सड़को का निर्माण चोरों के सुभीते के लिये बनाना। निःसन्देह चोर सड़को का उपयोग कर-

लेते हैं पर सड़कें चोरों के लिये बनाई नहीं जाती।

धर्मों में अहिंसा का, ईमान का, शील का, त्याग का, दान का, अपरिमह का उपदेश दिया और इसी तरह के संस्कार डाले हैं। और इससे जनता ने काफी लाभ भी उठाया है पर इसके साथ किसी किसी पुंजीपति ने भी लाभ उठाया। सैकड़ों लोगों की चोरी रुकी तो दो-चार श्रीमानों की भी चोरी रुकी। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि चोरी रोकने का काम श्रीमानों के स्वार्थ के लिये किया गया था श्रीमान तो अपने बड़े साधनों के धनपर यों ही चोरी से सुरक्षित रह सकते थे। विशेष लाभ तो साधारण लोगों को हुआ।

परलोक फल के भय और आशा ने भी मनुष्य के हृदय में पाप से बरने की और परोपकारादि पुण्य करने की भावना पैदा की। यह भी धर्म-संस्था का काम था।

सामन्तवाद आदि इसके परिणाम नहीं हैं। अगर जनता सामन्तों को मिटा देती तो भी पुण्य-पाप का फल का सिद्धान्त लागू होता। कहा जासकता था कि अब सामन्तों का पुण्य क्षीण होगया इसलिये अब वे सामन्त नहीं रह सकते, पुंजीपति नहीं रह सकते। युद्धों में सैकड़ों सामन्त जवानों में मारे जाते थे या पराजित होकर बन-वासी होजाते थे इसमें यदि कर्म सिद्धान्त बाधक नहीं होता था तो जनता क्रान्ति करके यदि सामन्तों को या श्रीमन्तों को, मिटा देती तो इसमें कर्मसिद्धान्त—पुण्यपापफल सिद्धान्त क्या बाधा डालता ? बौद्ध धर्म के पैदा होने के पहिले ही मगध में गणतन्त्र चालू होगये थे इसमें कर्म सिद्धान्तने या ईश्वरवाद ने कोई बाधा न डाली थी।

आज सारी दुनिया में समाजवाद (योग्यता-नुसार कार्य और कार्य-अनुसार लेना) और साम्यवाद अर्थात् कुटुम्बवाद (योग्यतानुसार कार्य और आवश्यकतानुसार लेना) भी चालू होजाय तो भी कर्मवाद उसमें बाधा न डालेगा। जब मकम्ब प्लेग आदि के द्वारा सामूहिक संहार

के समय कर्मवाद अपनी उत्पत्ति बैठा लेता है तब समाजवाद साम्यवाद के सामूहिक विकास के समय भी बैठा होता है और बैठालेगा। साम्य-राज्य: धर्मों ने शक्तवाद का निषेध नहीं किया है। हों। समाज के राजनैतिक आर्थिक ढाँचे के अनुसार अपना निर्माण किया है। उनका काम तो मनुष्य में ईमानदारी त्याग सेवा सहयोग आदि की भावना पैदा करना रहा है। जैसा भी राजनैतिक और आर्थिक ढाँचा रहा उसी में उनसे यह काम किया।

आज राजनैतिक दृष्टि से मानव समाज का काफी विकास हो गया है फिर भी अभी मनुष्य इतना विकसित नहीं हो पाया है कि राज्य की जरूरत न रहे। वह इतना ही कर सका है कि सामन्ती शासन से प्रजातन्त्री शासन या समाजवादी शासन ले आया है। पर राज्यसंस्था के दुरुपयोग पर दृष्टि डाली जाय तो असंख्य हैं। राज्यसंस्था जब से पैदा हुई तब से जितने युद्ध इस पृथ्वीतल पर हुए, और उनमें जितने जन धन का नाश हुआ, शासकों द्वारा जनता पर जितने अत्याचार हुए, लूटखसोट और रिश्वतखोरी हुई, उतने ससार में और किसी संस्था के द्वारा नहीं हुए, इतने पर भी न हम आज राज्यसंस्था उठाने को तैयार हैं न यह कहना ही ठीक है कि राज्यसंस्था आदमियों को कत्ल करने लूटने रिश्वत खाने आदि के लिये पैदा हुई है। उसकी उत्पत्ति तो व्यवस्था और न्यायव्यवस्था के लिये हुई थी पर मनुष्यने सहस्रान्वियां तक इसका दुरुपयोग किया, आज भी कर रहा है फिर भी हम उसे मिटाने की नहीं सुधारने की कोशिश कर रहे हैं। उसकी उत्पत्ति को मनुष्य के लिये अभिशाप नहीं समझते हैं। इसी प्रकार धर्मसंस्था भी न्यायव्यवस्था सहयोग ईमानदारी आदि के लिये हुई थी, उसका दुरुपयोग हुआ है फिर भी हम उसकी उत्पत्ति को अभिशाप नहीं समझते, उसे विकसित करने की ही कोशिश करते हैं।

चिकित्सा शास्त्र भी काफी दुरुपयोग

हुआ, फीस के लोभ से वैद्य हाक्टरो ने रोगियों को लूटा ठगा और मार भी डाला, आज भी दवाइयों के मूठे विज्ञापन लोगों का धन और प्राण तक हर रहे हैं पर इस दुरुपयोग को रोकने की ही जरूरत है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि चिकित्सा शास्त्र लोगों को ठगने या लूटने के लिये बनाया गया था। भले ही चिकित्सा रखी जाय पर उसके नामपर ठगने वाले पैदा हो जायेंगे पर इसीलिये प्राकृतिक चिकित्सा की उत्पत्ति ठगों के लिये की गई है यह न कहा जायगा।

दुरुपयोग तो शिक्षा संस्थाओं का भी हुआ है, होता है। साम्राज्यवादी शक्तियों अपने साम्राज्य यन्त्र के पुर्जे ढालने के लिये शिक्षा संस्थाओं का दुरुपयोग करती हैं, पहिले भी किया गया है, पर इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि शिक्षा संस्था की नींव इसलिये डाली गई थी कि लोगों की बुद्धि और हृदय गुलाम बने।

मनुष्य ने मानवता के विकास के लिये सैकड़ों तरह की संस्थाएँ बनाई हैं उनसे जहाँ असीम लाभ हुआ वहाँ कुछ समय बाद उससे नुकसान भी काफी हुआ पर मनुष्य इससे घबराना नहीं, वह वन सब में सुधार करता गया, सुधार करता जा रहा है। धर्मसंस्था के विषय में भी यही बात है। इसलिये धर्मसंस्था को गाली देने की, या उसका मन्त्रांक उड़ाने की जरूरत नहीं है। उनकी तुलना हो तो देशकाल के अनुसार मनुष्य के सक्षम विकास को ध्यान में रखकर करना चाहिये।

धर्मसंस्था का विषय में बहुत से भ्रम हैं और अच्छे अच्छे बुद्धिवाधियों में भी है। ये भ्रम निकल जायें तो धर्मसंस्था की वरतमता का जल्द ठीक भान हो जाय और एक तरह का धर्म-समभाव पैदा हो जाय। यहाँ इस विषय में ये सूत्र ध्यान में रखना चाहिये।

१ धर्मसंस्थाएँ मानवता के विकास के लिये बनी थीं।

२-उनका, आंचा देशकाल परिस्थिति के अनुसार बना है।

३-अन्य संस्थाओं के समान उनका भी दुरुपयोग हुआ पर जैसे अन्य संस्थाएँ हम नहीं मिटाते उनका सुधार ही करते हैं या नई बनाते हैं उसी प्रकार धर्मसंस्था का भी सुधार करना चाहिये या नई बनाना चाहिये।

४-धर्मसंस्था की अभी आवश्यकता है। उसको मिटाने की कोशिश का अर्थ है उसका सुधार रोक देना, और लोगो को धर्म के अविकसित रूप में फसा देना।

५-धर्म की भीमोंसा या तरतमता का विचार करते समय धर्मसंस्था के सहज विकास तथा परिस्थितियों के विषय में उपेक्षा या भ्रम न करना चाहिये।

कुछ लोग धर्मसंस्था का इसलिए विरोध करते हैं कि वह अद्वामूलक है, पर वह भी एक भ्रम है, इस कारण से धर्म की अवहेलना नहीं की जा सकती। धर्म ही नहीं, संसार की प्रत्येक व्यवस्थित प्रवृत्ति के मूल में अद्वार रहती है। अद्वान हो तो मनुष्य प्रवृत्ति ही न करे। हा, यह बात विचारणीय है कि अद्वान का आधार क्या हो? और वह विवेक के साथ कितना ताल्लुक रखे। धर्म में जो अद्वान होती है उसके लिए यह जरूरी नहीं है कि वह विवेक के विरुद्ध हो, बल्कि बहुत से धर्म तो इस बात पर काफी जोर देते हैं कि अद्वान को विवेक के आधार पर खड़ा होना चाहिये। हा, अद्वान की आवश्यकता सभी महसूस करते हैं सो यह बात केवल धर्म में ही नहीं है, हर एक कार्य में है। एक वैज्ञानिक भी अपने निश्चित सिद्धान्तों पर अद्वान रखता है, यही बात अन्य शाखा के बारे में भी कही जा सकती है, इसलिए इसे वर्मशाख का दोष नहीं कह सकते।

हा! यह बात अवश्य है कि पुराने जमाने में धर्म के निरंतर बानों पर अद्वान करना आवश्यक था वे धर्म के विज्ञान होनेपर आवश्यक नहीं रही। जब अद्विष्य वस्तुएं उपयोगी नहीं रहती, उनसे जनकल्याण की सम्भावना नहीं रहती तब उनको धवलना पड़ता है। इसके लिये या तो धर्मों का कायाकल्प होता है या नये धर्म आजाते हैं। इसलिए धर्मों के कायाकल्प या पुनर्जन्म की बात तो कही जा सकती है पर उनका विलकुल अभाव नहीं किया जा सकता। यह बात विज्ञानादि हर एक शास्त्र के विषय में लागू है। इसलिए अगर हम इन शास्त्रों को निर्मूल करना आवश्यक नहीं समझते तो धर्मशास्त्र को भी निर्मूल करने की बात न कहना चाहिये।

कुछ लोग धर्मसंस्थाओं पर इसलिए आक्रमण करते हैं कि उनमें किसी एक व्यक्तिकी गुलामी करना पड़ती है। और बुद्धि का इस तरह गुलाम होना तो मनुष्यता की हानि करना है। इस विषय में भी लोग बड़े भ्रम में हैं। वे दिन रात के अनुभवों को भूल जाते हैं। क्या वे यह सोचते हैं कि संसार का प्रत्येक मनुष्य अपने जमाने की सब विद्या, कलाओं का सर्वज्ञ होगा, यदि नहीं तो उसे अपने विषय को छोड़कर बाकी हर विषय में किसी न किसी का विश्वास करना पड़ेगा। एक वैज्ञानिक अपने विषय में खूब परीक्षाप्रधानी हो सकता है। पर बीमार होनेपर उसे अपनी बुद्धि डाक्टर के हाथों में देना पड़ती है। राजतन्त्र में भी यही बात होती है। जब राजाओं के हाथ में सत्ता थी तब की बात छोड़ दे, हम शुद्ध राजतन्त्र की बात करते हैं जिसमें लाखों आदमी अपनी तरफ से एक प्रतिनिधि बनाकर विधानसभाओं में भेज देते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि लाखों आदमियों ने अपनी बुद्धि एक आदमी के यहाँ गिरवी रख दी। इस तरह संसार में सारी व्यवस्थाओं में विश्वास से काम लेना पड़ता है इसे अगर बुद्धि की गुलामी कहा जाय तो सारा संसार गुलाम है और उस गुलामी के बिना संसार का काम नहीं चल सकता, तब अकेले धर्मशास्त्र को कोसने में क्या होगा।

धर्मसंस्था तो राज्यसंस्था की अपेक्षा काफी उमर होती है। राज्य का कानून चाहे आपको समझ में आवे या न आवे आपको उसका पालन करना ही पड़ेगा और नहीं करेंगे तो बख्त भोगना पड़ेगा। अगर इतनी कड़ाई न हो तो राज्यसंस्था बिल्कुल निरुपयोगी होजाय पर धर्मसंस्था ऐसी किसी कड़ाई का उपयोग नहीं करती। वह समझाती है, संस्कार डालती है, और पालन करने के पहिले परीक्षा करने की छुट्टी देती है। इसमें धुंध की गुलानी कहा है ? रही एक व्यक्ति की श्रद्धा की बात, सो उसमें भी कोई अवदस्ती नहीं की जाती। वह तो बारबार की सफलता देखकर अपने आप होती है।

जब हम किसी व्यक्ति को एक विषय में निष्णात देखते हैं और उसके द्वारा अनेक दिशाओं में सफल पथप्रदर्शन देखते हैं तब उस विषय में श्रद्धा हो ही जाती है। नास्तिकता की पद पदपर दुहाई देनेवाले और धर्म का विरोध करनेवाले साम्यवादी, साम्यवाद की चर्चा में पद-पदपर मार्क्सवासी की दुहाई देते हैं, सर्वसाधारण भी विज्ञान के मामलों में अशुभ वैज्ञानिक या वैज्ञानिकों की दुहाई देते हैं। इसी तरह हर-एक क्षेत्र में असाधारण कार्य करनेवाले लोगों की दुहाई दी जाती है। यह घुम नहीं, क्योंकि हरएक आवामी हर विषय की तह तक तो पहुँच नहीं सकता इसलिए वह अपने को हर विषय का निष्णात भी नहीं मानता, इसलिए निष्णातों का या अपने से अधिक निष्णातों का मन उसके लिए मूकवान होजाता है यह बात जैसे हरएक ग्राह्य और हरएक संस्था के विषय में है उसी तरह धर्मशास्त्र और धर्मसंस्था के विषय में भी है। जब किसी वैज्ञानिक के सिद्धान्त या विचार युग के अनुरूप नहीं रहते तो उसके नाम की ज़ाह भी ध्वंश होजाती है, उसी तरह किसी धर्म-तीर्थंकर या धर्माचार्य के विचार युग के अनुरूप नहीं रहते तब उसकी दुहाई ध्वंश होजाती है।

तब नये तीर्थंकर और नये धर्माचार्य सामने आजाते हैं।

बात यह है कि सत्य की शोध प्रजातन्त्र के आधार से नहीं होती, वह तो किसी ऐसे कान्ति-कार के जरिये होती है जो जनमत की पर्वाह नहीं करता, जनहित की पर्वाह करता है। जनमत तो शुरु शुरु में उसके विरोध में ही खड़ा होता है। अच्छे अच्छे वैज्ञानिकों के विषय में और तीर्थंकरों के विषय में यही दुआ। और अपनी सूक्ष्म दृष्टि, सत्यसाधना और कठोर तपस्या के चलपर उनमें जनमत पर विजय पाई और उसे बदल दिया। ऐसी अवस्था में यदि कभी समय तक लोग ऐसे तीर्थंकरों और वैज्ञानिकों के मत पर काफ़ी श्रद्धा रखें, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

धर्मसंस्था जीवन की चिकित्सा करने वाली एक संस्था है या यों कहना चाहिये कि जीवन का शिक्षण देने वाली एक पाठशाला है। इन स्थानों पर डाक्टर बैठ, या पाठक या मूल्य ही अधिक होता है, रोगियों या विद्यार्थियों का नहीं। हा! रोगियों को यह आश्चर्य है कि वे यदि किसी डाक्टर को अच्छा नहीं समझते तो उससे चिकित्सा न कराएँ पर यदि चिकित्सा कराना है तो अन्तिम मत डाक्टर का ही होगा। हा! डाक्टर के सामने वे अपना मत रख सकते हैं, डाक्टर उनपर विचार करेगा और अपना अन्तिम निर्णय देगा। धर्मसंस्था के विषय में भी ठीक यही बात है, तीर्थंकर या धर्माचार्य जीवन की चिकित्सा का डाक्टर है। आप उसे चुनने न चुनने में, मानने न मानने में स्वतन्त्र हैं। लेकिन चिकित्सा में अन्तिम मत उसीका है। जीवन के हरेक क्षेत्र में अशुभ व्यक्ति या व्यक्तियों को प्रधान मानकर चलना पड़ता है उसी प्रकार धर्म-संस्था में भी चलना पड़े तो उसमें छुन्न होने की कोई बात नहीं है। जासकर उस अवसर पर जब कि किसी कानून के जरिये आप पर धर्म-संस्था जबरदस्ती लायी न गई हो, आप उसे स्वीकार अस्वीकार करने में स्वतन्त्र हैं।

फिर धर्मसंस्था में किसी एक व्यक्ति की प्रधानता का नियम भी नहीं है धर्मसंस्था में ऐसे अनेक महामानव होजाते हैं, जिनके तर्कबल और अनुभवबल के कारण परम्परा की विचार-धाराएँ काफी बल जती हैं या सुधर जाती हैं। हरेक मनुष्य को इन सब की परीक्षा करके धर्मसंस्था का उपयोग करना चाहिये। अगर कोई धर्मसंस्था न जचती हो तो दूसरी ले लेना चाहिये, अगर ज्वाबा बुद्धि बैभव हो तो सुधार करना चाहिये। यदि इतने से भी काम न चले तो दूसरी संस्था खड़ी कर लेना चाहिये या करवाना चाहिये। इतनी स्वतन्त्रता के होते हुए व्यक्ति प्रधानता के कारण धर्मसंस्था मात्र का नाश नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग धर्मसंस्था का विरोध बड़े विचित्र तरीके से करते हैं। वे किसी युगवादा धर्मसंस्था से तो चिपटे रहते हैं पर युगानुकूल धर्मसंस्था का विरोध करते हैं। पर चूंकि वह समर्थ होती है इसलिये उसका विरोध कर नहीं पाते तब वे धर्मसंस्था मात्र की बुराई करने लग जाते हैं। और सबको छोड़कर युगानुरूप धर्मसंस्था का विरोध पहिले करते हैं। झौल ऐसा करते हैं कि मानों उन्हें धर्मसंस्था मात्र से विरोध है और इसीलिये वे युगानुरूप धर्मसंस्था का विरोध कर रहे हैं। उनमें इतनी हिम्मत नहीं होती कि वे यह कहें कि यह नई धर्मसंस्था असत्य है और पुरानी या हमारी धर्मसंस्था ही सत्य है। वे धम्सी हैं, हो सकता है कि उनका दम्भ इतना गहरा हो कि उन्हें भी उसका पता न लगता हो। ऐसे लोगों से जब कहा जाता है कि यदि तुम धर्मसंस्था मात्र को खराब समझते हो तो कम से कम अपनी पुगनी युगवादा धर्मसंस्था का तो पिण्ड छोड़ो तब या तो वे चुप रहजाते हैं या “हैं हे” करने लगते हैं। ऐसे लोगों का धर्मसंस्था विरोध कोई मूल्य नहीं रखता।

धर्मसंस्था के विषय में ये सब भ्रम उन

लोगों के मनमें होते हैं जिनने धर्मसंस्था के इतिहास का और उसके वास्तविक स्वरूप का ठीक विचार नहीं किया होता है इसलिये उसके विरोधी बनजाते हैं। पर कुछ लोग ऐसे हैं जो धर्म के परम समर्थक होनेपर भी कुछ भ्रमों के कारण धर्मसमभाव से दूर हट जाते हैं। उनकी धर्म-परीक्षा की कसौटी ही गलत होती है, कोई कोई अपने धर्म को इसलिये महान कहने लगजाते हैं कि उसमें त्याग का प्रदर्शन बहुत ऊँचे दर्जे का है, अनेक प्रकार के शारिरिक कष्टों का ब्रह्मण्ड खड़ा कर दिया गया है, अहिंसा की वड़ी ऊँची व्याख्या की गयी है अथवा उसका क्रियाकाण्ड विशाल है, इत्यादि। धर्मसंस्था की तरतमता जानने के लिए ये सब विचार ठीक नहीं हैं।

केवल ऊँची बातें लिखने या कहने से कोई धर्मसंस्था ऊँची नहीं होजाती जब तक कि उसकी बातें व्यवहार में उतरने लायक न हों, मनोवैज्ञानिक कसौटी पर ठीक न उतरती हों और उनके व्यवहार में आनेपर जगत की स्थिति ठीक ठीक रूप में न बनी रहती हो।

इस प्रकार धर्मों के विषय में अनेक तरह के भ्रम हैं। इन भ्रमों को दूर करने के लिये हम पांच बातों का योग्य विचार करना चाहिये।

१-धर्मशास्त्र की मर्यादा (धर्मानि रामो)

२-उचित परिवर्तन (धित्र भुरो)

३-व्यापक दृष्टि (होलेको)

४-अनुदारना के संस्कारों का त्याग। (नो-मनो धर्मो मित्रो)

५-मर्वाजता की उचित मान्यता (पुमिंगो धित्र मयो)

१-धर्मशास्त्र की मर्यादा—सभी धर्म सत्य कहिसा गील त्याग सवा आदि का उपदेश देते हैं और सभी धर्मों का प्रिय जन समाज का सशुभार मे आगे बढ़ाना है। अगर सारा जगत सशुभारी प्रेमी सेवाप्रिय हो जाय तो जगत में दुःख ही न रहे। प्राकृतिक दुःख भी घट जाय।

और जो रहे भी, वे परस्पर सेवा सहानुभूति से मालूम भी न पड़ें। धीमारी का कष्ट इतना नहीं बढ़ता जितना अकेले पड़े पड़े तड़पने का। मनुष्य दूसरे पर जो अपना बोझ लादता है अत्याचार करता है सेवा नहीं देता वही कष्ट सब से अधिक है सभी धर्म इसको हटाने का प्रयत्न करते हैं इसलिये धर्मशास्त्र का काम सिर्फ नैतिक नियम, उनके पालन का उपाय, उनके न पालने, पालने से होनेवाले हानि लाभ बताना है। अगर सभी धर्मशास्त्र इतना ही काम करते तो उनमें जो परस्पर अन्तर है वह रुपये में बागह आता घटजाता, पर आज धर्मशास्त्र में इतिहास भूगोल ज्योतिष पदार्थविज्ञान दर्शन आदि नाना शास्त्र मिल गये हैं इसलिये एक धर्म दूसरे धर्म से जुड़ा मालूम होने लगा है।

अगर तुम से कोई पूछे—ओ और ओ कितने होते हैं ? तुम कहोगे चार। फिर पूछे हिन्दू धर्म के अनुसार कितने होते हैं ? इस्लाम के अनुसार कितने होते हैं ? जैन धर्म के अनुसार कितने होते हैं ? ईसाई धर्म के अनुसार कितने होते हैं ? तो तुम कहोगे—यह क्या मन्त्राल है ? धर्मों से इसका क्या सम्बन्ध, यह तो गणित का सवाल है ? इसी प्रकार तुमसे कोई पूछे कलकत्ता से धर्मवर्ष कितनी दूर है ? गणित कितना बड़ा है और फिर उनका उत्तर हिन्दू मुसलमान आदि धर्मों की अपेक्षा चाहे तो उससे भी यही कहना होगा कि यह धर्मशास्त्र का सवाल नहीं है भूगोल का सवाल है। इसी तरह सूर्य चन्द्र तारे पृथ्वी आदि के सवाल [भूगोल ज्योतिष] युग युगान्तर के सवाल (इतिहास) द्रव्यों या पदार्थों के और आत्म-अनात्म, लोक-परलोक आदि के सवाल (विज्ञान और दर्शन) धर्मशास्त्र के विषय नहीं हैं। पर उन्हीं बातों को लेकर धर्मशास्त्रों में इतना विवेक हुआ है और सत्यताओं के दास बंधेरे में दृढ़ता के कारण इतनी मत्तमद ग्राहक कि ज्ञान मान्य होता है कि एक धर्म दूसरे धर्म से मिल ही नहीं सकता। अगर धर्मशास्त्र स्थान

का ठीक ठीक ज्ञान होजाय और धर्मशास्त्र के सिरपर लदा हुआ बोझ दूर होजाय तो धर्मों में इतना भेद ही न रहे। धर्मशास्त्र पर लदे हुए इस बोझ से बड़ी भारी हानि हुई है। धर्मों में अन्तर तो बढ़ ही गया है साथ ही इन विषयों का विकास भी रुक गया है। धर्मशास्त्र के ऊपर श्रद्धा रखना तो जरूरी था और उससे लाभ भी था पर उसमें आये हुए सभी विषयों पर श्रद्धा रखने से सभी विषयों में मनुष्य स्थिर हो गया। सदाचार आदि के नियम इतने परिवर्तनशील या विकासशील नहीं होते जितने भौतिक विज्ञान आदि। सदाचार में मनुष्य हजार वर्ष पहिले के मनुष्य से बड़ा या बहुत बड़ा नहीं है कदाचित्त घट गया है पर भौतिक विज्ञान आदि में कई गुणी तरफ़ी हुई है। अब अगर धर्मशास्त्र के साथ भौतिक विज्ञान आदि भी चलें तो जगत की बड़ी भारी हानि हो, और धार्मिक समाज प्रगति के मार्ग में बड़ा भारी अड़ंगा बन जाय, जैसा कि वह बनता रहा है और बहुत जगह आज भी बनता है। इसलिये सब से पहिली बात यह है कि धर्मशास्त्र में से दर्शन इतिहास भूगोल आदि विषय अलग कर दिये जायें। धर्मशास्त्र की मर्यादा का ध्यान रखा जाय फिर धर्मों का अन्तर बहुत मित जायगा।

प्रश्न—धर्मशास्त्र में ये विषय आये क्यों ?

उत्तर—पुण्ये समय में शिक्षण का इतना अवन्ध नहीं था। धर्मगुरु के पास ही हर एक विषय की शिक्षा लेना पड़ती थी। धर्मगुरुओं पर अवल श्रद्धा होने से हर एक विषय पर अवल श्रद्धा होने लगी। गुरु लोग भी शिक्षण के सुमार्ति के लिये धर्मशास्त्र में ही हर एक विषय स्वीकृत कर भेजने लगे इस प्रकार धर्मशास्त्र सर्व विद्या-भण्डार बन गये। शिक्षण की दृष्टि से तो उस जमाने में अवश्य सुभीता हुआ पर इन विद्याओं के विकास रुकने और धर्म-धर्म में भेद बढ़ने का सुरुसान भी काफी हुआ।

धर्मशास्त्र में इन विषयों के जाने का दूसरा कारण है धर्म के ऊपर श्रद्धा जमाने का और

लोगों की अधिक से अधिक जिज्ञासाओं को किसी तरह शान्त करने का प्रयत्न ।

धर्मग्रन्थों में नीति सदाचार का उपदेश दिया लेकिन शिष्य तो कोई भी काम करने के लिये तभी तैयार होता जब उससे सुख की आशा होती । परन्तु दुनिया का अनुभव कुछ उल्टा था । उसने कहा—दुनिया में तो दुराचारी विश्वास-घाती दम्भी लोग वैभवशाली तथा आनन्दी देखे जाते हैं और जो सच्चे त्यागी हैं परोपकारी हैं नीतिमान हैं सदाचारी हैं वे पद-पद ठोकर खाते हैं तब धर्म का पालन क्यों किया जाय ? शिष्य का यह प्रश्न निर्मूल नहीं था । शिष्य को यह समझना कठिन था कि असत्य भी सत्य की ओट में चल पाता है इसलिये सत्य मछान है ? धर्म के पालन में जो असली आनन्द है वह अधर्मी नहीं पासकता । ऐसे समाधानों से बुद्धि को थोड़ासा सन्तोष मिल सकता था पर हृदय को सन्तोष नहीं मिल सकता था । हृदय तो धर्म के फल में भीखी सुख ही नहीं, बाहरी फल भी चाहता था । जब गुरु ने कहा—हमारा जीवन पूरा नाटक नहीं है—नाटक का एक अंक है । नाटक का एक अंक देखने से पूरे नाटक का परिणाम नहीं मालूम होता । राम के नाटक में कोई सीताहरण तक खेले देखकर निर्णय करे कि पुण्य का फल गृहनिवासन और पत्नीहरण है तो उसका यह निर्णय ठीक न होगा इसी प्रकार एक जीवन से पुण्य-पाप के फल का निर्णय करना अनुचित है । धर्म का असली फल तो परलोक में मिलता है । बीज से फल आने तक जैसे महीनो और वर्षों लग जाते हैं उसी तरह पुण्यपाप फल के बीज भी वर्षों युगों और जन्म जन्मान्तरों में अपना फल देते हैं ।

इस उत्तर से शिष्य के मन का बहुतसा समाधान होगया पर जिज्ञासा और भी बढ़ गई । परलोक क्या है ? वहां कौन जाता है ? शरीर तो यहीं पड़ा रह जाता है, परलोक कैसा है फल कौन देता है ? पहिले क्या कितना कैसा फल मिला है ?

इन प्रश्नों के उत्तरों में गुरु को इश्वर स्वर्ग नरक युग युगान्तर उनके महापुरुष आदि का वर्णन करना पड़ा, इसके लिये जो कुछ तर्कसिद्ध मिल वह लिया बाकी कल्पना से भरागवा । इस प्रकार धर्मशास्त्र में बहुत से विषय आगये और उनमें कल्पना का भाग काफी होने से विभिन्नता भी हुई, क्योंकि हरेक धर्म प्रवर्तक की कल्पना एकसी नहीं हो सकती थी ।

आज हमें इतना ही समझना चाहिये कि धर्म के फल को समझने के लिये ये उदाहरण मात्र हैं । भिन्न-भिन्न धर्मों के, जुदे-जुदे वर्णों भी सिर्फ इस बात को बताते हैं कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा है ।

अगर कोई कहानी आज तथ्यहीन मालूम हो तो हमें दूसरी कहानी बना लेना चाहिये या खोज लेना चाहिये । धर्मशास्त्र में आये हुए विषयों को विज्ञान की दृष्टि से न देखना चाहिये, धर्म के स्पष्टीकरण की दृष्टि से देखना चाहिये । ईश्वर का दार्शनिक वर्णन धर्मशास्त्र के भीतर कर्मफल प्रदान के रूप में ही रहेगा । इस दृष्टि से परस्पर विरोधी वर्णनों की भी संगति बैठ जायगी ।

प्रश्न—इतिहास आदि को धर्मशास्त्र का अंग न माना जाय तो भले ही न माना जाय पर दर्शनशास्त्र को अगर अलग कर दिया जायगा तो धर्म की जड़ ही उखड़ जायगी । धर्म का सदाचार दुराचार का प्रदर्शन कराना तो है ही साथ ही यह बताना भी है कि वह फल कैसा मिलता है । इसके उत्तर में दर्शनशास्त्र का घट भाग आ जाता है इसीलिये दर्शन को धर्म अलग नहीं किया जा सकता ।

उत्तर—दर्शन का धर्म से कुछ विशेष सम्बन्ध अवश्य है क्योंकि धार्मिक दृष्टि से विज्ञानी व्यक्त करने वाले शास्त्र को दर्शनशास्त्र कहते हैं । विज्ञान और दर्शन में यही अंतर है कि विज्ञान धर्म निरोपेक्ष है और दर्शन धर्मोपेक्ष । फिर भी दो कारणों से धर्म और

अलग अलग शास्त्र है।

१-धर्म और दर्शन का कार्य और आधार भिन्न है। धर्म का कार्य जीवन शुद्धि के निश्चय या विधि विधान बनाना है। और दर्शन का कार्य विश्व की व्याख्या करना है। धर्म दर्शन का प्रेरक है पर नियन्त्रक नहीं। धर्म के ध्येय की पूर्ति के लिये दर्शन शास्त्र है इसलिये धर्म को दर्शन का प्रेरक कह सकते हैं पर दर्शन पर नियन्त्रण नहीं कर सकता है धर्म का नहीं। दर्शन यह नहीं कह सकता कि यह बात धर्मविरुद्ध है इसलिये न मानी जायगी, यह वैज्ञानिक की तरह यही कहेगा कि यह बात तर्कविरुद्ध है इसलिये नहीं मानी जायगी। यही कारण है कि कई दर्शनने प्रागम को प्रमाण तक नहीं मांगे, और जितने माना उनसे प्रत्यक्ष और तर्क को मुख्यता दी। धर्म में विवेक को स्थान होनेपर भी अन्त में श्रद्धा को आधार बनाना पड़ता है। दर्शन अन्त तक तर्क की दुहाई देता रहता है। इस प्रकार दर्शन और धर्म में काफी अन्तर है।

२-कभी कभी ऐसा होता है कि धर्म के बदल जाने पर भी दर्शन नहीं बदलता, और कभी कभी सा होता है कि दर्शन के बदल जानेपर भी धर्म नहीं बदलता। एक ही बौद्धधर्म में सौत्रान्तिक, मौर्यिक, योगाचार और माध्यमिक चार दर्शन गये। जितने विश्व के पदार्थों की व्याख्या बिल्कुल जुड़े-जुड़े ढंग से की। एक ने बाह्य पदार्थों की सत्ता मानी और एक ने नहीं मानी। कोशिका चारों की यह थी कि जीवन बौद्ध धर्म के अनुसार बने। बहुत से हिन्दू एक ही तरह का धार्मिक जीवन बिताते हैं, लेकिन भिन्न भिन्न दर्शनों को मानते हैं। यही बात मुसलमानों के बारे में है। धार्मिक जीवन में करीब करीब समानता होनेपर भी भिन्न भिन्न दर्शनों की उत्पत्ति उसमें हुई। उनमें पदार्थवादी दर्शन भी आया और द्वैत दर्शन भी आया। इससे पता लगता है कि दर्शन के बदलजाने या भिन्न-भिन्न होनेपर भी धर्म एक हो सकता है।

पाज का एक हिन्दू दर्शनशास्त्र में चाहे कोई एक प्राचीन वैदिक दर्शन माने पर पुराने धर्म से वह बहुत दूर होगया है। पुराने युग के परशुमन्त्र, मासभक्षण, मानव में देवत्व की अमान्यता (वैदिक युग में आज के राम कृष्ण आदि गतिविधियों को परमात्मा के रूप में नहीं पूजा जाता था) मूर्ति की अपूजा (आज की मूर्तिपूजा भी उस समय नहीं थी, अग्नि सूर्य आदि की ही उपासना की जाती थी) आदि बहुतसी बातें छोड़ चुका है धर्म का रूप बहुत कुछ बदल गया है पर दर्शन अभी भी वही है।

इससे पता लगता है कि धर्म और दर्शन एक दूसरे के साथ बंधे हुए नहीं हैं। एक ही दर्शनशास्त्र से धर्म भी निकल सकता है और अधर्म भी निकल सकता है। इसलिये दर्शन को धर्म का अंग न बनाना चाहिये उसमें भेद से धर्म से भेद न मानना चाहिये, दर्शन की असत्यता से धर्म में असत्यता न मानना चाहिये। इससे धर्मों में भिन्नता का बड़ा कारण दूर हो जायगा। यही दर्शनशास्त्र के परस्पर विरोधी भिन्न भिन्न सिद्धांतों का धार्मिक दृष्टि से कैंसा सदुपयोग दुरुपयोग किया जा सकता है इसका विवेचन किया जाता है।

ईश्वरवाद—(पशुवादी) जगत का सृष्टा या नियन्ता कोई एक आत्मा है जो पुण्य-पाप का फल देता है यह ईश्वरवाद है। कर्मफल दाता नियन्ता सृष्टा कोई एक आत्मा नहीं है यह अनीश्वरवाद है। दर्शन शास्त्र की दृष्टि से इन दोनों में से कोई एक सच्चा है। पर धर्मशास्त्र दोनों को सच्चा और दोनों को झूठा कर सकता है। धर्मशास्त्र की दृष्टि में ईश्वरवाद को सचाई यह है कि हमारे पुण्य पाप निरर्थक नहीं हैं। अगर हम जगत के कल्याण के लिये दिनरात परिश्रम करते हैं फिर भी जगत हमारी अवहेलना करता है तो हमारा यह गुप्त पुण्य व्यर्थ न जायगा क्योंकि जगत देखे या न देखे पर ईश्वर अवश्य देवता है। इसलिये वह अवश्य किसी न किसी रूप में

मरकल देगा। इसी प्रकार अगर हम कोई पाप करते हैं पर दुनिया की धार में पूरा मंजूर कर उससे अपराध से बचे रहते हैं तो भी वह पाप निरर्थक न जायगा क्योंकि ईश्वर की आंखों में धूँल नहीं मोहोती जामकनी, वह पाप का फल कभी न कभी यत्न देगा। इस प्रकार गुप्त पाप से भी भय और गुप्त पुरा स भी सन्तोष पैदा होना ईश्वरवाद का फल है। ईसा ईश्वरवाद धर्म की दृष्टि में सत्य है, भले जो ईश्वर हो या न हो प्रत्यक्ष सिद्ध होता हो या न होता हो। पर अगर ईश्वरवाद का यह अर्थ है कि ईश्वर ब्यालु है प्राकृतिक शक्तों से कुछ होंगे पर वह पाप माफ़ कर देता है इसलिये पाप की चिन्ता न करना चाहिये ईश्वर को खुश करने की चिन्ता करना चाहिये तो यह ईश्वरवाद धर्मशास्त्र की दृष्टि में मिथ्या है भले ही दर्शनशास्त्र ईश्वरवाद को सिद्ध कर देता हो।

इसी प्रकार अनीश्वरवाद के विषय में भी है। अगर अनीश्वरवाद का यह अर्थ है कि ईश्वर युक्ति तर्क से सिद्ध नहीं होता पुरख पाप फल की व्यवस्था प्राकृतिक नियम के अनुसार ही होती है, जैसे छुपकर भी बिप खाया जाय और उससे अपराध की क्षमा वाचना की जाय तो विप के ऊपर इसका कुछ प्रभाव न पड़ेगा, विप खान का निश्चित ब्रह्म प्राकृतिक नियम के अनुसार मिलेगा, इसी प्रकार हम जो पाप करते हैं उस का फल भी प्राकृतिक नियम के अनुसार अवश्य मिलता है तो इस प्रकार का अनीश्वरवाद धर्मवाद तर्क सिद्ध हो या न हो धर्मशास्त्र की दृष्टि में सत्य है। पर अगर अनीश्वरवाद का अर्थ पुरख पाप के फल की अन्वयवस्था है इसलिये किसी न किसी तरह अपना स्वार्थ सिद्ध करना जीवन का ध्येय है सामूहिक स्वार्थ की या नैतिक नियमों की पूर्वाह्न करना व्यर्थ है तो इस प्रकार का अनीश्वरवाद तर्क सिद्ध भी हो तो भी धर्मशास्त्र की दृष्टि में मिथ्या है। इस प्रकार धर्मशास्त्र ईश्वरवाद सम्बन्धी दार्शनिक चर्चा का उपयोग करके भी

उससे भिन्न है क्योंकि दार्शनिक पद्धति से सिद्ध किये हुए ईश्वरवाद अनीश्वरवाद की उसे पूर्वाह्न नहीं है। उसकी दृष्टि स्वतन्त्र है।

परलोकवाद या आत्मवाद (इन्द्रवाद) — आत्मा तो हर एक मानता है पर आत्मा कोई भूलबस्तु [नत्व] है या नहीं, इसी पर विवाद है। आत्मा को नित्य मानने से परलोक तो सिद्ध हो ही जाता है क्योंकि आत्मा जब नित्य है तब भरण के बाद कहीं न कहीं जायगा और कहीं न कहीं से मरकर आ गी होगा वही परलोक है। वयपि आत्मा को अनित्य या अतत्त्व मानकर भी परलोक बन सकता है पर धर्म की दृष्टि में इससे कोई अन्तर नहीं होता। जैसे पानी 'प्राक्सिजन' आदि के संयोग से बना है फिर भी उसका यह रासायनिक आकर्मण भाग बनने पर भी नहीं टूटता, इस प्रकार संयोगज होनेपर भी भाग और पानी के रूप में अनेक बार पुनर्जन्म करता रहता है उसी प्रकार आत्मा संयोगज होकर भी पुनर्जन्म कर सकता है। इस प्रकार आत्मवाद और परलोकवाद में अन्तर है। आत्मवाद आत्मा को नित्य सिद्ध करता है और परलोकवाद आत्मा को अनेक भवस्थायी सिद्ध करता है। पर इन दोनों का धर्मशास्त्र में एकसा उपयोग है क्योंकि धर्मशास्त्र आत्मा की नित्यता और परलोक से एक ही बात सिद्ध करना चाहता है कि पुरख पाप का फल इस जन्म में यदि न मिल सके तो परजन्म में अवश्य मिलेगा पुरख पाप व्यर्थ नहीं जायगा। यह बात आत्मवाद और परलोकवाद में एक सरीखी है। दर्शनशास्त्र अगर अपनी युक्तिशे से परलोक या आत्मा का खसटन भी करदे तो भी पुरखपाप फल की दृष्टि से धर्मशास्त्र परलोक या आत्मवाद को सत्य मानेगा।

यदि आत्मवाद का यह अर्थ हो कि आत्मा तो अमर है किसी की हत्या कर देने पर भी

आत्मा मर नहीं सकता इसलिये हिंसा अहिंसा का विचार व्यर्थ है, ऐसी हालत में दर्शनशास्त्र की दृष्टि में आत्मवाद सत्य होने पर भी धर्मशास्त्र की दृष्टि में असत्य हो जायगा। आत्मवाद के विषय में दर्शनशास्त्र बलवत्ता रहे तो भी धर्मशास्त्र न बदलेगा उसकी दृष्टि पुनर्वाप की सार्थकता पर है। यही आत्मवाद के विषय में धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र की जुड़ाई है।

सर्वज्ञवाद (पुर्निगवादी)—सर्वज्ञ हो सकना है या नहीं, या हो सकता है तो कैसा हो सकता है दर्शनशास्त्र के इस विषय में अनेक मत हो सकते हैं और हैं, पर धर्मशास्त्र को इससे कोई मतलब नहीं। धर्मशास्त्र तो सिर्फ वही चाहता है कि मनुष्य नैतिक नियमों पर पूर्ण विश्वास करे और तदनुसार चले। अब इसके लिये बहुउद्देशी सर्वज्ञ माना जाय या श्रेष्ठ विद्वान् सर्वज्ञ माना जाय, धर्मशास्त्र इसमें कुछ आपत्ति न करेगा। सिर्फ सर्वज्ञता के उस रूप पर आपत्ति करेगा जो धर्मसमभाव का विधातक है और विश्वास का रोकनेवाला है। इस सर्वज्ञवाद के विषय में दर्शनशास्त्र परस्पर में जितना विरोधी है उतना धर्मशास्त्र नहीं है। कोई सर्वज्ञ माने या न माने यदि नैतिक नियमों की प्रामाणिकता में उसका विश्वास है तो धर्मशास्त्र की दृष्टि से उसने सर्वज्ञ विषयक सत्य पा लिया। पर दर्शनशास्त्र हम बात पर उपेक्षा करता है। वह तो सर्वज्ञता के रूप का तथ्य जानना चाहता है। यही इन दोनों में अन्तर है।

मुक्तिवाद (जिज्ञासुवाद)—मुक्तिवाद के विषय में भी दर्शनशास्त्र में अनेक मत हैं। कोई मानता है मुक्ति में आत्मा अनन्त ज्ञान अनन्त सुख में लीन अनन्त काल तक रहता है, कोई कहता है वहाँ ज्ञान और सुख नहीं रहता उसके विशेष गुण नष्ट हो जाते हैं, कोई कहता है मुक्ति में आत्मा का नाश हो जाता है, कोई कहता है वहाँ विना इन्द्रियों के सब भोगों को भोगता है, कोई

कहता है उसका पृथक् अस्तित्व मित जाता है, कोई कहता है सदा के लिये ईश्वर के पास पहुँच जाता है, कोई कहता है मुक्ति नित्य नहीं है जीव वहाँ से लौट आता है, इस प्रकार नामा मत हैं। धर्मशास्त्र इस विषय में विलकुल तटस्थ है। धर्मशास्त्र के लिये तो स्वर्ग नरक मोक्ष आदि का इतना ही अर्थ है कि पुण्य-पाप अण्डे-बुरे कार्यों का फल अवश्य मिलता है। जिसने इस बात पर विश्वास कर लिया फिर मुक्ति पर विश्वास किया या न किया, उसको धर्मशास्त्र मिथ्या नहीं कहता।

प्रश्न—अगर मुक्ति न मानी जाय तो मनुष्य धर्म क्या करेगा? मुक्ति हो या न हो, पर मुक्ति का आकर्षण तो नष्ट न होना चाहिये।

उत्तर—मुक्ति पर विश्वास होना उचित है उसमें कोई दुराई नहीं है, पर इसके लिये बुद्धि के हाथों में श्वकड़ी नहीं डाली जासकती, बुद्धि तो अपना काम करेगी ही, इसलिये अगर किसी को मुक्ति तर्क-संगत न मानता हुई तो इसीलिये उसे धर्म न छोड़ देना चाहिये, न छोड़ने की जरूरत है। स्वर्ग की मान्यता से भी या परलोक की मान्यता से भी धर्म के लिये आकर्षण रह सकता है।

प्रश्न—परिमित सुख की आशा में मनुष्य जीवतोत्सर्ग क्यों करेगा?

उत्तर—मनुष्य सरीखा हिसाबी प्राणी दिन-रात जितने लाभ से सन्तुष्ट रहता है स्वर्ग में उससे कहीं अधिक लाभ है। मनुष्य यह जानता है कि कच्छी रोटी खाने पर भी श्यामको फिर भूख लगेगी फिर भी रोटी खाता है और उस रोटी के लिये दुनिया मर की विपदा मोल लेता है। मनुष्य दिनगण फोल्कू के बैन की तरह घर और बाजार में चक्कर काटता है और सब तरह की परेशानियों उठाता है तब वह स्वर्ग के लिये नष्ट हठ क्यों बैठ जायगा कि मैं तो अभी धर्म करूँगा अब मुझे मोक्ष मिलेगा, स्वर्ग के

लिये मैं कुछ नहीं करता। सच तो यह है कि जो तत्त्वदर्शी है उसको सदाचार का फल दू देने के लिये स्वर्ग-मोक्ष की भी जरूरत नहीं होती, वह तो सदाचार का सुफल यहाँ देख लेता है, जब बाहर नहीं दिखाई देता तब भीतर देख लेता है। और जो तत्त्वदर्शी नहीं है वह मोक्ष के आनन्द को समझ ही नहीं सकता। उसे स्वर्ग और मोक्ष में से किसी एक चीज को चुनने को कहा जाय तो वह स्वर्ग ही चुनेगा। हाँ, मोक्ष के अर्थ को ठीक न समझकर साम्प्रदायिक धारण के मारे कुछ भी कहे। मतलब यह है कि मुक्ति के न मानने से भी सदाचार का आकर्षण नष्ट नहीं होता इसलिये धर्मशास्त्र मुक्ति के विषय में तटस्थ है।

द्वैताद्वैत (अक्रोक्तो) - द्वैत का अर्थ है जगत दो या दो से अधिक तत्वों से बना हुआ है। जैसे पुरुष और प्रकृति, जीव पुद्गल धर्म प्रधर्म काल आकाश, पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा आत्मा मन आदि। ये सब द्वैतवाद हैं। अद्वैत का अर्थ है जगत का मूल एक है जैसे ब्रह्म। दर्शनशास्त्र को यह गुथी अभी तक नहीं सुलझी। भौतिक विज्ञान भी इस विषय में काफी प्रयत्न कर रहा है। बहुत से वैज्ञानिक मोचने लगे हैं कि तत्व जानने नहीं हैं एक है फिर भले ही वह ईश्वर हो या और कुछ। अद्वैत की मान्यता में मूल तत्व चेतन है या अचेतन, यह प्रश्न ही व्यर्थ है। चेतन का अर्थ अगर ज्ञान-जानना-विचार करना आदि है तो उस मूल अवस्था में वह सब असंभव है इसलिये अद्वैत की मान्यता में मूलतत्त्व अचेतन ही रहेगा। अथवा बीजरूप में चेतन और अचेतन दोनों ही उसमें मौजूद हैं इसलिये उसे चैतन्याचैतन्याशील कह सकते हैं। द्वैत अद्वैत की यह समस्या सरलता से नहीं सुलझ सकती, पर धर्मशास्त्र को इसकी जरा भी चिन्ता नहीं है। यह समस्या सुलझ जाय तो धर्मशास्त्र का कुछ लाभ नहीं और न सुलझे तो कुछ हानि नहीं। जगत मूल में एक

हो या दो, सदाचार की आवश्यकता और रूप में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। अगर जगत मूल में एक है तो इसका यह अर्थ नहीं कि हम किसी को समाचा मारे तो उसे न लगेगा अथवा हमें ही लगेगा। द्वैत हो या अद्वैत, हिंसा-अहिंसा आदि विवेक उसी तरह रखना होगा जैसा आज रखा जाता है। इसलिये द्वैत-अद्वैत के दार्शनिक प्रश्न का धर्मशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। द्वैत या अद्वैत मानने से मनुष्य धर्मशास्त्र सम्बन्धित आस्तिक और ईमानदार नहीं बनता।

हां, द्वैत या अद्वैत जो कुछ भी बुद्धि को जंच जाय उसका उपयोग धर्मशास्त्र अच्छी तरह कर सकता है। अद्वैत का उपयोग धर्मशास्त्र में विश्वप्रेम के रूप में हो सकता है। द्वैत का उपयोग आत्मा और शरीर को भिन्न मानकर शारीरिक सुखों को गौण धनाने में किया जा सकता है।

दर्शन के दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त धर्मशास्त्र में एक सरीसे उपयोगी हो सकते हैं और सत्य अहिंसा की पूजा के काम में आ सकते हैं यह धर्मशास्त्र से दर्शनशास्त्र की भिन्नता का सूचक है।

नित्यानित्यवाद (पुलोडुलोषादो) - वस्तु नित्य है या अनित्य, यह वाद भी धर्म के लिये निरुपयोगी है। अगर नित्यवाद सत्य है तो भी हत्या करना हिंसा है। अगर अनित्यवाद या क्षणिकवाद सत्य है तो भी यह कहकर खून न नही किया जा सकता कि वह तो दूर समय न हो रहा था मैंने उसका खून किया तो क्या बुराया, इसलिये नित्यवाद अनित्यवाद का आत्म शुद्धि या सदाचार के साथ कोई सम्बन्ध नष्ट रहता। हाँ, भावना के रूप में दोनों का उपयोग किया जा सकता है। नित्यवाद से हम अमर के अमरत्व की भावना से मृत्यु से निर्भय हो सकते हैं और अनित्यवाद से भोगों की या अ की क्षणभंगुरता के कारण इससे निर्मोह हो ५

हैं। इस प्रकार धर्मशास्त्र तो नित्यवाद का और अतिनित्यवाद का समान रूप में उपयोग करता है। दर्शनशास्त्र भले ही नित्यवाद या अतिनित्यवाद में से किसी एक को मिथ्या कहे परन्तु धर्मशास्त्र दोनों का सत्य के समान उपयोग करेगा, वह धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र का भेद है।

इस प्रकार धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र आदि को अलग कर देने से, अर्थात् धर्मशास्त्र के सत्य को दर्शनशास्त्र या अन्य किसी शास्त्र के सत्य पर अवलम्बित न करने से धर्मों का पारस्परिक विरोध बहुत शान्त हो जाता है। इसलिये धर्मशास्त्र का स्थान समझलेना चाहिये। और इस विषय का भ्रम दूर कर देना चाहिये।

प्रश्न—धर्मशास्त्र का स्थान समझ लेने से दर्शनशास्त्र तथा और दूसरे शास्त्रों से सम्बन्ध रखनवाले फगड़े अवश्य शान्त हो जायेंगे, पर धर्मों में इतना ही विरोध नहीं है। प्रवृत्ति निर्वाच, हिंसा अहिंसा, बर्षा कवर्षा तथा और भी अन्धकार शास्त्र सम्बन्धी भेद हैं। इन बातों में प्रायः सभी परस्पर विरुद्ध हैं तब धर्मसमभाव कैसे रह सकता है ?

उत्तर—इन बातोंको लेकर जो धर्मों में विरोध मालूम होता है उसका कारण है उचित परिवर्तन का अभाव और व्यापक दृष्टि की कमी। पहिले धर्म-विरोध-भ्रम हटाने के पांच कारण बताये हैं उनमें से दूसरे तीसरे के अभाव से आचार-विप-
क भ्रम होते हैं।

२-उचित परिवर्तन—खुद के अनुसार जैसे हमने अपने रहन-सहन भोजन आदि में कुछ परिवर्तन करना पड़ता है उसी प्रकार देशकाल बदलने पर सामाजिक विधानों में परिवर्तन करना पड़ता है। इसलिये एक जमाने में जो विधान सत्य होता है दूसरे जमाने में वही विधान असत्य बन जाता है इसलिये एक जमाने का धर्म दूसरे जमाने के धर्म से अलग हो जाता है। परन्तु अपने अपने समय में दोनों ही समाज के लिये

हितकारी होते हैं। जो लोग परिवर्तन के इस धर्म को समझ गते हैं उन्हें धर्मों में विरोध नहीं मालूम होता वे परस्पर विरुद्ध मालूम होनेवाले आचारों में समन्वय करके उनसे लाभ उठा सकते हैं। परन्तु जो परिवर्तन पर उपेक्षा करते हैं उन्हें इस बात में विरोध ही नजर आता है, वे इस विषय में विपत्ति और विरोध के अन्तर को ही नहीं समझते। विपत्ति तो नर और नारी में भी काफी है पर इससे उनमें विरोध सिद्ध नहीं होता। व्यवहार की यह साधारण बात धर्म के विषय में भी अगर काम में लाई जाय तो सुचारु और उदार बनने के मार्ग में कठिनाई न रहे।

एक जमाने में समाज की आर्थिक व्यवस्था के लिये वर्ण-व्यवस्था की जरूरत पड़ी तो धर्म में वर्ण-व्यवस्था को स्थान मिल गया उससे समाज ने काफी लाभ उठाया, लोग आजीविका की विन्ता से मुक्त हो गये, परन्तु इसके बाद वर्ण-व्यवस्था ने जानीबूझ का रूप धारण करके स्नान-पात-विवाहादि सम्बन्धमें अनुचित श्रावणों डालना शुरू कर दिया, जाति के कारण गुणहीनों की पूजा होने लगी, उनके अधिष्ठानों से गुणी और निरपराध पिस्तने लगे, तब वर्ण-व्यवस्था को नष्ट कर देने की आवश्यकता हुई। इस समयानुसार परिवर्तन में विरोध किस बात का ? वैदिक धर्म की वर्ण-व्यवस्था और जैनधर्म का वर्ण-व्यवस्था-विरोध, ये दोनों ही अपने अपने समय में समाज के लिये कल्याणकारी रहे हैं। इसलिये धर्म-सम-भावी को उचित परिवर्तन के लिये सदा तैयार रहना चाहिये और परिवर्तन पर उपेक्षा कभी न करना चाहिये।

३ विद्याल दृष्टि—दृष्टि की विकलता या सङ्कुचितता से किसी चीज का पूरा रूप या पर्याप्त-रूप नहीं दिखता, इसी से हिंसा अहिंसा और प्रवृत्ति निर्वाच के विरोध पैदा होते हैं। सभी धर्म अहिंसा के प्रचारक हैं परन्तु अहिंसा का पूर्णरूप हर एक प्राणमें नहीं पाससकता और न हर समय अहिंसा का वास्तविक एकसा होता है। इस-

पहिली कक्षा पढ़ाने वाला और चौथी कक्षा पढ़ाने वाला, ये दोनों समान योग्यता रखकर भी कक्षा के छात्रों की योग्यता के अनुसार ऊँचा-नीचा कोर्स पढ़ावेगे। इसी प्रकार दो धर्मों के संस्थापक समान योग्यता रखकर भी परिस्थिति के अनुसार ऊँचा-नीचा कोर्स पढ़ावेगे। यह बहुत सम्भव है कि हजरत मुहम्मद अगर कोई हजार वर्ष पहिले भारतवर्ष में पैदा होते तो महात्मा महावीर और महात्मा बुद्ध से बहुत कुछ मिलते जुलते होते। और महात्मा महावीर या महात्मा बुद्ध छेड़ हजार वर्ष पहिले अरब में पैदा होते तो हजरत मुहम्मद स मिलत जुलते होते। इसलिये धर्म संस्थाओं की तुलना स धर्म संस्थापकों की तुलना न करना चाहिये।

पाचवी बात यह है कि सभी धर्म अपूर्ण हैं अथवा यद कहना चाहिये कि ये असुरक्षित दृष्टिकोण व्यक्ति के लिये पूर्ण हैं इसलिये किसी युग में सभी धर्म समाप्त पालनीय नहीं हो सकते। उनमें से अनावश्यक धर्म निकाल देना चाहिये। या गौण करना चाहिये। और आवश्यक धर्म जोड़ देना चाहिये।

जैसे-हिन्दू धर्म की वर्णव्यवस्था आज विच्छिन्न होगई है, वह सुर्ग होकर सड़ रही है, उसे या तो मूल के रूप में लाना चाहिये या नष्ट कर देना चाहिये। इस समय नष्ट करना ही सम्भव है इसलिये वही करना चाहिये। वर्णव्यवस्था नष्ट हो जाने से शूद्राधिकार की समस्या हल हो जावगी। रही स्त्रियों की बात, सो हिन्दू शास्त्रों में नारी के अधिकारों में जो कमी है वह पूरी करना चाहिये। जैन धर्म की साधु संस्था आज अन्नग्रहार्थ या निहारयोगी हो गई है, आज ऐसी परमन्त निवृत्तिमय साधु संस्था शुनप्रवृत्तिमय होकर पाप बन गई है उसे नष्ट करना चाहिये और साधुयोग के स्थान में कर्मयोग को मुखरता देना चाहिये। बौद्ध धर्म में अहिंसा का रूप विकृत हो गया है चतुर्मास-भजन का विधान दूर करना

चाहिये। सांख्य-भक्त्या-निपेय को जोरदार बताना चाहिये। महायान सम्प्रदाय के द्वारा आये हुए अनेक कलित दैव-देवी दूर होनी चाहिये। ईसाई धर्म का पोपहम तो नष्ट हो ही चुका है। वाइबिल में ऐसे अधिक विधि-विधान नहीं हैं जिनपर कुछ विशेष कहा जा सके। जो अव्यवहार्य बातें थी वे सब तोड़ी जा चुकी हैं वरिष्ठ उनकी प्रतिक्रिया हो चुकी है। धनिया की स्वर्ग में प्रवेश न मिलने की बात की प्रतिक्रिया आत भग्नकर सांन्यासवाद के रूप में हो रही है। इन सब से सुधार होने की जरूरत है। और जो वाइबिल में नैतिक उपदेश है वह ठीक है। महात्मा ईसा के जीवन में जो अतिशुद्धा की कल्पना है वह जाना चाहिये। अन्य धर्मों में भी यह बीमारी है वह वहाँ से भी जाना चाहिये। सांख्य-भक्त्या आदि का जो कम प्रासङ्गिक है वह कुछ अधिक होना चाहिये इसलिये मे जो पश्चिमी आधुनिक विधान है जो उस समय अधिक हिंसा रोक्ने के लिये बनाये गये थे वे आज अनुचित हैं मूर्तिपूजा का विरोध भी अब आवश्यक नहीं है व सुधार कर लेना चाहिये।

ये तो नमूने हैं सुधार करने की सब तरह काफी जरूरत है। इसलिये धर्मों की पालनीयता सब में समान नहीं है। पर सब में इतनी समानता जरूर है कि देशभक्त के अनुसार उनमें सुधार कर लिया जाय और उनकी नीति व्यापक और उदार बनाई जाय।

इन पाँच बातों का विचार कर लेने पर धर्मों की तरतमता पर दृष्टि न जायगी और तरतमता के नाम से पैदा होतवाला मद् दूर होजा-यगा। सभी धर्मों में भगवती इतिहास की छत्र छाया दिख पड़ेगी। यह दृष्टि की विरलता का ही परिणाम है कि हमें सब धर्मों में विराजमान भगवती इतिहास के दर्शन नहीं होते।

दृष्टि की विरलता के कारण प्रवृत्ति निवृत्ति आदि का रहस्य समझ में नहीं आता है। अन्यथा सभी धर्मों में पाप से निवृत्ति और विश्व-

कल्याण में प्रवृत्ति का विधान है। साधु-संस्था आदि के रूप में कहीं निवृत्ति धानता या वृत्त-प्रधानता पाई जाती है वह देशज्ञान के अनुसार थी उसमें राज के देशज्ञान के अनुसार सुधार कर लेना चाहिये। मूर्तिपूजा अमूर्तिपूजा आदि का विरोध भी दृष्टि की विकलता का परिणाम है। साधारणतः मूर्तिपूजा किसी न किसी रूप में रहती ही है उनके किसी एक रूप का विरोध देशज्ञान को देखकर करना पड़ता है, जैसे इस्लाम को कफ़र पड़ा। देवदेविया की मूर्तियों दलबन्दी का कारण था। इसलिये वे हटा दी गईं। पर मर्यादा की पवित्रता, अमृत पत्थर का आदर (जो कि एक तरह का मूर्तिपूजा है) रहा, क्योंकि इससे दलबन्दी नहीं होती थी यत्न एकता होती थी। मूर्तिपूजा के अमृत रूप के विरोध को देखकर किसी धर्म को मूर्तिपूजा का विरोधी समझ लेना व्यापक दृष्टि के अभाव का परिणाम है।

यों भ्रष्टोपम धर्मों को छोड़कर किसी धर्म में मूर्ति की पूजा नहीं की जाती, सब में मूर्ति के द्वारा किसी भगवान की या आदर्श की पूजा की जाती है। जहाँ मूर्ति के द्वारा प्रभु का गुणगान किया जाता है मूर्ति का गुणगान नहीं किया जाता, वहाँ मूर्ति की पूजा नहीं कही जा सकती मूर्ति का अवलम्बन ही कहा जा सकता है अवलम्बन लेने में कोई बुराई नहीं है। मूर्ति पूजा का विरोध करने वाला सुखलुमान भी मसजिद का अवलम्बन लेता है, उसके विषय में मन में आदर भी रखता है, किन्तु की तरफ मुँह करके ही नमाज पढ़ता है, यह सब मूर्ति अवलम्बन है। दूसरे धर्मों में भी मूर्ति अवलम्बन पाया जाता है। हा! पुगने जमाने में जहाँ भ्रष्टोपम तीर्थों के कारण मूर्ति की पूजा की जाती थी और उससे अनेक अनर्थ भी होते थे, उसे रोकने के लिये मूर्ति के उपयोग का निषेध किया गया, जैसे इस्लाम ने किया यह उस जमाने को देखते हुए ठीक ही था। पर आजकल मूर्ति का जो अवलम्बन है, जो इस्लाम सखे मूर्तिपूजा विरोधी

धर्म में भी पाया जाता है वह उचित और अमृत अंश में आवश्यक है। मूर्ति की पूजा का निषेध और मूर्ति के द्वारा पूजा (मूर्ति अवलम्बन) के विधान इन दोनों में स्पष्ट हुआ है—

मूर्ति-अमूर्ति विरोध क्या दोनों सद्व्यवहार।
दोनों का उपयोग है रुचि अवसर अनुसार ॥
‘मूर्ति बिना पूजा नहीं यह कहते नादान।
मूर्ति में न भगवान है मन में है भगवान ॥
समझ रहे जो भूल से पत्थर को भगवान।
उनकी पूजा व्यर्थ है वे भोले नादान ॥
अतिशय माना मूर्ति में किया मूर्ति गुणगान।
तो पत्थर पूजा हुई दिख न सका भगवान ॥
है न मूर्ति की प्रार्थना है प्रभु का गुणगान।
प्रभु को पढ़ने के लिये है यह ग्रन्थ समान ॥
जिसे प्रपन्न भी पढ़ सकें सा है यह ग्रन्थ।
बाल बृद्ध सब के लिये सरल मूर्ति का पंथ ॥
मूर्ति की न पूजा हुई हुआ देव गुणगान।
अवलम्बन ले मूर्ति का पूजलिया भगवान ॥

इस प्रकार विशाल दृष्टि से काम लिया जाय तो धर्मों में विरोध का भ्रम दूर हो जाय।

४ अनुदागता के संस्कारों का त्याग—समभाव में बाधा डालनेवाले कारणों में चौ। कारण है अनुदागता के संस्कार। हमारा धर्म ही सच्चा है बाकी सब धर्म झूठे हैं मिथ्यात्व हैं नास्तिक हैं इस प्रकार के संस्कार वात्स्यायन्या से ही डाले जाते हैं इसका फल यह होता है कि उसे अपनी हरणक बात में सच्चाई ही सच्चाई दिखाई देने लगती है और दूसरे की बातों में बुद्धि ही बुराई। हिन्दू सोचता है नमाज भी कोई प्रार्थना है। न कोई स्वर संगीत न कोई अकर्णण। मुसलमान सोचता है गलाफाड़ फाड़ कर चिल्लाना भी क्या कोई प्रार्थना है। एक पूर्ण दिशा की बुद्धि करता है एक पश्चिम की। एक संस्कृत की बुद्धि करता है एक अरबी की। कुसंस्कारों के कारण वह यह नहीं सोच सकता कि कभी किसी को स्वर संगीत की जरूरत होती है कभी शान्ति और

की। जिसकी जैसी कवि हो उसको उसी ढंग से काम करने देना चाहिये। खेद तो इस बात का है कि परनिष्ठा आदि के संस्कार जिसने डाले जाते हैं उनमें असली धर्म के (सत्य अहिंसा सेवा शील त्याग इमानदारी आदि के) नहीं डाले जाते। अगर असली धर्म की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित किया जाय तो सभी धर्मों में इसे असली धर्म दिखाई देने लगे। और धर्म के नाम पर हम सब से प्रेम करने लगे, एक दूसरे के घर के समान एक दूसरे के धर्मस्थानों में जाने लगे। जिस विधिबद्धता में मैं विरोध दिखाई देना है उसमें अनेक रसवाला भोजन की तरह विविधता का आनन्द आने लगे। इसलिये बालकों के ऊपर इसे ही समभावी संस्कार लागू करना चाहिये जिससे वे एकलपता के गुणाम न हो एकता के प्रेमी हों। इस ऊपर के संस्कारों से धर्मों का पारस्परिक विरोध दूर हो जायगा।

५ सर्वज्ञता की उचित मान्यता—प्रायः हर एक धर्मवादी ने यह मान लिया है कि हमारे धर्म का प्रयोग सर्वज्ञ था। किसी ने मनुष्य को सर्वज्ञ माना, किसी ने ईश्वर को सर्वज्ञ मानकर अपने धर्म की जड़ बना ली। किसी ने अपने धर्म को अपौरुषेय—प्राकृतिक—जादवी प्राणिमात्र की शक्ति से परे बताया। जतन यह कि प्रायः हर एक धर्म का अनुयायी यह गवा करता है कि वो कुछ जानने या था वह सब जानता था। उससे अधिक जानना नही जासकता। इससे अधिक जानने का जो दावा करते हैं वे झूठे हैं। सर्वज्ञता के इन उचित रूप ने सुगम और विकास का रास्ता तो घन्ट कर ही दिया। साथ ही अपने ही धर्म के समान अदकन्याय करनेवाले अन्य धर्मों का निरस्तारण करवा, दूखा कराई।

मजिशा की मान्यता अनेक तरह की है।

१—अनन्तरात्र और अनन्त क्षेत्र के समस्त पदार्थों का अनन्तरात्र समस्त प्रत्यक्ष।

२—उपयुक्त पदार्थों का क्रम से प्रत्यक्ष।

३—किसी भी समय के किसी भी क्षेत्र के पदार्थ का इच्छानुसार प्रत्यक्ष।

४—समस्त शास्त्रों का ज्ञान

५—धर्मशास्त्र का परिपूर्ण ज्ञान।

६—अपने जमाने की सब से बड़ी विद्वत्ता।

७—लोगों की जिज्ञासा का को शान्त करने योग्य ज्ञान।

८—आत्म ज्ञान।

९ कल्याण मार्ग के लिये उपयोगी बातों का अनुभवमूलक पर्याप्त ज्ञान।

१—यह मान्यता असम्भव और अनुपकारक है। इसमें बहुतसी बाधाएँ हैं पहिली बाधा यह है कि पदार्थ की अवस्थाएँ अनन्त हैं और सबका प्रत्यक्ष करने के लिये एक अनन्त कब्र है। वा जानना जल्दी है परन्तु वस्तु की कोई निश्चय अवस्था ही नहीं है। तब उसका पूर्ण प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है। अन्तिम अवस्था जान लेने पर वस्तु का अन्त आजायगा जोकि असम्भव है। दूसरी बाधा यह है कि एक समय में एक ही उपयोग हो सकता है अगर हम इस मनुष्यों को एक साथ लें तो हमें सामान्य मनुष्यमान होगा। इसलिये अगर कोई त्रिलोक त्रिलोक का युगपत् प्रत्यक्ष करे तो उसे सब पदार्थों की मध्य अवस्थाओं में होनेवाली समानता का ज्ञान होगा। सब वस्तु और सब कब्रों का ज्ञान नहीं।

प्रश्न—बहुत से लोग एक ही समय में अनेक तरफ उपयोग लागू करते हैं। साथ ही लोग भी एक ही समय में बहुत सी चीजों का प्रत्यक्ष कर लेते हैं तब युगपत् प्रत्यक्ष में क्या आपत्ति है?

उत्तर—त्रास की एक छोटी सी मशाल अगर जोर से घुमाई जाय तो वह मशाल जितनी जगह में घुमाती उतनी जगह में सब जगह एक साथ दिखाई देगी पर एक समय में वह बहुत

है एक ही जगह। इसी प्रकार जब बहुत जल्दी-जल्दी उपयोग बदलता है तब वह ऐसा मादूम होता है मानो सब जगह एक साथ है। यह एक भ्रम है जो शीघ्रता के कारण हो जाता है।

तीसरी बात यह है कि अस्त का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जब पदार्थ किसी माध्यम के द्वारा हमारी इन्द्रिय और मन पर प्रभाव डालता है तब उसका प्रत्यक्ष होता है जो पदार्थ सट ही हो चुके या पैदा ही नहीं हुए वे क्या प्रभाव डालेंगे तब उनका प्रत्यक्ष कैसे होगा इसलिये भी त्रिज्ञान-त्रिलोक के पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

२-क्रम से प्रत्यक्ष भी असम्भव है। क्या कि अनन्त क्षेत्र और अनन्त काल का क्रम से प्रत्यक्ष किया जाय तो अनन्त काल लगा जायगा। और गुरुत्व का जीवन तो बहुत थोड़ा है। इसलिये अनन्त का क्रम से भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि क्रम से प्रत्यक्ष में पहिले जानी हुई बातों की धारणा करना पड़ती है। जब मर्यादा से अधिक धारणा की जायगी तो पुरानी ज्ञान की धारणा मिटने लगेगी। इस प्रकार क्रम से प्रत्यक्ष में न तो सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं और अगर किसी तरह जाने भी जाय तो—उनका धारण करना सम्भव है।

३-ग्रह भी असम्भव है क्योंकि अस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। बिना माध्यम के हम किसी पदार्थ को नहीं जान सकते।

४-शास्त्र रचना की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसी सर्वज्ञता सम्भव थी। श्रेय शास्त्र नाम का वृत्त इतना महान और शास्त्राग्नीष्वा-बहुल हो गया है कि उस सब को छू सकना एक मनुष्य की शक्ति के बाहर है।

पाचवें आठ तक की परिभाषाएँ सादा रखत, ठीक हैं। भूतकाल में इन परिभाषाओं का

उपयोग भी काफी हुआ है। अन्तिम अर्थात् नवमी अधिक अच्छी है। तीर्थंकर पैगम्बर आदि इसी परिभाषा के अनुसार सर्वज्ञ होते हैं। इसलिये उनके वचन काफी विश्वसनीय हैं।

इन सर्गज्ञा से सब विषयों के विरोध ज्ञान की आशा न करना चाहिये और न अन्य विषयों में इनके वचन प्रमाण मानना आवश्यक है। धर्म विषय में भी यही कहा जा सकता है कि वह अपने युग का सर्गज्ञ था। देशकाल पात्र के बदलने से जो जो परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं और भविष्य में हो जायेंगी उन सब का पूर्ण ज्ञान उसे नहीं था। इसलिये आज अगर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा होगई हैं जिसके लिये पुराने विधान काम नहीं देसकते तो हमें अपने युग के अनुकूल विधान बना लेना चाहिये, हमारे धर्मों में अगर कोई विरोध बात पाई जाती है तो उसे अपना लेना चाहिये। इस प्रकार सुधार के लिये सज तैयार रहना चाहिये। अपने धर्म को सदा के लिये परिपूर्ण न समझना चाहिये।

इन पाँच बातों पर विचार करने से धर्म विरोध दूर होजाता है।

धर्म में जीवन का सम्बन्ध संस्कृति का बहुत बड़ा भाग घेर लिया है, उसमें समन्वय या समन्वय होना ही जीवन का विकास रक्कजाना है और सहयोग भी टूट जाता है। इसलिये धर्म-समन्वय आवश्यक है।

इसका पूरा मतलब यह है कि जीवन के प्रत्येक आचार-विचार में निष्पक्षता होना चाहिये जो मेरा है वह सत्य है, इसके बदले जो सत्य है वह मेरा है, यह भावना होना चाहिये।

इसके सिवाय एक बात यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि कोई बात हमारे लिये हितकर नहीं है किन्तु दूसरा उसमें लाभ रहा है तो उससे भी सहानुभूति रखना चाहिये हम जो भाषा बोलते हैं, हम जिनप्रकार के विचार का प्रभाव करते हैं, हम जिसप्रकार

भोजन पसन्द करते हैं उसके सिवाय दूसरे प्रकारों की हँसी उड़ाना, या हँस करना ठीक नहीं। इसकी अगर आलोचना करना हो तो अपने परचे का भेद भूलकर, सुविधा-असुविधा का विचार कर, तथा अन्य हानि लाभ का विचारकर, करना चाहिये।

धर्म समभाव सब की चापलूसी नहीं है, विवेक को तिलाञ्छलि नहीं है किन्तु सब के दोषों तथा युगवाह्यताओं को दूर कर गुणों का ग्रहण है, धार्मिक अहंकार और पक्षपात का त्याग है, और निःपक्षतापूर्वक विनयपूर्ण आलोचना भी।

योगी होने के लिये यह सत्यधर्म-समभाव आवश्यक है।

गीत

मिलायें सब धर्मों का सार।

हम सब का निचोड़ लेआयें।

धर्म और विज्ञान मिलायें ॥

युगयुग की यह व्यास बुकायें, पिये पिलायें प्यार।

मिलायें सब धर्मों का सार ॥ १ ॥

सब रस मिलें सजायें धाली।

भिन्न भिन्न फूलों के साली ॥

संस्कृतियों सब बने समन्वित सुधरे लोकाचार।

मिलायें सब धर्मों का सार ॥ २ ॥

भूत भविष्य न लड़ने पायें।

वर्तमान से हिल मिलजायें ॥

देश देश की काल काल की बहे समन्वय धार।

मिलायें सब धर्मों का सार ॥ ३ ॥

मानवता का गाना गावें।

सर्वधर्म समभाव सुनायें ॥

भिन्न भिन्न हों वार किन्तु हो मिली जुली मंकीर।

मिलायें सब धर्मों का सार ॥ ४ ॥

३ जाति-समभाव (तीनों सम्भावों)

योगी का तीस। चिह्न जातिसमभाव है। हाथी घोड़ा सिंह उट आद जिस प्रकार एक एक तरह के प्राणी हैं उसी प्रकार मनुष्य भी एक तरह का प्राणी है। मनुष्य शब्द पशु शब्द की तरह नाना तरह के प्राणियों के समुदाय का वाचक नहीं है, किन्तु सिंहादि शब्दों की तरह एक ही तरह के प्राणी का वाचक है। या तो व्यक्ति व्यक्ति में भेद हुआ करता है और उन भेदों का थोड़ा बहुत वर्गीकरण भी हो सकता है परन्तु उन वर्गों को जातिभेद का कारण नहीं कह सकते। जातिभेद के लिये सहज साम्य का अभाव और आकृत की अधिक विषमता आवश्यक है। मनुष्यों में ऐसी विषमता नहीं पाई जाती और उसमें साम्यत्व स्वभाविक और सन्तानोत्पादक होता है। किसी भी जाति के पुरुष का सम्बन्ध किसी भी जाति की स्त्री से होने पर सन्तानोत्पत्ति होगी। शरीरपरिमाण आदि के अन्तर की बात दूसरी है। इससे मालूम होता है कि मनुष्यमात्र एक जाति है।

प्रायः सभी धर्मशास्त्रों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि सभी मनुष्यों की एक जाति है। आज जो इनके भेद-परभेद दिखाई देते हैं वे मौलिक नहीं हैं। बातावरण आदि के कारण पैदा होनेवाले भेद मनुष्य की एक जातीयता को नष्ट नहीं कर सकते।

वैदिक शास्त्रों में मनुष्यों को मनुसन्तान कहा है इससे उनमें एकजातीयता ही नहीं एक कौटुम्बिकता भी सिद्ध होती है। इसलाम और ईसाई धर्म के अनुसार सब मनुष्य आदम की सन्तान हैं इसलिये भी उनमें भाईचारा सिद्ध होता है। जैनशास्त्रों के भोगभूमि युग के वर्णन से मनुष्यमात्र की एक जाति की मान्यता सर्व-सम्मत मालूम होती है। इस प्रकार प्राकृतिक दृष्टि से और शास्त्रों की मान्यता से सब मनुष्यों

की एक जाति सिद्ध होती है।

इतना होने पर भी आत्र मनुष्य जाति अनेक भागों में विभक्त है। इसके कारण कुछ भी हों, परन्तु इससे जो अर्थ हो रहा है, जो विनाश हो रहा है, दुःख और अशान्ति का जो विस्तार हो रहा है, वह मनुष्य सरीखे बुद्धिमान प्राणी के लिये लज्जा की बात है। बुद्धि तो पशुओं में भी होती है, परन्तु मनुष्य की बुद्धि कुछ दूर तक की बात विचार सकती है। लेकिन इस विषय में उसकी विचारकला व्यर्थ जाती देखकर आश्चर्य और खेद होता है।

मनुष्य भी एक सामाजिक प्राणी है, बल्कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह बहुत अधिक सामाजिक है। इसलिये सहयोग और प्रेम उसमें कुछ अधिक मात्रा में और विशाल रूप में होना चाहिये। परन्तु जातिभेद की कल्पना करके मनुष्य ने सहयोग के तत्व का नाश सा कर दिया है, इसमें अन्य अनेक अन्यायों और दुःखों की सृष्टि कर डाली है। जाति की कल्पना से जो कुछ हानियाँ हुई हैं और होती हैं उनमें मुख्य मुख्य ये हैं।

१-विवाह का क्षेत्र संकुचित हो जाना है। इससे योग्य चुनाव में कठिनाई होते लगती हैं। और अल्पसंख्यक होने पर जाति का नाश हो जाता है।

२-कभी कभी जब युवक-युवती में आपस में प्रेम हो जाता है, और वह दाम्पत्य-रूप धारण करना चाहता है, तब यह जातिभेद की दीवाल उनके जीवन का नाश कर देती है। या तो उन्होने आत्महत्या करना पड़ती है अथवा वहिष्कृत जीवन व्यतीत करने से अनेक प्रकार की दुर्दशा भोगना पड़ती है।

३-जाति के नामपर घने हुए पल लड़-झगड़ कर एक दूसरे का नाश करते हैं। न लड़-चैन से बैठते हैं, न दूसरों को चैन से बैठने देते हैं।

४-जातीय पक्षपात के कारण मनुष्य अपनी जाति के अन्धकार का भी पोषण करता है, और

दूसरी जाति के न्याय का भी विरोध करता है। अन्त में न्याय के पराजय और अन्याय के विजय का जो फल हो सकता है, वह मनुष्य-जाति को ही भोगना पड़ता है।

५-विवाह होकर मनुष्य को कूपमंजूक बनना पड़ता है, क्योंकि वह घर के बाहिर निकल कर सजातीयों के अभाव से बहा दिक नहीं सकता। जब सारी जाति की जाति इस विषय में विशेष लक्ष्य करती है, तब कहीं थोड़ा-बहुत क्षेत्र बढ़ता है। परन्तु इस कार्य में शताब्दियों लग जाती हैं तथा बाहिर निकलने पर भी कूपमंजूकता दूर नहीं होता।

६-अपना क्षेत्र बढ़ाने के लिये दूसरी जातियों का नाश करना पड़ता है। इससे दोनों तरफ के मनुष्यों का नारा और धन नाश होता है तथा चिरकाल के लिये चैर बन जाता है।

७-एक ऐसा अहंकार पैदा होता है जिसे मनुष्य पाप नहीं समझता जब कि द्वेषात्मक तथा अनेक पापों का कारण होने से वह महा-पाप है।

८-ईमानदार मनुष्यों में भी जातिभेद के कारण अविश्वास रहता है। इससे सहयोग नहीं होने पाता। इससे उन्नति रुकती है। लोकोप-कारक संस्थाएँ भी पारस्परिक उपेक्षा और वैर के कारण सारहीन तथा अकिञ्चित्कार हो जाती हैं।

इस प्रकार की अनेक हानियाँ हैं। यदि जातिभेद की दुर्वास्य को नष्ट कर दिया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्यजाति के ५० का एक बड़ा भारी भाग नष्ट हो जाय। सुविधा के लिये कुटुम्बी, सम्बन्धी तथा मित्र की आवश्यकता परंपरेक व्यक्ति को होती है, उसकी रचना हुआ करे। ये सब रचनाएँ तो वै किन्न जीवन में समाजाती हैं। इनमें कोई न गत जुड़ाई नहीं है। सम्बन्ध तो चाहे जिस मनु के साथ किया जा सकता है और उसे मित्र

घनाया जा सकता है। इसलिये इसमें जन्मगत या उसके समान कटुता नहीं है और न इसका क्षेत्र इतना विज्ञान हो सकता है कि समाज को सुख करने वाला बुरा असर डाल सके।

जातिभेद की कल्पना के द्वारा अग्रणिन है अहंकार का पुजारी यह मनुष्य-प्राणी न जाने किसने दृग् से जातिभेद की पूजा किया करता है। उन सबका गिनाना तो कठिन है और उनको गिनाने की इतनी जरूरत भी नहीं है, क्योंकि जातिभेद के दूर हो जाने से उसके विविधरूप दूर हो जाते हैं। फिर भी स्पष्टता के लिये उदाहरण के तौर पर उनपर विचार कर लेना उचित है, जिससे यह मालूम हो जाय कि किस तरह का जातिभेद किस तरह की हानि कर रहा है, और उसे हटाने के लिये हमें क्या करना चाहिये।

रंग भेद (रंगों का)—जिन लोगों के बर्ण छोटा छोटा जातिभेद नहीं है, उनके बर्ण भी भूरी, पीली, काली लाल जातियों का भेद बना हुआ है। चीन और जापान पीली जाति के लोग माने जाते हैं। हममें प्रचलित एशिया के अन्य एशियाई प्रदेशों का बहुभाग तथा आफ्रिका के मूल निवासी काली जाति के माने जाते हैं। अमेरिका में भी ये लोग बसे हुए हैं। अमेरिका के मूलनिवासी लाल जाति के [रेड इंडियन] कहलाते हैं जिनका संख्या प्रबल बहुत थोड़ी है। यूरोपीय लोग, वे यूरोप में हो या अन्यत्र, भूरी जाति के लोग कहलाते हैं। यह जातिभेद व्यक्ति या प्रजाति रूप में बहुत अलग फैला हुआ है।

इसी रंगभेद की जटिलता का फल है कि एक रंगवाले लोगों में दूसरे रंग के व्यासक्त आफ्रिका के बर्ण भेद के लोगों को पशु की तरह घेरा सजाया और मौत के पाठ उपाया। कानून में इनकी हत्या का कोई दण्ड नहीं था। अभी भी यह रोग मरना नहीं है बल्कि मर चुका है फिर भी मरने का भय है और भय दूर है। आज भी वेगिनिस् अग्रणी जाति हैं आज भी रंगभेद के मध्य मानव में विभक्तता मौजूद है।

यह वर्णभेद मौलिक है, यह बात कोई सिद्ध नहीं कर सकता। जहां हम रहते हैं, वहां के जल-वायु का जो प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है, उसीसे हम काले होकर आदि बन जाते हैं। वहीं रंग सन्तान प्रति सन्तान से आगे की पीढ़ी को मिलता जाता है। परन्तु अगर जलवायु प्रतिकूल हो तो कई पीढ़ियोंमें वह विलकुल बदल जाता है। हा, इसमें सैकड़ों वर्ष अवश्य लग जाते हैं क्योंकि जलवायु का प्रभाव बाहरी होता है और माता-पिता के रक्तधर्म का प्रभाव भीतरों। परन्तु मौलिक रूप में यह रंगभेद शीत उष्ण आदि वातावरण के भेद का ही फल है। गोरी जातियों अगर गरम देशों में बस जाय तो कुछ शान्तिधर्मों के बाद वे काली हो जायगी और काली जातियाँ अगर ठंड़े देशों में बस जाय तो वे कुछ शान्तिधर्मों के बाद गोरी हो जायगी। इसलिये काले गोरे आदि भेदों से मनुष्य-जाति के टुकड़े कर डालना, न्याय की पड़ाव न करके एक रंग का दूसरे रंग पर अत्याचार करना मनुष्यता का दिवाला निकाल देना है।

मनुष्य की जो मौलिक विशेषताएँ हैं, वे सभी रंग के मनुष्यों में पाई जाती हैं। गोरे मनुष्य बालू भी होते हैं और कृहर भी ईमानदार भी होते हैं, और बेईमान भी। यही हात काते, पीला आदि का भी है। एक काला आदमी गोरे की सेवा कर, सहायता दे और दूसरा गोरा आदमी उसे घोखा दे, लूटले, तो उस गोरे को वह काला आदमी अच्छा मालूम होगा और वह गोरा बुरा। मनुष्यता की, हृदय की, न्यायकी आवाज यही है मनुष्य पशुओं तक से मित्रता रखता है। एक गोरा मनुष्य काले घोड़े से प्रेम कर सकता है, और एक काला आदमी मकेंड घोड़े से, तब रंगभेद के कारण मनुष्य मनुष्य से भी प्रेम न कर सके, वह कैसी आश्चर्यजनक सूचना है।

मनुष्य के जित पदसं नहीं जाते, उसी एक रंगवाले का प्रमुख होता है, कभी दूसरे रंगवाले का। उदाहरण के लिये हमें उदाहरण देना

मनुष्यता है उसको पीड़ा डालने की चेष्टा करना मनुष्यता का नाश है। इससे वंश परंपरा के लिये बैर ही बढ़ता है, और बारी बारी से सभी का नाश होता है। और वर्तमान में भी हम चैन से नहीं रहने पाते। ईमानदारी प्रेम आदि सुदुर्लभ ही एक दूसरे को सुख देनेवाले हैं। ये जिनमें हों उन्हें ही अपना मित्र, बन्धु और सजातीय समझना चाहिये, भले ही वे किसी भी रंग के हों। जिन में ये न हों उन्हें ही विजातीय समझना चाहिये फिर भले ही वह अपना सगा भाई ही क्यों न हो। इस प्रकार की निःपक्षता को अगर हम रख सकें और उसका उद्योग से उपयोग कर सकें तो मनुष्य में जो पशुत्व है उसका अविकारा दूर हो जाय, इष्ट्या, अशांति आदि का तोड़व कम हो जाय। अगर ऐसा न होगा तो एक दिन ऐसा आयागा जब दुनिया क मनुष्य रंग के नामपर दो वल में बँटकर राक्षसी युद्ध करेंगे और जिसकी परम्परा सैकड़ों वर्षों तक जायगी और उस अग्नि में मनुष्य जानि स्वाहा हो जायगा।

जातिभेद को तोड़ने का उपाय तो हृदय की उन्नतता ही है। परन्तु इसका एक मुख्य निमित्त पारम्परिक विवाह सम्बन्ध है। जाति के नाम पर मनुष्यमात्र में वैवाहिक-चेष्ट की कैद न होना चाहिये। अगर अधिक परिमाण में ऐसे विवाह सम्बन्ध होने लगे तो दोनों के बीचका अन्तर अवश्य ही कम हो सकता है। हाँ, इस काम में विवाह-सम्बन्धी समस्त सुविधाओं का खयाल अवश्य रखना चाहिये।

कहा जाता है कि काली, गौरी आदि जातियों के शरीर में गन्धकी एक विशेषता होती है जो एक दूसरे को दुर्गन्ध मालूम होती है। यह ठीक है। मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि यह रंगभेद जलवायु, भोजन आदि के भेदों से सम्बन्ध रखता है। इसलिये वर्णों के समान गन्धमें भी थोड़ा बहुत भेद हो, यह स्वाभाविक है। परन्तु यह तो व्यक्तिगत बात है। अगर विभिन्न वर्णों के व्यक्ति में प्रेम है, शारीरिक मिलन में भी उन्हें

कष्ट नहीं मालूम होता तो इसमें किसी तीसरे या समाज को कुछ कहने की क्या जरूरत है इसमें दोनों को ही अपना अपना खयाल ब लोना चाहिये।

जिनमें यह बर्णाभिमान अच्छी तरह धुल हुआ है, किन्तु नैतिक दृष्टि से जब वे इस जाति भेद का सहारा नहीं ले पाते, तब इस प्रकार के छोटी छोटी बातों को अनुचित महत्त्व देने लगते हैं। अगर रंगभेद की यह बात इतनी भयंकर होती तो भारत में यूरोशियन—जो कि अपने व एंग्लोइडियन कहते हैं—क्यों बनते ? अमेरिका आदि देशों में इतना विरोध रहने पर भी ऐसी सम्बन्ध होते ही हैं। भारतीयों के पूर्वज भी ऐसी सम्बन्ध कर चुके हैं, इसलिये आज भी उनमें काले गंगे का भेद बना हुआ है, और यह भी छोटी छोटी उपजातियों में भी पाया जाता है फिर जातियों में ही क्यों ? प्रत्येक व्यक्ति के शरीर की गंध जुड़ी होती है, परन्तु इसीसे वैवाहिक सम्बन्ध का विभार नहीं रहता। बल्कि वैवाहिक सम्बन्ध के लिये असुख परिमाण से शारीरिक विषमता आवश्यक और लाभकर माना जाती है, इसीलिये बहिन-भाई का विवाह शारीरिक दृष्टि से भी बुरा समझा जाता है। स्त्री-पुरुष के शरीर में ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की विषमता असुख परिमाण में पाई जाती है। इसलिये ऐसी विषमताओं की दुहाई देकर मनुष्यजाति के टुकड़े नहीं करना चाहिये। अगर इस विषय पर कुछ विचार भी करना हो तो यह विचार व्यक्ति पर छोड़ना चाहिये। विवाह करनेवाला व्यक्ति इस बात को विचार ले कि जिसके साथ मैं सम्बन्ध जोड़ रहा हूँ उसकी गन्ध और रंग स्पर्श आदि मुझे सख हैं कि नहीं। यदि उसे कोई आपत्ति न हो तो फिर क्या बिन्ना है ? एक बात और है कि कोई भी गंध हो, जिसके संस्पर्श में हम आते रहते हैं उसकी उपता या कटुता माली जाती है। एक शाकभोजी मछलियाँ क बाजार में बमन कर देगा, परन्तु मछलियों को वह सुगन्ध ही आती है। इसलिये गंधादि की दुहाई देना

व्यर्थ है। हा, कोई शारीरिक विकार ऐसा हो जिसका दूसरे के शरीर पर गुण प्रभाव पड़ना हो तो बात दूसरी है, उसका बचाव अवश्य करना चाहिये। परन्तु ऐसे शारीरिक विकार एक जाति उपजाति के भीतर भी पाये जा सकते हैं और दूर के जातिभेद में भी नहीं पाये जा सकते हैं। इसलिये जातिभेद के नाम पर इन बातों पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है।

इस जातिभेद के नामपर एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि इस प्रकार के वर्णान्तर-विवाहों से सन्तान ठीक नहीं होती। असुख जगह कुछ गोरे ने हारी स्त्रियों से शादी की परन्तु उनकी सन्तान गोरों के समान वीर, साहसी और बुद्धिमान न निकली। यह आक्षेप भी शतान्तरियों के अंध-संस्कार का फल है। ऐसे आक्षेप करते समय वे उसके असली कारणों को भूल जाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जिस बालक को समाज में लोग बराबरी की दृष्टि से नहीं देखते उसे नीच पतित और विजातीय समझकर थोड़ी बहुत घृणा रखते हैं, उसमें उस समाज के गुण नहीं उतरते। बच्चे को यदि समाज से बाहर कर दिया जाय तो पशु में और उसमें कुछ अन्तर न होगा। अभी भा मनुष्य में जातिभेद इतना अधिक है कि वर्णान्तर-विवाह होनेपर भी साधारण मनुष्य उससे घृणा ही करता है। फल यह होता है कि इस विवाह की सन्तान को एक प्रकार का असहयोग सहन करना पड़ता है। इसलिये समाज के गुण बालक को अच्छी तरह नहीं मिलते। दूसरा कारण यह है कि सन्तान के ऊपर माता और पिता दोनों का थोड़ा थोड़ा प्रभाव पड़ता है। अब अगर उसमें से एक पक्ष अच्छा हो और दूसरा पक्ष हीन हो तो यह स्वभाविक है कि सन्तति मध्यम श्रेणी की हो। इसलिये अपने अनुकूल व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। ऐसी हालत में सन्तति अवश्य ही अपने अनुकूल होगी। वीरता, बुद्धिमत्ता सदाचार आदि गुण ऐसे नहीं हैं कि उनका ठेका किसी जाति-विशेष से लिया जा सके। सभी जातियों में इन गुणों का

सम्भाव पाया जाता है। अगर कहीं किसी बात की बहुलता देखी जाती है तो उसका कारण परिस्थिति है, जाति नहीं। परिस्थिति के बदलने से बुरी जाति का मनुष्य अच्छा से अच्छा हो जाता है। आफ्रिका के जो हारी अभी जंगली अवस्था में रहते हैं सदाचार और सभ्यता का विचार जिनमें बहुत ही कम पाया जाता है, उन्हीं में से बहुत से हवाई अमेरिका में बसने पर अमेरिकियों सरीखे सम्प्रभुशिप्ति हो गये हैं, हालांकि उनको जैसे चाहिये वैसे साधन नहीं मिले इससे मान्य होता है कि किसी भी गुण का ठेका किसी जाति विशेष-वर्ण-विशेष ने नहीं लिया है।

इसका यह मतलब नहीं है कि एक सुसभ्य नागरिक को जंगली लोगों से वैवाहिक सम्बन्ध अवश्य स्थापित करना चाहिये। उदारता के नाम पर अन्तमेल विवाह करने की कोई जरूरत नहीं है जरूरत सिर्फ इस बात की है कि हम जातिभेद के नामपर किसी को वैवाहिक सम्बन्ध में जुड़ा न समझे। एक जंगली व्यक्ति के साथ हम सम्बन्ध नहीं करते इसका कारण यह न होना चाहिये कि उसकी जाति जुड़ी है किन्तु यह होना चाहिये कि उसकी शिक्षा, सभ्यता, स्वभाव आदि से भेद नहीं खाता। जाति के नामपर जब हम किसी के साथ सम्बन्ध नहीं करते, तब उसका अर्थ यह होता है कि अगर वह सब बातों में हमारे समान और अनुकूल हो जाय तो भी हम उसे जुड़ा ही समझेंगे इस प्रकार हमारा भेदभाव सदा के लिये होगा। यही एक बड़ा भारी अन्तर्ग है। इसलिये जातिभेद को दूर करने के लिये हम इस बात का दृढ़ निश्चय करते कि अगर हमें किसी के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ना है तो इसके कारण में हजार बातें कई परन्तु उनमें जातिभेद का नाम न आना चाहिये। सच्चे दिल से इस बात का पालन करना चाहिये।

राष्ट्रभेद (शैव अथवा) - जातिभेद के अन्य रूपों से राष्ट्र के नाम पर बने हुए जातिभेद में एक बड़ा भारी भेद है। अन्य जातिभेद राजनीति

से परम्परा-सम्बन्ध रखते हैं और बहुत सी जगह नहीं रखते हैं, परन्तु राष्ट्र के नामपर बना हुआ जातिभेद राजनीति के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखता है। और इसके नामपर बात की बात में तलवारे निकल आती है, मनुष्य भाजी-तरकारी की तरह काटा जाने लगता है, और इसे कहते हैं देशप्रेम, देशभक्ति, देशसेवा आदि।

राष्ट्र या देश आखिर है क्या वस्तु? पर्वत समुद्र आदि प्राकृतिक सीमा से बद्ध मनुष्यों के निवासस्थान ही ता है। परन्तु क्या ये सीमाएँ मनुष्यों के हृदय को कैद कर सकती हैं? क्या ये मिट्टी के ढेर और पानी की राशि मनुष्यता के टुकड़े टुकड़े करने के लिये हैं? इन सीमाओं को तो मनुष्य ने इतिहासातीत काल से पार कर लिया है। न पहाड़ों के अश्वकुश शिखर उसकी गति को रोक सकें हैं, न अगाध जलराशि। और आज तो मनुष्यजाति ने इनपर इतनी अधिक विजय पाई है कि माना ये सीमाएँ उसके लिये हैं ही नहीं। फिर समझ में नहीं आता कि मनुष्य सीमाओं से विरे हुए इन स्थानों के नामपर क्यों अहंकार करता है? क्यों लड़ता है? क्यों मनुष्यता का नाश करता है?

राष्ट्रीयता का जब यह नशा मनुष्य के सिर पर भूत की तरह सवार होता है, और जब मनुष्य हुंकार हुंकार कर दूसरे राष्ट्र को चला खालना चाहता है, तब नकारस्थान में तूनी की आवाज की तरह मनुष्यता का यह सन्देश उसके कानों में नहीं पहुँचता। परन्तु नशा उतरने के बाद जब उसने अंग अंग ढीले होजाते हैं, तब वह अपनी मूर्खता का अनुभव करता है। परन्तु शरारी इतने ही अनुभव से गराब नहीं छोड़ता। वही दशा राष्ट्रीयता के तरोपाजो की है। ये नशे क कटु अनुभव की पीड़ा ही भुक्तकर फिर वही नशा करते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयता के तगे न चिरकाल से मनुष्यजाति का ध्वंस होना पारहा है।

बड़े बड़े साम्राज्य खड़े हुए जिनने मनुष्यजाति के अस्थि-पड्डरसे अपना सिंहासन बनाया,

कराहती हुई मनुष्यता की छाती पर जिनने रक्त-जटित सिंहासन जमाये, पर कुछ समय तक उन्मादी अत्याचारी जीवन व्यतीत करके अन्त में धराशायी हो गये।

साम्राज्यवाद की यह भयकर ग्यास और राष्ट्रीयता का उन्माद प्रायः समस्त स्वतन्त्र राष्ट्रों को अगलान्त और पागल बनाय हुए हैं। राज्य की जो शक्तियों मनुष्य की सुख-गान्ति के बढ़ाने में काम आ सकती हैं, उनका अविकाश मनुष्य के सहर में लगा हुआ है। राज्य की आमदानी का बहुभाग सेना और लड़ाई की तैयारी में खर्च होता है, मशीने मनुष्य सहाय की सामग्री तैयार करने में लगी हुई है, वैज्ञानिकों की अविकाश शक्तियाँ मनुष्य-सहाय के आविष्कार में डटी हुई हैं, माना इस पागल मनुष्यजाति ने मनुष्य जाति को नष्ट करना अपना ध्येय बनालिया हो आत्महत्या या नरक की सृष्टि करना ही इसका उद्देश्य बन गया हो।

यदि ये ही शक्तियाँ प्रकृति पर विजय पाने में, उसका रहस्योद्घाटन करने में, उसके स्मन, से अमृतोपम दूध पीने में, मनुष्य की मनुष्यता अर्थात् मनुष्योचित गुणों के विकास करने में लगाई जाती तो मबल और निर्वच सभी राष्ट्र आज की अपेक्षा बहुत अधिक सुखी होते। जो आज असंख्य अर्धसंख्य तथा निर्वच हैं, वे सगल और सम्य बन होते और जो मबल हैं, सम्य कहलाते हैं, वे धृणापात्र होने के बदले आनन्दपात्र बने होते। इस प्रकार उन्हे भी शान्ति मिली होती, तथा दूसरों को भी शान्ति मिली होती।

एक न एक दिन मनुष्य को यह वन समझना पड़ेगी। इस राष्ट्रीयता के उन्माद के कारण प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा तथाद दोरही है। जिन प्रकार लुंदरे वही घड़ी लुटे करन भी चैन से गेटी नहीं खा सकते, और आपस में ही एक दूसरे से डरते हैं, वही हालत साम्राज्यवाद लुंदरे राष्ट्रों की होती है। हरगज देश की प्रजा-पर लड़ाई के रूप का धर्म इनका भारी बोना है कि

उसकी कमर टूट जाती है, और भय तथा चिन्ता के मारे चैन से नींद नहीं आती। मनुष्य आज अपनी ही छाया से डरकर कांप रहा है, मनुष्य जाति अपने ही अंगों से अपने अंग तोड़ रही है। प्राचीन युग में जिस प्रकार छोटे छोटे सरकार वल बंधक आपस में लड़ने में अपना जीवन लगा देते थे, इस प्रकार कभी दूसरों को सताते थे, और कभी दूसरों से सताये जाते थे, इसी प्रकार आज मनुष्य जाति राष्ट्रीयता के छुद्र स्वार्थों के नाम पर लड़ रही है। पुराने सर-द्रो की छुद्र मनोवृत्ति पर आज का मनुष्य हँसता है, परन्तु क्या वही मनोवृत्ति कुछ विशाल रूप में राष्ट्रीयता के उन्माद में नहीं है ? क्या वह भी हँसने लायक नहीं है ? क्या समुच्च किसी दिन अपनी इस मूर्खता और छुद्रता को न समझेगा ?

हां। कभी कभी मनुष्य में राष्ट्रीयता पवित्र रूप में भी आती है, वह तब, जब कि वह मनुष्यता की दासी पुत्री-भ्राता बन जाती है। उस समय वह मनुष्यता का विरोध नहीं करती, सेवा करती है। सिवाही यदि सरकार का सेवक बन कर हमारे पास आये तो हम उसका आवरण करेंगे परन्तु यदि वह स्वयं सरकार बनकर हमारे सिर पर सवारी गठना चाहे तो वह हमारा शत्रु है। इसी प्रकार जब राष्ट्रीयता, मनुष्यता की दासी बनकर, मनुष्यता के रक्षण के लिये आती है तब वह देवी की तरह पूज्य है। परन्तु जब वह मनुष्यता का भक्षण करने के लिये हमारे पास आती है तब वह शत्रु के समान है। मनुष्य के रक्षण के लिये, जीवन की शांति के लिये, हमें उसका परित्याग करना चाहिये।

यदि एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के ऊपर आक्रमण करता है, उसे पराधीन बनाता है, या बर्बाद कर देता है, इसलिये पीड़ित राष्ट्र अगर राष्ट्रीयता को उपासना करता है, तो वह मनुष्यता की ही उपासना है, क्योंकि इसमें अत्याचार या अत्याचारी का ही विरोध किया जाता है, मनुष्यता का नहीं। जिस प्रकार हिंसा पाप होने पर

भी आत्मरक्षण [अन्त्याय्य आक्रमण से अपने को बचाना] में हानेवाली हिंसा पाप नहीं है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता पाप होने पर भी आत्मरक्षण के लिये—अत्याचार के विरोध के लिये—राष्ट्रीयता की उपासना पाप नहीं है। वामि जो राष्ट्र से भी छोटी छोटी दलविन्द्या के चक्कर में पड़ कर राष्ट्रीयता से भी अधिक मनुष्यता का नाश कर रहे हैं, उनके लिये राष्ट्रीयता आगे की मजिल है। इसलिये वे अभी राष्ट्रीयता की पूजा करके मनुष्यता की ही पूजा करेंगे। उनकी राष्ट्रीयता दूसरा कठुर राष्ट्रीयतारूपी पाप जो दूर करने के लिये होगी।

राष्ट्रीयता के ऐसे अपवादों को छोड़कर अन्य किसी ढंग से राष्ट्रीयता की उपासना करना मनुष्य जाति के दुकड़े का के उसे विनाश के पथ पर आगे बढ़ाना है। राष्ट्र की जाति का रूप दे देना तो एक मूर्खता ही है। मनुष्य में कोई जाति तो ही नहीं परन्तु जिनको मनुष्य ने जाति ममत्त रक्खा है, उनका मिश्रण प्रत्येक जाति में हुआ है। भारतवर्ष में आर्य और द्रविड़ मिलकर बहान कुछ एक होगये हैं। शक, द्रुण आदि भी मिल गये हैं। मुसलमानों के साथ भी रक्त-मिश्रण होगया है। अमेरिका तो अभी कल ही अनेक राष्ट्रों के लोगों से मिलकर एक राष्ट्र बना है। इसी प्रकार दुनिया के अन्य किसी भी देश के इतिहास को देखो तो पता लगेगा कि उसमें अनेक तरह के लोगों का मिश्रण हुआ है इससे मालूम होता है कि राष्ट्र भेद से भी जाति-भेद का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टि से भी मनुष्य-जाति एक है।

यहकार का पुजारी वह कभी कभी पाप की पूजा को भी धर्मपूजा का रूप देता है शैतान को खुदा के घेप में सजाता है और स्तुति के लिये अच्छे शत्रुओं की रचना करता है। वह अहंकारपूर्ण कठुर राष्ट्रीयता की पूजा के लिये सभ्यता संस्कृति आदि की दुर्हार्द देता है। परन्तु छुट्टे छुट्टे देशों की सभ्यता संस्कृति आदि आखिर क्या बला है ? और उसकी उपासना का क्या

अर्थ है ? वेपथूपा और भाषा को अगर किसी राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति कहा जाय तब तो उसकी दुहाई देना व्यर्थ है। प्रत्येक देश की भाषा कुछ शताब्दियों के बाद बदलती रही है। जो प्राकृत भाषाएँ दो हजार वर्ष पहिले भारत में प्रायः सर्वात्र बोली जाती थी और जो अपभ्रंश भाषाएँ हजार वर्ष पहिले ही प्राकृत की तरह बोली जाती थीं, आज हमेगिने पंडितों को छोड़कर उन्हें कोई समझता भी नहीं, फिर बोलनेकी तो बात ही दूर है। अगर भाषा का नाम संस्कृति हो तब तो हम उसका त्याग ही कर चुके हैं। यह बात दूसरी है कि अहंकार की पूजा करने के लिये हम उन मृत भाषाओं के नाम के गीत गाते हैं, परन्तु हमारे जीवन में उनका कोई व्यावहारिक स्थान नहीं रह गया है। लेटिन, संस्कृत आदि सभी भाषाओं की यही दशा है। इसलिये वह सभ्यता तो गई।

वेपथूपा बदलने के लिये तो शताब्दियाँ नहीं, दशाब्दियाँ ही बहुत हैं। भारत के आर्य जो पोशाक पहिना करते थे, उसका कहीं पता भी नहीं है। उसके आगे की न जाने कितनी पीढ़ियाँ गुजर गईं ? उत्तरीय बख के पीछे अंगरखा, कुरता, कोट, कमीज आदि पीढ़ियाँ चली आती हैं। वही बात सारियों की पोशाक के विषय में है। साहन, नगर रचना आदि सभी बातों में विचित्र परिवर्तन होगये हैं। संसार के सभी देशों की यह दशा है। पुराने युग के चित्र तो अब अजायबघरा और नाटक-सिनेमा के ऐतिहासिक चित्रणों में ही देखने मिलते हैं। सभ्यता और संस्कृति के नाम पर उन पुरानी चीजों को ज़ाती से चिपटाये रहने की ज़रूरत नहीं रही है। सभ्यता और संस्कृतियों के नामपर एक भारत-वासी अंग्रेज गर्मी के दिनों में भी अब अपनी चुन्त पोशाक से अपने शरीर को ढकल की तरह कत ढाकता है, तब उसका यह पागलपन प्रजा-शत्रु की चीज होती है। परन्तु यह पागलपन सभी देशों में पाया जाता है, इसलिये अजायब-घर में कहा तक रक्खा जा सकता है ? समझें

को भी गोबर से लीपना, बिजली के उज्जले में भी समाई जलाना शायद संस्कृति और सभ्यता का रक्षण है। वास्तव में इस प्रकार के अन्धधुन-करणाँ को संस्कृति और सभ्यता की रक्षा कहना उन अच्छे शक्तियों की मिट्टी पलीत करना है।

मनुष्य, जन्म के समय पशु के समान होता है। उसको युग के अनुरूप अच्छा से अच्छा मनुष्य बनाने के लिये जो प्रभावशाली प्रयत्न किया जाता है उसका नाम है संस्कृति, और दूसरे को कष्ट न हो इस प्रकार के व्यवहार का नाम है सभ्यता। इस प्रकार की सभ्यता और संस्कृति का रूढ़िवा के अन्ध-अनुकरण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि किसी ज़माने में चोर डाकुओं के डर के सारे हम मकानों में अतिक विडकियाँ नहीं रखते थे, और अब परिस्थिति बदल जाने से रखते हैं तो इसका अर्थ सभ्यता और संस्कृति का त्याग नहीं है। समयानुसार स्वपरसुखवर्द्धक परिवर्तन करने से संस्कृति का नाश नहीं होता, बल्कि संस्कृति का नाश होता है रूढ़ियों की गुलामी से। क्योंकि रूढ़ियों की गुलामी से बुद्धि-विवेक की कमी मालूम होती है जोकि मनुष्यत्व की कमी है, और जड़ता की वृद्धि मालूम होती है जोकि पशुत्व की वृद्धि है। संस्कृति का काम आणी को पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर लेजाना है, न कि मनुष्यत्व से पशुत्व का आंग लौटाना। यदि कोई देश अपनी पुरानी अनावश्यक चीजों से चिपट रहा है और दूसरों के अच्छे तत्वों को ग्रहण नहीं कर रहा है या ग्रहण करने में अपमान समझ रहा है तो वह संस्कृति की रक्षा नहीं, नाश कर रहा है।

मोगोपमोग की पुरानी चीजों के रक्षण में सभ्यता और संस्कृति नहीं रहनी। यदि पुगने जमाने में हमारे पास शंग से अच्छा बाण नहीं था तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारी सभ्यता और संस्कृति जल में जा बैठे हैं। यदि किसी देश में आम नहीं थे, खजूर थे, तो इसमें भी यह मतलब नहीं है कि उसकी सभ्यता रक्षक पर

लटक रही है। मनुष्य एक समझदार प्राणी है, इसलिये उसका काम है कि उसके वर्तमान युग में जो जो अच्छी, सुलभ और दूसरों को हानि न पहुँचानेवाली वस्तुएँ हो उनका उपयोग करे। इसी बुद्धिमत्ता में उसकी संस्कृति और सभ्यता है। पुगने जनाने की अविकसित वस्तुओं को अपनाये रहने में सभ्यता और मस्कृति की रक्षा नहीं है।

इसके विरोध में यह बात अवश्य कही जा सकती है कि—“कोई देश यन्त्रों के द्वारा फैली हुई वैकरी को दूर करने के लिये चरखा युग का सहारा ले, दूसरे के आर्थिक आक्रमण से बचने के लिये पुरानी चीजाँ के उपयोग करने की ही कोशिश करे तो क्या इसका अनुचित कहा जायगा ?”

आर्थिक आक्रमण से बचने के लिये यह मार्ग कहा तक ठीक है यह बात दूसरी है, परन्तु अगर कोई इसी दृष्टि से पुरानी चीजाँ का उपयोग करना चाहे तो इसमें मुझे बिलकुल विरोध नहीं है। उसकी दृष्टि उपयोगिता, सुविधा, सुखदत्ता सुव्यवस्था पर होना चाहिये, न कि प्राचीनता पर, इनका प्रचार संस्कृति और सभ्यता के रक्षण के लिये नहीं, किन्तु सम्मान का रांटी देने के लिये होना चाहिये।

कोई भाई कहेंगे कि “जो नवयुवक मौज मौक में जीवन बिताकर साठगी छोड़कर अपने साहिबी खर्च से मौजापको परेशान करते हैं, क्या उनको न रोकना चाहिये ? इसीप्रकार जो अपने देश की बेपभूषा छोड़कर विदेशी बेजभूषा अपनाकर अपनी एक नई जाति बना लेते हैं, क्या उनका यह कार्य उचित है ?”

निःसन्देह ये काम अनुचित हैं परन्तु इसलिये नहीं कि वे विदेशी सभ्यता को अपनाते हैं, किन्तु इसलिये कि उनमें मायाप का परेशान किया जाता है, अपने को अनुचित रूप में बड़ा या विरोध समझकर अभिमान या परिचय दिखाता है, दूसरा को अपमान किया जाता है, उन्हें रोकने, परन्तु प्राचीन संस्कृति या सभ्यता को

दुहाई देकर नहीं, किन्तु आर्थिक सुविधा की दुहाई देकर, विनय और प्रेम की दुहाई देकर।

इस प्रकार भोगोपभोग की दृष्टि से सभ्यता का जो रूप बनाया जाता है वह तो बिलकुल बर्ध है। अब यह गया सभ्यता का मानसिक और कौटुम्बिक रूप। कहा जाता है कि “प्रत्येक देश की एक विशेष मनोवृत्ति होती है। इंग्लैण्ड का अनुभव मात्रा से कुछ अधिक गम्भीर है, जब कि फ्रान्स का आदमी मात्रा से कुछ अधिक गतूनी। भारत के वायव्य कोण का मनुष्य या एक पठान स्वभावतः अधिक उग्र और असहिष्णु होगा जब कि भारत का मनुष्य मात्रा से अधिक शान्त होगा। मनुष्य स्वभाव की ये विशेषताएँ एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को जुना करती हैं। अगर राष्ट्रीय भेद न माना जाय तो ये विशेषताएँ नष्ट हो जायें। क्या उनका नष्ट करना उचित है ?”

इसके उत्तर में ये बात कही जा सकती है। पहिली तो यह कि मनुष्य की ये विशेषताएँ स्वाभाविक नहीं हैं—वे राजनैतिक आर्थिक आदि परिस्थितियों का फल हैं। क्रान्ति के पहिले टर्की और रूस के साधारण जन की जो मनोवृत्ति थी और आज उसकी जाँ मनोवृत्ति है, अत्राइन लिंकन के पहिले अमेरिका के ह्वशी की जो मनोवृत्ति थी और आज जो मनोवृत्ति है, रोपनसाम्राज्य के लीचे कचड़ते हुए इंग्लैण्ड की जो मनोवृत्ति थी और आज जो मनोवृत्ति है, उनमें लमीन-असमान से भी अधिक अन्तर है। आर्थिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों के बदल जाने से मनुष्य के स्वभाव में जो परिवर्तन हो जाता है, उसे राष्ट्रीयता न रोक सकती है, न रोकना चाहिये। इसलिये राष्ट्रीयता का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

दूसरी बात यह है कि राष्ट्रीय विशेषता होने में ही कोई वस्तु अच्छी नहीं हो जानी। अपनी जाति अगर किसी देश की विशेषता हो, या न या न में उग्र बैठन, मार बैठन, हत्या कर डालना अगर किसी देश की विशेषता हो यथवा

स्त्रियों को पदचलित करना अगर किसी देशकी विशेषता हो तो उसे अपनाये रहना पाप है। ऐसी विशेषता का जितनी जल्दी नाश हो उतना ही अच्छा है। हमें विशेषता नहीं किन्तु उन गुणों का पुजारी होना चाहिये जो मानवजीवन को सुखमय बनाते हैं। इसलिये हमारा यह महान कर्तव्य है कि हम राष्ट्रों की सब विशेषताओं को मिटा दें। जो विशेषताएँ खराब हैं दुखकर हैं उनको तो नाश करके मिटा देना चाहिये परन्तु जो विशेषताएँ सुखकर हैं अच्छी हैं उनको बिना नाश किये मिटा देना चाहिये अर्थात् उनका सभी राष्ट्रों में प्रचार कर देना चाहिये जिससे वे विशेषरूप छोड़कर सामान्य रूप धारण कर लें।

ऊपर जो बात स्वभाव के विषय में कही गई है, वही बात कौटुम्बिक रीतिनीति के विषय में कही जा सकती है। जिन देशों की कौटुम्बिक व्यवस्था खराब है, वे अपनी वह कौटुम्बिक दुर्व्यवस्था छोड़ें और किसी देश की अच्छी से अच्छी कौटुम्बिक व्यवस्था अपना लें। अगर कोई विशेषता रहे भी तो परिस्थिति की दुहाई देकर रहना चाहिये राष्ट्रीयता सभ्यता आदि की दुहाई देकर नहीं।

इस प्रकार किसी भी प्रकार की सभ्यता या संस्कृति की दुहाई देकर मनुष्य जाति के दुकड़े करने की कोई जरूरत नहीं है, बल्कि ऐसा करना पाप है। सभ्यता और संस्कृति मनुष्य के दुकड़े करने के लिये नहीं किन्तु उसके प्रेम के क्षेत्र को विशालतम बनाने के लिये हैं, उन्नति के लिये हैं, पारस्परिक सहयोग के लिये हैं। इसलिये राष्ट्र के नामपर चलता हुआ वह जातिभेद भी नष्ट होना चाहिये।

कोई भाई कहेगे कि 'यदि राष्ट्रीयता नष्ट करदी जायगी तब तो सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों को पीस डालेंगे, लूट डालेंगे और आपका यह वक्तव्य उनके कार्यों को नैतिक बल प्रदान करेगा। निर्बल राष्ट्र अगर सबल राष्ट्र के मालपर इस-

लिये कर लगायगा कि उसका व्यापार सुरक्षित रहे और उसकी आर्थिक अवस्था खराब न हो जाय, बेकारी न बढ़ जाय, तो आपके शब्दोंमें वह राष्ट्रीयता की पूजा होने से पापरूप होगी। इस सिद्धान्तसे तो सबल राष्ट्र सबल होते जायेंगे और निर्बल पिस्तो जायेंगे।"

इस प्रश्न का कुछ उत्तर दिया जा चुका है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अगर आर्थिक आक्रमण करता है तो आयात पर प्रतिबन्ध लगाकर उस आक्रमण को रोकना अनुचित नहीं है। दूसरे राष्ट्र में अगर राष्ट्रीय कट्टरता है और वह किसी राष्ट्र पर आर्थिक आक्रमण करता है तो उसका उसी तरह सामना करना चाहिये, इसमें कोई पाप नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक राष्ट्र को—जबकि उसका शासनतन्त्र जुदा है—कर्तव्य है कि वह आर्थिक योजना के रक्षण के लिये आयात निर्वाह पर नियन्त्रण रखे। इस आर्थिक योजना का प्रभाव समाज की सुख-शान्ति पर भी निर्भर है। मानलो एक राष्ट्र ऐसा है जो मजदूरों से दस घंटे काम लेता है और ऐसे यन्त्रों का उपयोग करता है जिससे थोड़े आदमी बहुत काम कर सकते हैं, इससे बहुत से आदमी बेकार हो जाते हैं अथवा मजदूरों को सख्त मजदूरी करना पड़ती है। परन्तु दूसरा राष्ट्र ऐसा है कि वह ऐसे यन्त्रों का उपयोग करता है जिससे बेकारी न बढ़े, तथा वह मजदूरों से सख्त मिहनत भी नहीं लेना चाहता ऐसी हालत में उसका माल महँगा पड़ेगा। इसलिये आर्थिक दृष्टि से जीवित रहने के उसके सामने दो ही मार्ग होंगे—या तो वह आयात पर प्रतिबन्ध लगावे, या मजदूरों से ज्यादा मिहनत ले। मनुष्य की सुख शान्ति के लिये पहिला मार्ग ही ठीक है। इसलिये आयात पर कर लगाना उचित है। वास्तव में यह राष्ट्रीयता की पूजा नहीं, मनुष्यता की पूजा है। दूसरे देश पर आक्रमण करने में कट्टर राष्ट्रीयता है, परन्तु दूसरे के आक्रमण से अपनी रक्षा करने में, अपनी सुखशान्ति बढ़ाने में तो मनुष्यता की ही पूजा है।

इस विषय में एक बात यह कही जा सकती है कि "यदि मनुष्यता के नामपर भी आयात निर्यात का प्रतिबन्ध बना ही रहा तब राष्ट्रीय कट्टरता का नाश कैसे होगा? प्रत्येक राष्ट्र की कठिनाइयों बढ़ जायगी। मानलो कि एक राष्ट्र ऐसा है जिसमें लोहा और कोयला बहुत है, परन्तु ऊषि के योग्य स्थान नहीं है, और दूसरा देश ऐसा है कि जो इससे उन्ना है। अब यदि दूसरा देश पहिले के मालपर प्रतिबन्ध लगावे तो पहिला देश भूखों मर जायगा। ऐसी अवस्था में मनुष्यता की भावना कैसे रह सकती है?"

यदि मनुष्यता की भावना हो, अहंकार और आक्रमण का दुर्विचार न हो तो यह समस्या कठिन नहीं है। जिस राष्ट्र के पास अनाज नहीं है, वह अनाज के आयात पर प्रतिबन्ध क्यों लगायगा? और जिसके पास लोहा नहीं है वह लोहे के आयात पर प्रतिबन्ध क्यों लगायगा? इस प्रकार का माल तो आपस में बदल लेना चाहिये। स्वेच्छा और सुविधा से एक माल से दूसरा माल बदलना कोई आपत्तिजनक नहीं है। हा, अन्तराष्ट्रीय व्यवहार में जो सम्पत्ति का माध्यम हो उसे श्रृंखले की कोशिश न करना चाहिये। मानलो कि सोना माध्यम है, या चाँदी माध्यम है तो अपना माल अधिक से अधिक देने की कोशिश करना और बदले में माल न लेकर सोना चाँदी लेना आक्रमण है। आक्रमण का बिचार छोड़ दिया जाय और फिर जो अवला बचती हो उससे दोनों राष्ट्रों को लाभ होगा। इतने पर भी अगर किसी ऐसे देश की जो प्राकृतिक सम्पत्ति से गरीब है—समस्या हल नहीं होनी तो उसका काम है कि वह किसी ऐसे देश से कुछ जाय जो प्राकृतिक सम्पत्ति से अधिक पूर्ण है। परन्तु दोनों में शास्य-शासक भाव न होना चाहिये, क्योंकि वो राष्ट्रों में शास्य-शासक भाव होना मनुष्यता की दिनवहाड़े इरग करना है। जित राष्ट्रों के पास जीवन निर्वाह की पूरी सामग्री नहीं है, व जनसंख्या का नियन्त्रण करें अथवा बड़ी हुई जनसंख्या को किसी ऐसी जगह बसाने

का प्रयत्न करें जहाँ जनसंख्या कम हो। परन्तु वह जाकर अगर अपनी कोई विशेषता की रक्षा करने की कोशिश की जायगी, उसने लिये कोई विशेष सुविधा मांगी जायगी तो यह नीति सफल न होगी। इसलिये आवश्यक यह है कि जिस राष्ट्र में हम जाकर बसें वहाँ के निवासियों में हम मिल जावे। इसके लिये मनुष्योचित सद-गुणों को छोड़ने की या वहाँ क दुर्गुणों को अपनाने की जरूरत नहीं है, सिर्फ आदर्शियता प्रगट करने की, भाषा आदि को अपना लेने की तथा अपनी जातीय कट्टरता का त्याग कर देने की जरूरत है। इस नीति से न तो किसी राष्ट्र को भूखों मरना पड़ेगा न किसी को दूसरे राष्ट्र का बोझ उठाना पड़ेगा।

विश्वशांति और मनुष्य की उत्थिति के लिये इस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक है। जब तक मनुष्य राष्ट्र के नाम पर जातिभेद की कल्पना लिये रहेगा, तब तक वह एक दूसरे पर अत्याचार करता ही रहेगा। इसलिये एक न एक दिन राष्ट्र के नाम पर फैले हुये जातिभेद को तोड़ना ही पड़ेगा। एक मानव राष्ट्र बनाना पड़ेगा, सभी वह बैन से बैठ सकेंगे।

अन्तराष्ट्रीय विवाह का रिवाज भी इसके लिये बहुत कुछ उपयोगी हो सकता है इसलिये इसका भी अधिक से अधिक प्रचार करना चाहिये। इस विषय में कानून का अन्तर है, परन्तु रुढ़ि की गुलामी दूर कर देने पर कानून की वह विषमता दूर हो जायगी और जो कुछ थोड़ी बहुत रह जायगी उसे सहन कर लिया जायगा। विवाह के पात्रों को यह बात पहिले ही समझ लेना चाहिये।

कहा जा सकता है कि "यों ही तो नागरिक-पहरण की घटनाएँ बहुत होती हैं। एक राष्ट्र की युवतियों को कुसला कर दूसरे राष्ट्र में ले जाना और वहाँ उन्हें असहाय पाकर बेर्या बना देना और उनकी शारीरिक शक्ति का लुप होने पर उन्हें भिखारिन बनाकर छोड़ देना, ये सब घटनाएँ मिल बहलावेने वाली हैं। अन्तराष्ट्रीय

विवादांसे ये घटनाएँ और बढ़जायगी।" पर यह भूल है, यह पाप एकही देश के भीतर भी हो रहा है। इसका अन्तराष्ट्रीय विवाद-पद्धति के प्रचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके हटाने के लिये सब सरकारों को मिलकर सम्मिलित प्रयत्न करना चाहिये, तथा इस प्रकार के लोगों के दमन के लिये विशेष कानून और विशेष प्रयत्न की जरूरत है।

राष्ट्रीय संस्कृति की विभिन्नता के कारण दाम्पत्य जीवन के अशान्तिमय हो जाने की बाधा भी घटाई जा सकती है। परन्तु इसका उत्तर वर्ण-भेद के प्रक्रमण में दे चुका हूँ। यहाँ इतनी धात फिर कही जाती है कि राष्ट्रीय जातिभेद मिट जाने पर एक तो संस्कृति की विभिन्नता भी कम हो जायगी, दूसरी बात यह है कि यह सब व्यक्तिगत प्रश्न है। दोनों को पारस्परिक अनुरूपता का विचार कर लेना चाहिये, तथा एक दूसरे की मनो-वृत्ति से परिचित हो जाना चाहिये। इस प्रकार राष्ट्रीयताकी भेदक वीचालोको गिराने के लिये वह वैवाहिक सम्बन्ध भी अधिक उपयोगी हो सकता है, और इससे मनुष्यजाति एक दूसरे के गुणों को शीघ्रता से गान कर सकती है।

इस प्रकार विश्वकी शान्ति तथा उन्नति के लिये आवश्यक है कि राष्ट्रीयता के नामपर फैल हुए जातिभेद का नाश करके मनुष्य जाति की एकता मिट्ट की जाय और व्यवहार में लाई जाय।

बड़े बड़े देशों में प्रान्तीयता का भी विप राष्ट्रीयता के विप के समान फैलता है यह तो और भी बुरा है। इससे कट्टर राष्ट्रीयता का पाप तो है ही, साथ ही मनुष्यता के साथ राष्ट्रीयता का नाशक होने से यह दुहरा पाप है।

वृत्तिभेद (काजो अफो) — अभी तक जो जातिभेद के रूप बतलाये गये हैं, उनके विषय में धर्मशास्त्रों में कोई विधिविधान न होने से वे घम के बाहर की चीज समझे जाते हैं। परन्तु आज-विका के भेद से जो जातिभेद घना, उसके विषय

में धर्मशास्त्रों में बहुत से विधिविधान मिलते हैं, इसलिये बहुत से लोग धर्म के समान इसे भी समझने लगे हैं। सच पूछा जाय तो धर्म के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वृत्तिभेद से बना हुआ जातिभेद एक समय की आर्थिक योजना है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद सभी देशों में पाये जाते हैं, क्योंकि शिक्षण, रक्षण, वाणिज्य और सेवा की आवश्यकता सभी देशों की है। परन्तु इनके नामपर जैसा जाति-भेद भारतवर्ष में बना वैसा अन्यत्र नहीं। यहाँ आर्थिक योजना की दृष्टि से बनाये गये इन संघों का सम्बन्ध रोटी-वेटी व्यवहार से भी हो गया है, धार्मिक क्रियाकाण्डों से भी हो गया है, परलोक की ठेकेदारी से भी हो गया है।

जिस समय यह वर्णव्यवस्था की गई थी, उस समय इसका यही लक्ष्य था कि समाज में आर्थिक सुन्यवस्था और शान्ति हो। जो जिस कार्य के योग्य है वह वही कार्य करे तथा अनुचित प्रतियोगिता से घन्धों को मुक्तमान न पहुँचे और न वेकारी की समस्या लोगों के सामने आवे। सैकड़ों वर्षों तक इस व्यवस्था से भारतीयों ने लाभ उठाया। परन्तु पीछे से जब अक्रमय और अयोग्य व्यक्तियों की अधिकता होगई तथा इस व्यवस्था ने अन्य धार्मिक सामाजिक अधिकारों को कैद कर लिया, तब इससे सर्वनाश होने लगा।

वर्णभेद के नाम से रचलित इस वृत्तिभेद का जाति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और न मनुष्य जाति के विभाग करने का इसमें कोई गुण है। रंग-भेद से तो फिर भी कुछ शारीरिक भेद मालूम होता है, तथा देशभेद में भाषाभेद आदि हो जाते हैं—यद्यपि इससे भी मनुष्यजाति के भेद नहीं हो सकते—परन्तु वृत्तिभेद से तो इतना भी भेद नहीं होता। एक ही वंश में पैदा होनेवाले अनेक मनुष्यों की योग्यता में इतना अन्तर होता है कि उनमें कोई ब्राह्मण कोई क्षत्रिय कोई वैश्य और कोई शूद्र कहा जा सकता है।

इस वर्णभेद का मुख्य प्राण था आजीविता की व्यवस्था, सो इस दृष्टि से तो उसका सर्वनाश हो गया है। आज ब्राह्मण कहलाने वाले गोटों पकाते हैं, माछ लगाते हैं, दूधानदारी करते हैं, जन्त्रिय कहलाने वाले खेती व्यापार करते हैं, अथवा कोई कोई प्रभावपन आदि ब्राह्मण-वृत्ति करते हैं वैश्य और शूद्र कहलाने वाले भी चारों वर्णों की आजीविता करते हैं। और जो लोग इस वर्णव्यवस्था में नहीं मानते वे भी सब कुछ करते हैं। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का तो असली प्रयत्न था, वह तो शासत्रियों से नष्ट हो गया है। इस अवस्था में वर्णव्यवस्था की दुहाई देना व्यर्थ ही है। पुराने जमाने में इस प्रकार का नियम धनान की कोशिश की गई थी कि "प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी आजीविता करना चाहिये, अगर न करे तो शासका से वह दण्डनीय हो, क्योंकि ऐसा न करने में वर्णसंक्रान्ति फैल जायगी अर्थात् वर्णव्यवस्था गड़बड़ हो जायगी।"

आज इस प्रकार की वर्णसंक्रान्ति निर्विवाद और निर्विरोध फैली हुई है। ऐसी अवस्था में वर्णव्यवस्था की दुहाई देकर अहंकार और मूढ़ता की स्थापना क्यों करना चाहिये ? और अगर करना भी हो तो उसे कर्मसंभारना चाहिये कर्म में वर्णव्यवस्था मानने की यात्रा पुगनी है।

पर, वर्णव्यवस्था को जन्म से मानो या कर्म से मानो, परन्तु उसका सम्बन्ध आर्थिक योजना से ही है, पानपान और वेदीव्यवहार से नहीं।

पानपान के विषय में हमें तीन बातों का विचार करना चाहिये—अहिंसा, आरोग्य, और स्वच्छता। भोजन जमा न हो जिसके तैयार करने में श्रम हिता दुर्द होता है। इस दृष्टि से मांसाहारी का त्याग करना चाहिये। इसका वर्णव्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि प्रत्येक वर्णों का आरोग्य उस प्रकार विनियमित भोजन कर सकता है। प्रयोग का कुछ प्रमाण नहीं है कि अमुक वर्ण भोजन में

अमुक परिमाण में हिंसा हो जाय। शरीर तो जैसा ब्राह्मण का होता है वैसा शूद्र का होता है, इसलिये एक दूसरे के हाथ का भोजन करने में हिंसा अहिंसा की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं आ सकता।

आरोग्य का तो वर्णव्यवस्था से बिल्कुल सम्बन्ध नहीं है। वह भोजन की जाति और अपनी प्रकृति पर ही निर्भर है। तीसरी बात है स्वच्छता। सो स्वच्छता भी हर एक के हाथ से बने हुए भोजन में हो सकती है। हाँ, यह हो सकता है कि अगर अपने को मालूम हो जाय कि अमुक व्यक्ति के यहाँ स्वच्छता नहीं रहती तो हम उसके यहाँ भोजन न करेंगे। परन्तु अपने घर या अन्यत्र वह हमारे साथ बैठकर भोजन करले तो इसमें क्या अस्वच्छता हो जायगी ? इसलिये स्वच्छता के नामपर भी वर्णभेद में सह-भोजन का विरोध करना निर्गर्थक है।

इस प्रकार सहभोजन का विरोधी कोई भी कारण न होने पर भी लोगों के मन में एक अन्ध-विश्वास जमा हुआ है कि अगर हम शूद्र के हाथ का खा लेंगे तो शूद्र हो जायेंगे। अमुक के हाथ का खालेंगे तो जाति चली जायगी। अगर सबमुक्त वह बात होती तो अभी तक हमारी मनुष्यता कभी की चली गई होती। भैंस का दूध पीते पीते हम भैंस हो गये होते और गाय का दूध पीते पीते गाय हो गये होते। अगर पशुओं का दूध पीने पर भी हम पशु नहीं होते तो किसी मनुष्य के हाथ का खा लेने से हम उसकी जाति के कैसे हो जायेंगे ? हमारी जाति कैसे चली जायगी ?

आश्चर्य तो यह है कि जो लोग मांसभक्षी हैं, वे भी भोजन में जाति-पाति का खयाल करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि जो कुछ वे खाते हैं वह इतना अपवित्र है कि उससे अधिक अपवित्र दूसरी वस्तु नहीं हो सकती। इस प्रकार कहा तो वर्णव्यवस्था जो कि एक आर्थिक योजना रूप

थी ? और कहाँ ये स्नानपान के नियम ? इन दोनों में कोई सम्बन्ध न होने पर भी इनका कैसा विचित्र सम्बन्ध जोड़ लिया गया है। सच बात तो यह है कि इसमें अहंकार की पूजा के सिवाय और कुछ नहीं है। मनुष्य धर्म के नाम पर मद्योन्मत्तता की या खुश के नाम पर शौतान की पूजा कर रहे हैं।

मनुष्य-जाति की एकता को नष्ट करने वाले वे आत्मघाती प्रयत्न यहाँ समाप्त नहीं हो जाते, किन्तु वे छुआछूत के रूप में एक और भयंकर रूप बतलाते हैं। अछूतता के लिये अगर वहाने बनाये जायें तो वे ये ही हो सकते हैं—एक तो आचार-शुद्धि के लिये दुर्संगति का बचाव, दूसरा स्वच्छता की रक्षा का भाव। पहिला कारण यहाँ विलक्षण नहीं है, क्योंकि जिन मध्यमास-भक्षण आदि दुष्कार्यों से बचने के लिये अछूतता का समर्थन किया जाता है, उनका सेवन स्फुर्य कहलाने वालों में भी है। अनेक प्रान्ता में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन वस्तुओं का सेवन करते हैं। फिर भी ये अछूत नहीं समझे जाते। और आश्चर्य तो यह है कि ये मासभक्षी भी अछूत कहलाने वालों को उतना ही अछूत समझते हैं जितना कि अन्य शाकभोजी समझते हैं इसलिये मासभक्षण आदि आचार की खराबियों से बचने के लिये यह अछूतता नहीं है। अगर होती तो भी उचित न कहलाती, क्योंकि मासभक्षी का स्पर्श करने से उसका दोष नहीं लगता, और न उससे पाप पापों में से कोई पाप होता है। हा, जो लोग हृद्य से दुर्बल हैं वे स्नानपान में ऐसे लोगों की संगति का बचाव कर सकते हैं। परन्तु बड़े बड़े भोजों में अथवा और भी ऐसे स्थानों में जहाँ मास भक्षण के उत्तेजन की सम्भावना नहीं है, ऐसे बचाव की आवश्यकता नहीं है। और, अछूतता के साथ तो इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

स्वच्छता की रक्षा का भाव भी अछूतपन का समर्थक नहीं है। इस दृष्टि से अगर किसी को अछूत माना जाय तो सिर्फ उतने समय के

लिये ही माना जाना चाहिये जितने समय वे अछूतता का काम करते हो। स्नानादि से शुद्ध होनेपर उनको अछूत मानना मूर्खता है। फिर जो अछूतता का काम करे वही अछूत है न कि सारा कुटुम्ब या जाति। आज तो होता यह है कि जिसकी जाति अछूत नहीं कहलाती, वह कैसा भी घृणित क्यों न हो वह अछूत न माना जायगा, और जिसकी जाति अछूत कहलाती है वह कैसा भी स्वच्छ हो वह अछूत माना जायगा वह किसी भी हालत में स्फुर्य नहीं हो सकता। इस अन्येषशाही का स्वच्छता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

कुछ लोग अछूत कहलानेवालों के शरीर को ही अशुद्ध बता दिया करते हैं। परन्तु शरीर में शुद्धि-अशुद्धि का विचार करना ही व्यर्थ है। सभी मनुष्यों के शरीर में हाड मांस रक्त होता है और ये चीजें कभी शुद्ध नहीं होतीं। हा, रोगियों का शरीर अमुक दृष्टि से अशुद्ध और स्वस्थ मनुष्यों का शरीर अमुक दृष्टि से शुद्ध कहा जाता है परन्तु उस दृष्टि से तो अछूत कहलाने वाले भी परम शुद्ध हो सकते हैं और उन्मत्त कहलाने वाले भी परम अशुद्ध हो सकते हैं।

अगर मानसिक अशुद्धि की बात कही जाय तो वह भी व्यर्थ है, क्योंकि उच्च कहलाने वालों की मानसिक अशुद्धि अछूत कहलानेवालों की मानसिक अशुद्धि से कम नहीं होती। प्रेम दया भक्ति विश्वसनीयता आदि में स्फुर्य और अस्फुर्य की जाति जुड़ी जुड़ी नहीं होती।

कई लोग अछूत कहलाने वालों के साथ किये गये दुर्व्यवहार को पूर्व जन्म का पाप कहकर स्वयं सन्तोष करते हैं तथा उनको भी सन्तोष करना चाहते हैं। यदि इसे पूर्व जन्म के पाप का फल भी मानलिया जाय तो इस तरह अज्ञात पापफल देने का हमें कोई अधिकार नहीं है। यो तो हम बीमार पड़ते हैं तो यह भी पाप-फल है परन्तु इसीलिये बीमार की चिकित्सा न की जाय, एव सती के ऊपर गुच्छे आक्रमण करे तो यह विपत्ति भी सती के पूर्वजन्म के पाप का फल है,

इसीलिये शुद्धों को न रोका जाय, हमारी चोरी होती है, खून होता है तो यह भी पूर्वजन्म के पाप का फल है इसीलिये चोरो और खूनियो को न रोका जाय तो समाज की क्या दुर्दशा हो ? अबूत कहलाने वालों के साथ जो दुर्व्यवहार किया जाता है वह अत्याचार है, इसे पाप फल कहकर नहीं दाला जा सकता। अन्यथा मनुष्य को न्याय, भलाई सुव्यवस्था करने का कोई अवसर ही न रहे जायगा, मनुष्य की अवस्था पशुओं से भी भयकर हो जायगी।

धार्मिक अधिकारों की दृष्टि से भी छूतों अबूतों में कोई जातिभेद नहीं है। अहिंसा, सत्य ईमान आदि धर्म हैं। धर्म के नाम पर चलने-वाले अन्य आधार तो सब इन्हीं के साधन मात्र हैं। अहिंसा, सत्य आदि के पालन का ठेका किसी भी जाति विशेष को नहीं दिया जा सकता। अबूत कहलानेवालों को यह नहीं कह सकते कि तुम सत्य मत बोलो, शील से मत रहो, अहिंसा का पालन मत करो। जब अहिंसा, सत्य आदि का अधिकार सब को है तब धर्म का ऐसा कोई अंग नहीं है, जिसका अधिकार सबको न हो। इस प्रकार वर्णव्यवस्था के नामपर मनुष्य जाति के टुकड़े करना, स्पृष्टास्पृश्य की पापनाय वासना का सराबोर करना, महान अपराध है।

वर्णव्यवस्था का जिस प्रकार धार्मिक अधिकारों से, छूते न छूते से, असहमोज आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है, वसी प्रकार विवाह से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो आजीविका की सुव्यवस्था के लिये थी, इसलिये विवाह की क्रीड का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जब आजीविका के भेद से पूजापूज्यता का सम्बन्ध जुड़ गया तब एक जटिल समस्या खड़ी हो गई। ब्राह्मण कुल में पैदा होनेवाली एक कन्या का अगर ऐसे कुल में विवाह हो जो लोक में सम्मान की दृष्टि से न देखा जाता हो तो इससे उसका चित्त का शोक होना स्वाभाविक है। इसलिये अनुलोम विवाह का रिवाज बन गया। इसके अनुसार पहिले वर्ण की कन्या दूसरे वर्ण वाले को नहीं

दी जा सकती थी, किन्तु दूसरे वर्ण की कन्या पहिले वर्ण को दी जा सकती थी। परन्तु यह रिवाज भी बहुत समय चल नहीं सकता था क्योंकि इससे शूद्र वर्ण को बहुत आपत्ति का सामना करना पड़ता था। शूद्र कन्याओं को अन्य वर्ण के लोग ले तो लेते थे, परन्तु देते नहीं थे, इसलिये शूद्रों को कन्याओं की कमी होगा स्वाभाविक था। अमुक अंश में वैश्य को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इसलिये एक दूसरा रिवाज चल पड़ा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तो अनुलोम प्रविलास रूपमें विवाह सम्बन्ध करें, और शूद्र शूद्र के साथ ही करें।

प्रारंभ के तीन वर्णों के जीवन के माध्यम में इतना अन्तर नहीं था कि एक वर्ण की कन्या दूसरे वर्ण के कुटुम्ब को सहन न कर सके। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कुटुम्बों में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र करीब करीब एक सरीखा ही रहता है, जब कि शूद्र वर्ण की स्त्रियों को अन्य वर्ण की स्त्रियों की सेवा करने को जाना पड़ता है। इस विषमता के कारण अन्य वर्ण की स्त्रियाँ शूद्र वर्ण से नहीं आती थीं।

इससे यह तो मालूम होता ही है कि पुराने समय में असवर्ण विवाह का निषेध नहीं था। हाँ, स्त्रियों को मानसिक कष्ट न हो, इस खयाल से शूद्रों के साथ प्रविलोम विवाह नहीं होता था। फिर भी स्वयंवर में इस नियम का पालन नहीं किया जाता था, क्योंकि स्वयंवर में वरका चुनाव कन्या ही करती थी। दूसरे लोग इस विषय में सलाह रूपमें भी हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे।

असवर्ण विवाह का विधान और रिवाज होने पर भी ऐसे विवाह अल्पसंख्या में हों, यह स्वाभाविक है, क्योंकि विवाह सम्बन्ध मैत्री का एक उत्कृष्ट रूप है। इसीलिये मैत्री प्रायः समान स्वभाव समान रहन सहन वालों में होती है। इस कड़ावत के अनुसार सबर्ण विवाह अधिक होते थे, असवर्ण विवाहों की संख्या घटने लगी और घटते घटते यहाँ तक पड़ी कि वे बातें इतिहास की हो गईं। परन्तु असवर्ण विवाह के विरोध में

कोई नैतिक बान नहीं कही जा सकती।

आजकल भी असवर्ण विवाह होते हैं, परन्तु उनका रूप बदल गया है। जो लोग कार्य से जुड़े जुड़े वर्ण के हैं उनमें आपस में शादी हो जाती है। एक अध्यापक एक व्यापारी की पुत्री से शादी कर लेगा, एक व्यापारी अध्यापक की पुत्री से शादी कर लेगा। ये सब असवर्ण विवाह हैं, परन्तु इतना विरोध नहीं होता। परन्तु जो लोग जन्म से दूसरे वर्ण के हैं और कर्म से एक ही वर्ण के हैं उनमें अगर शादी हो तो विरोध होता है। इस मनोवृत्ति की मूढ़ता इतनी स्पष्ट है कि उसे अधिक स्पष्ट करने की जरूरत नहीं है। अस-वर्ण विवाह में अगर कोई आपत्ति खड़ी की जा सकती है तो उसका सम्बन्ध कर्म से ही होगा जन्म से नहीं। क्योंकि एक श्री ब्राह्मण कुन में पैदा हुई हो तो उसे शूद्र या व्यापार करनेवाले के घर जाने में संकोच हो सकता है, परन्तु शूद्र कुल में पैदा होनेवाले किन्तु विद्यापीठ में अध्यापकी करनेवाले के घर जाने में क्या आपत्ति हो सकती है ? असवर्ण विवाह का अगर विरोध भी किया जाय तो कर्म से असवर्ण विवाह का विरोध करता चाहिये न कि जन्म से, और कर्म से अस-वर्ण विवाह का विरोध भी वही करना चाहिये जहाँ कन्या का विरोध हो।

बहुत से लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों को जाति का रूप देकर असवर्ण विवाहों का विरोध करते हैं, परन्तु इन वर्णों को जाति का रूप देना ठीक नहीं, क्योंकि जाति की दृष्टि से तो मनुष्य एक ही जाति हैं। वर्ण व्यवस्था तो आर्थिक व्यवस्था के लिये बनाई गई है। जाति का सम्बन्ध आकृति आदि के भेद से है। जैसे हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि में आकृति भेद से जातिभेद माना जाता है वैसे मनुष्यों के भीतर कहीं नहीं माना जाता।

जहाँ जातिभेद होता है वहाँ लैङ्गिक सम्बन्ध कठिन होता है। अगर होता है तो सन्तान की विपत्ति दिखलाई देती है, और कहीं कहीं आगे संतति नहीं चलती। असवर्ण विवाह में

यह बात बिलकुल नहीं देखी जाती। जिन देशों में वर्णव्यवस्थाका ऐसा कट्टर रूप नहीं है और अबाध रूप में असवर्ण विवाह होते हैं, वहाँ सन्तान परम्परा बराबर अच्छे ढंग से चलती है। ब्राह्मणों का शूद्र के साथ भी सम्बन्ध किया जाय तो भी सन्तान-परम्परा अबाध रूप में चलेगी। इसलिये वर्णों को जाति का रूप देना ठीक नहीं।

हाँ, जाति शब्द का साधारण अर्थ समानता है,। वर्णों में अर्थोपार्जन के ढंगकी समानता पाई जाती है, इसलिये इन्हें इस दृष्टि से जाति भले ही कहा जाय, परन्तु इस ढंग से तो टोपीवालों की एक जाति, और पगड़ीवालोंकी दूसरी जाति कही जा सकती है। इसलिये विवाह सम्बन्ध अर्थात् लैंगिक सम्बन्ध के लिये जो जातिभेद हानिकर है, वैसे जातिभेद ही वास्तव में जातिभेद शब्द से कहना चाहिये, जो कि वर्णभेद में नहीं है। इस-लिये जातिभेद की दुहाई देकर असवर्ण विवाह का निषेध नहीं किया जा सकता।

आज तो वर्णव्यवस्था है ही नहीं, अगर हो तो उसका क्षेत्र बाजार में है, रोटी-वेटी-व्यव-हार में नहीं। इसलिये उसके नाम पर मनुष्य जाति के टुकड़े करने की कोई जरूरत नहीं है। घृणा और अहंकार की पूजा करना मनुष्य सरीखे समझदार प्राणी को शोभा नहीं देता। इसलिये इस दृष्टि से भी हमें मनुष्यवर्ण की उपासना करना चाहिये।

उपजाति कल्पना—देश, रंग और आजी-विका के भेद से मनुष्यने जिन जातियों की कल्पना की, उन सबसे अद्भुत और संकुचितता-पूर्ण इन उपजातियों की कल्पना है। कहीं कहीं इनको जाति कहते हैं। परन्तु इनको जाति समझना जाति शब्द का मखौल उड़ाना है। हाँ, रूढ़ शब्द के समान इसका उपयोग किया जाय तो बात दूसरी है।

अनेक प्राचीन में इन उपजातियों को 'जाति' कहते हैं। इसका अर्थ है कुटुम्ब। इस दृष्टि से यह उपयुक्त है। 'न्याय' शब्द भी इसी शब्द का अपभ्रंश रूप है, जो इसी अर्थ में प्रचलित है।

वास्तव में ये उपजातियाँ एक बड़े कुटुम्ब के समान हैं। इनकी उत्पत्ति की जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, उनसे भी यही बात मालूम होती है। जैसे अम्बवालों की उत्पत्ति राजा अम्बसेन से मानी जाती है, उनके अठारह पुत्रों से अठारह गोत्र बने, इस दृष्टि से अम्बवाल एक बड़ा कुटुम्ब ही कहलाया। इस प्रकार ये उपजातियाँ बड़े बड़े कुटुम्ब ही हैं। मित्रवर्ग नातेदार वर्ग भी इसमें शामिल हुआ है।

य उपजातियों में मतभेद स्थावर्भेद आदि के कारण बनी हैं। इनके गोत्र भी इन्हीं कारणों से बने हैं, जिनमें आजीविका वगैरह के भेद भी कारण हैं। जिस जमाने में आने जाने के साधन बहुत कम थे और लोग दूसरे प्रान्तों में बस जाते थे, तब अपने मूलग्राम या प्रान्त के नाम से प्रसिद्ध होते थे। यही नाम गोत्र या उपजाति बन जाते थे। कभी कभी प्रधान पुरुषों के नाम से ये गोत्र बन जाते थे।

संस्कृत के उस पार बसने वाले सरयूपारि आदि के समान भारत में सैकड़ों टुकड़ियों बनी हैं और ये जाति नामसे प्रचलित हैं, यदि सचका इतिहास खोजा जाय तो एक बड़ा पौराण्य अनेक। सचका विधिबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं है। परन्तु उनके नाम ही इतिहास की बड़ी भारी सामग्री है। साथ ही कुछ इतिहास मिलता भी है, उस परसे वाक्य का अनुमान किया जा सकता है धर्मग्रन्थों में भी इन जातियों की उत्पत्ति के विषय में बहुत कुछ लिखा है।

इन जातियों के भीतर शारीरिक, मानसिक या व्यापारिक ऐसी कोई विशेषता नहीं है जो इन की सीमा कही जा सके। अक्सर पड़ने पर किसी सुविधा के लिये कुछ लोगोंने अपना सप बना लिया और उसीके भीतर सारे व्यवहारों को कैद कर लिया। आज इस प्रकार की उपजातियों में ऐसी अनेक उपजातियाँ हैं जिनकी जनसंख्या कुछ सैकड़ों या हजारों में है। ऐसे छोटे छोटे क्षेत्रों में विवाद-सम्बन्ध के लिये बड़ी अलबन पड़ती है और चुनाव के लिये दटना छोटा क्षेत्र मिलता है कि योग्य चुनाव करना बड़ा कठिन है।

फिर जो लोग व्यापारिक आदि सुविधा के कारण दूर बस जाते हैं, उनको दूरस्थ देशों में विवाद-सम्बन्ध की सुविधा होना चाहिये, अन्यथा उनकी वैवाहिक कठिनाइयाँ और बढ़ जायेंगी।

इस प्रकार उपजाति विवाद के विषय में तथा अन्य प्रकार के विजातीय विवादों के विषय में लोग अनेक प्रकार की शंका करने लगते हैं, संकुचित क्षेत्र में विवाद-सम्बन्ध करने के लाभ बनाने लगते हैं। उन पर विचार करना आवश्यक है। इसलिये सजेर में शंका समाधान के रूप में विचार किया जाता है।

शंका—विजातीय विवाद से जातीय संगठन नष्ट होजायगा। संगठन जिनने छोटे क्षेत्र में रहे उतना ही दृढ़ होता है। उसमें उपग्रन्थ भी घड़ी सरलता में घनाई जा सकती है।

समाधान—संगठन की दृढ़ता क्षेत्र की लघुता पर नहीं, भाषना की विशेषता पर है। मुसलमान लोग भारत में अगोड़े हैं, परन्तु उनका जो संगठन है वह हिन्दुओं की किसी जाति का नहीं है। संख्या में छोटी होने पर भी वह संगठन में मुसलमानों की बराबरी नहीं कर सकती। इतर इन छोटे छोटे संगठनों को महत्व देने से बड़ा संगठन रुकता है। हिंदुओं की छोटी छोटी उपजातियों का संगठन समग्र हिंदुओं के संगठन में वाधा पैदा करता है। फिर राष्ट्र का संगठन तो और भी दूर है। इस प्रकार यह छोटा छोटा संगठन दृढ़ता तो पैदा करता ही नहीं है परन्तु विशाल संगठन के मार्ग में रोड़े उठता है। अगर यह दटना पैदा भी करता तो भी विशाल संगठन को रोकने के कारण यह हेय ही होता। दूसरी बात यह है कि छोटी छोटी जातियों के संगठन का आखिर मतलब क्या है? क्या इनका कोई सा स्वरूप है जिस का संगठन के द्वारा रक्षण करना हो? आर्थिक स्वार्थ तो विशेष प्रकार की राजनैतिक सीमा के साथ पैदा हुआ है, उसका इन टुकड़ियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक राष्ट्र के आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थ रक्षण के लिये एक संगठन की बात कही जाय तो

किसी प्रकार ठीक भी है, परन्तु जाति नामक दुःख-
द्वियों का ऐसा विरोध स्वार्थ नहीं है जो एक जाति
का हो और दूसरी का न हो। धार्मिक स्वार्थ की
दुहाई दी जाय तो भी ठीक नहीं है। पहिले तो
धर्मों के स्वार्थ ही क्या हैं ? एक धर्मवाले दूसरे
धर्म पर आक्रमण करें तो धर्म के नाम पर संग-
ठन होना चाहिये, न कि जाति के नामपर, फिर
इन उपजातियों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है।
एक उपजातिके भीतर अनेक धर्म पाये जाते हैं
और एक ही धर्म के भीतर अनेक उपजातियाँ पाई
जाती हैं। इस प्रकार धर्मरक्षण के लिये भी ये
उपजातियाँ कुछ नहीं कर सकती।

कहा जा सकता है कि थोड़ासा दान करके
या शक्ति खर्च करके छोटी जाति को लाभ पहुँ-
चाया जा सकता है, वही जाति में यह काम नहीं
किया जा सकता, अगर समग्र भारत की एक ही
जाति हो तो हमारी थोड़ीसी शक्ति किस काम
आयगी ? उतने बड़े क्षेत्र के लिये उसका उपयोग
ही न होगा।

इस प्रकार का प्रश्न करनेवाले यह बात
भूल जाते हैं कि छोटी छोटी जातियों की कौन न
रहने से जिस प्रकार क्षेत्र विशाल होजायगा उसी
प्रकार शक्तियाँ लगानेवालों की संख्या भी भी तो
बढ़ जायगी। आज जो हम अपनी छोटीसी
जाति के लिये दान करते हैं या जो शक्ति लगाते
हैं उसका लाभ दूसरे नहीं उठापावे, परन्तु दूसरे
भी तो इसी प्रकार अपनी जाति के लिये कार्य
करते हैं जिसका लाभ हम नहीं उठापाते। अगर
इस प्रकार छोटी छोटी जातियों में सब लोग
अपनी शक्ति लगाने लगे तो सभी का विकास
रुढ़ जाय क्योंकि जीवन के लिये जिन कार्यों की
आवश्यकता है उनका शतांश भी एक एक जाति
पूरा नहीं कर सकती। एक दूसरे को अवलम्बन
दिये बिना कोई आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिये
विशाल दृष्टि रखकर ही काम करने की आव-
श्यकता है। इस प्रकार के छोटे छोटे संगठन जितने
साधक हो सकते हैं, उससे कई गुणो बाधक होते
हैं। इसलिये इनका त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

अथवा थोड़ी देर को इनकी जरूरत हो तो
भी विजानीय-विवाह से इनका नाश नहीं होता।
जैसा कि गोत्रों का नाश नहीं होता। स्त्री जन्म
से जिस गोत्र की होती है, विवाह के बाद उसका
गोत्र बदलकर पति का गोत्र हो जाता है। फिर
भी गोत्रों की सीमा नहीं टूटती। इसी प्रकार
इन छोटी छोटी जातियों का भी हो सकता है।
साधारणतः स्त्री पुरुष के घर में जाती है, इस-
लिये स्त्री की जाति वही हो जायगी जो उसके
पति की है। इस प्रकार जाति संगठन का नीत
गानेवालों के लिये ये जातियाँ बनी रहेंगी, और
विवाह का क्षेत्र विशाल हो जाने से सुभीता भी
हो जायगा।

इस विषय में एक बार एक भाई ने कहा
था कि यह तो स्त्रियों का बड़ा अपमान है कि
विवाह से उन्हें अपनी जाति से भी हाथ धोना
पड़े। परन्तु उसे भाइयों को समझना चाहिये
कि अगर इसे अपमान माना जाय तो यह अप-
मान विजातीय विवाह से सम्बन्ध नहीं रखता,
इसकी जड़ बहुत गहरी है। आज कल आखिर
स्त्रियों को गोत्र से और कुटुम्ब से तो हाथ धोना
ही पड़ता है। जहाँ सूतक पातक माना जाता है,
वहाँ विवाह के बाद पितृकुल का सूतक तक नहीं
लगता, और पतिकुल का लगता है। इसलिये
यह अन्याय बहुत दूर का है। जब स्त्रियों का
कुल, गोत्र आदि बदल जाय है तब एक कल्पित
जाति और बदल गई तो क्या हानि हुई ? असली
घात तो यह है कि यह मानापमान का प्रश्न ही
नहीं है। विवाह के बाद स्त्री और पुरुष का
एकत्र रहना तो अनिवार्य है, ऐसी हालत में
किसी एक को दूसरे के यहाँ जाना पड़ेगा, और
अपने को हर तरह उसी घर का बना लेना
पड़ेगा। अगर ऐसा न किया जायगा और कुछ
गोत्र गृह का भेद बना रहेगा तो शम्पत्य-जीवन
अत्यन्त अशान्तिमय हो जायगा। इसलिये दोनों
का एक करना अनिवार्य है। ऐसी हालत में
सुव्यवस्था के लिये स्त्री का गोत्र बदल दिया
गया तो क्या हानि है ? अगर कहीं पुरुष को
स्त्री के घर जाकर रहना पड़े और पुरुष का गोत्र

बल विवाह काय तो भी कोई हानि नहीं है। पर-जमाई के विषय में यही रीति काम में लाई जा सकती है। इसे मानापमान न समझकर समाज को सुव्यवस्था के लिये किया गया त्याग समझना चाहिये। यह स्थापना चाहे स्त्री को करना पड़े चाहे पुरुष को। अगर इस प्रकार पदपद पर मानापमान की कल्पना की जायगी तो समाज का निर्माण करना असम्भव हो जायगा।

खैर, विजातीय विवाह से जातियों का नाश नहीं होता, जिससे संगठन न हो सके। तथा इन छोटे छोटे संगठनों के अभाव से कुछ हानि नहीं होती बल्कि संगठन का क्षेत्र बढ़ जाने से संगठन विशाल होता है।

प्रश्न—विवाह के लिये जातियों की सीमा तोड़ दी जायगी तो अनमेल विवाह बहुत होंगे, क्योंकि छोटी जातियों में पारस्परिक परिचय अधिक होने से एक दूसरे को अच्छी तरह समझ कर विवाह किया जा सकता है। विजातीय विवाह में परिचय को गुंजाइश कहाँ है? इस-लिये अनमेल विवाह या विषम विवाह बहुत होंगे।

उत्तर—विजातीय विवाह का अर्थ अपरिचित के साथ विवाह नहीं है। इन छोटी जातियों के कुछ जुड़े जुड़े देश या राष्ट्र नहीं हैं कि परिचय क्षेत्र में जातियों सीमित रहे। हमारा पड़ोसी, चाहे वह दूसरी जातिका हो, उसका जितना परिचय हमें हो सकता है उतना परिचय अपनी जाति के दूरस्थ व्यक्ति से नहीं हो सकता। यह आवश्यक है कि विवाह के पहिले वर कन्या एक दूसरे के स्वभाव शिक्षण आदि से परिचित हो जाय, परन्तु ऐसा परिचय तो विजातीयों में भी परल है और सजातीयों में भी कठिन है। सच कहा जाय तो सजातीय-विवाह में अल्प क्षेत्र होने न अनमेल विवाह अधिक होते हैं। विजातीय विवाह में चुनाव का क्षेत्र अधिक हो जायगा [सलिये अनमेल विवाह की सम्भावना कम होगी।

प्रारम्भ में अवश्य ही विक्षत होंगे, क्योंकि हर एक जाति का प्रत्येक मनुष्य इस कार्य को तैयार नहीं होता इसलिये विजातीय विवाह का क्षेत्र सजातीय विवाह से भी छोटा मालूम होता है। परन्तु अन्त में विजातीय विवाह का क्षेत्र बढ़ेगा। प्रारम्भ में जो पीड़ा होती हो उसे सहन करना चाहिये। तथा इस सुप्रथा के प्रचारार्थ थोड़ी बहुत मात्रा में ऐसी विधमता को सहन करना चाहिये जो विवाह के बाद थोड़े से प्रयत्न से सुधारी जा सकती हो।

प्रश्न—विजातीय-विवाह से सन्तान संकर हो जायगी। माँ की एक जाति, बाप की दूसरी जाति। तो सन्तान की तीसरी खिचड़ी जाति होगी यह सब ठीक नहीं मालूम होता।

उत्तर—माँ का एक गोत्र, बाप का दूसरा गोत्र होने पर भी जिस प्रकार सन्तान का खिचड़ा गोत्र नहीं होता, उसी प्रकार खिचड़ी जाति न होगी। पितृ परम्परा से जिस प्रकार गोत्र चला आता है उसी प्रकार जाति भी चली आयगी। दूसरी बात यह है कि जब तक इन जातियों की कल्पना का भूत सिर पर सवार है तभीतक खिचड़ी और खिचड़ा की चिन्ता है। जब कि वास्तव में इनका कोई मौलिक अस्तित्व ही नहीं है तब माँ बाप की दो जातियों ही कहाँ हुई जिनके संकर की बात कही जाय? इन जातियों की कोई शारीरिक या मानसिक विशेषता नहीं है जिससे इनमें जुड़ापन माना जाय।

प्रश्न—मन में प्रेम ही क्यों न पैदा किया जाय, जातिपाति तोड़ने से क्या फायदा?

उत्तर—प्रेम की भी आवश्यकता है और जातिपाति तोड़ने की भी आवश्यकता है, बल्कि प्रेम को व्यवहार में लाने के लिये जातिपाति तोड़ना आवश्यक है। बहुत से लोगो में प्रेम पैदा होजाता है पर जातिपाति के कारण सहयोग नहीं होपाता है। दोनों की अपनी अपनी उपयोगिता है। नौ प्रेम तो पशुओं से भी होजाता है पर इससे जातिपाति टूटने से होनवाला सहयोग नहीं होजाता।

परन्तु—भेदभाव तो प्रकृति ने ही पैदा किया है उसे तोड़ना क्या सम्भव है ?

उत्तर—जो भेदभाव प्रकृति ने पैदा किया है, जो अनिवार्य है, उसे नहीं तोड़ना है। किन्तु जो प्राकृतिक नहीं है अनिवार्य नहीं है हानिकारक है, उसे ही तोड़ना है। रंग राष्ट्र जीविका आदिके कारण बनी हुई जातियाँ तथा अन्य उपजातियाँ न प्राकृतिक हैं न अनिवार्य हैं बल्कि कान्सी हानिकारक हैं इसलिये उन्हें तोड़कर एक मानवता पैदा करना चाहिये।

परन्तु—छोटी छोटी जातियाँ होने से कभी कभी धनिक को लड़की को धनिक घर नहीं मिलता इसलिये गरीब घर के साथ उसका विवाह होजाता है। जातिपाति न रहने से धनिक की लड़की को कहीं न कहीं धनिक घर मिल ही जायगा इसप्रकार कभी कभी गरीब घर को जो सौभाग्य प्राप्त होजाता है वह छिन जायगा।

उत्तर—ऐसे सम्बन्धों के मूल में अगर प्रेम नहीं है किसी विशेष कारण से परस्पर आकर्षण नहीं है, योग्य पात्र न मिलने की विवशता है तो यह दोनों का दुर्भाग्य है। लड़की गरीब की हो या अमीर की, धन के कारण उसके मन में या शरीर में कोई सुखकर विरोधता होने का नियम नहीं है। इसलिये गरीब घर को धनिक की पुत्री से कोई विशेष लाभ नहीं है। बल्कि धनिक की पुत्री सर्वांगीणी होगी, शरीरश्रम में कम होगी इसलिये उस घर की पूरी परेशानी है। पर अगर मानलिया जाय कि यह उस घर का सौभाग्य है तो इसी कारण एक धनिक लड़की को गरीब के गले बांध देना पड़े यह उस लड़की का बड़ा दुर्भाग्य भी तो है।

सारा दोटल मिलाने पर ऐसे सम्बन्धों से समाज को लाभ नहीं। एक का जितना लाभ, दूसरे का उससे ब्याप्त नुकसान। जो जिसका लाभ बताया जाता है उसका भी काफी नुकसान है।

हा। ऐसे सम्बन्धों के मूल में प्रेम हो तब कोई हानि नहीं, पर ऐसे प्रेमसम्बन्धों के लिये

जातिपाति के बन्धन बाधा ही डालते हैं। प्रेम-सम्बन्धों के लिये भी जातिपाति तोड़ना जरूरी है।

इसप्रकार और भी शंकाएँ उठाई जासकती हैं जिनका समाधान सरल है। पहिले जो अनेक प्रकार का जातिभेद बताया गया है और वहाँ जो शंकाएँ उठाई गई हैं वे वहाँ भी उठाई जासकती हैं और उनका समाधान भी वही है जो वहाँ किया गया है। तथा वहाँ की शंकाएँ वहाँ भी उठाई जासकती थीं और उनका समाधान भी वही के समान होता।

इस प्रकार मनुष्य-जाति की एकता के लिये हर एक तरह का विजातीय विवाह आवश्यक है। हा, इतनी बात अवश्य है कि स्त्री-पुरुष एक दूसरे को अनुकूल और सख्त अवश्य हों। अगर किसी को काला साथी पसन्द नहीं है, दूसरी भाषा बोलने वाला पसन्द नहीं है तो भले ही यह ऐसा साथी न चुने। परन्तु उसमें इन कारणों की ही दुहाई देना चाहिये, न कि जाति की। दूसरी बात यह है कि अगर दो व्यक्तियों ने अपना चुनाव कर लिया उनमें एक ब्राह्मण है दूसरा शूद्र, एक आर्य है दूसरा अन्तर्धर्म, एक गुजराती है दूसरा मराठी, इतने पर भी दोनों प्रेम से बँधना चाहते हैं तो इसमें तीसरे को—समाज को—हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। विवाह के विषय में “मियाँ बीबी राजी तो क्या करेगा काजी” की कहावत प्रायः चरितार्थ होना चाहिये। अनेक तरह का जो कल्पित जातिभेद है, किसी को उसी के भीतर सुयोग्य सम्बन्ध मिल रहा है और कारखवाश अन्यत्र नहीं मिलता तो वह कल्पित सीमा के भीतर ही सम्बन्ध कर सकता है, इसमें कोई बुराई नहीं है। परन्तु सीमा के भीतर रहने के लिये सुपात्र को छोड़ना और अल्प पात्र को ग्रहण करना बुरा है।

विवाह और सहभोज, ये मनुष्य जाति की एकता के लिये बहुत आवश्यक हैं। वर्यपि कहीं कहीं इनके होने पर भी एकता में कमी रहजाती है, परन्तु इसका कारण विजातीय विवाहों का बहुत अल्प संख्या में होना है। इसलिये इनकी

संख्या बढ़ना चाहिये ।

इतना होने पर भी अभुक्त अन्न में जाति मद्ध रह सकता है उसको भी निमूल करना चाहिये । उसका उपाय अपनी भावनाओं को उदार बनाना है । जब हम पूरे गुणपूजक हो जायेंगे, तब हममें से पक्षपात निवृत्त जायगा । जातिमद्ध के निकलने पर सर्वजातिसमभाव के पैदा होने पर मनुष्य में सहयोग बढ़ेगा, अनावश्यक मगड़े तट्ट होने से शान्ति मिलेगी, शक्ति की वृद्धि होगी, प्रगति होगी । आज मनुष्य की जो शक्ति एक दूसरे के भक्षण में तथा आत्मरक्षण में खर्च होती है, वह मनुष्यजाति के दुःख दूर करने में जायगी । उस शक्ति के द्वारा वह प्रकृति के रहस्यों को जानकर उनका सदुपयोग कर सकेगा । इसलिये हर तरह से मनुष्यजाति की एकता के लिये प्रयत्न करना चाहिये । यह पूर्ण जातिसमभाव योगी का तीसरा चिह्न है ।

४ व्यक्ति-समभाव (सूक्ष्म सम्मभावो)

संयम, ईमानदारी, और सामाजिक सुव्यवस्था की जड़ है व्यक्ति-समभाव । जगत में जितने पाप होते हैं वे सिर्फ इसलिये कि मनुष्य अपने स्वार्थ को सर्वथा से अधिक मुख्यता देता है और दूसरों के स्वार्थ को सर्वथा से अधिक गौण धन्यता है । हिंसा इसलिये करता है कि दुनिया भले ही मरे हमें जीवित रहना चाहिये, मूठ इसलिये बोलता है कि दुनिया भले ही ठगी जाय हमारा काम बनना चाहिये, इसी प्रकार सारे पापों की जड़ यही स्वार्थान्धता है । व्यक्ति-समभाव में मनुष्य अपने स्वार्थ के समान जगत के स्वार्थ का भी खयाल रखता है इसलिये उसका जीवन स्वपरसुखवर्धक और निष्पाप होता है ।

ध्येयदृष्टि अभ्यास में बताया गया है कि विश्वसुखवर्धन जीवन का ध्येय है । इस ध्येय की पूर्ति व्यक्ति-समभाव के बिना नहीं हो सकती इसलिये उस ध्येय के अनुकूल व्यक्ति-समभाव कल्याणवर्धक है ।

व्यक्ति-समभाव के लिये दो तरह की भावना सदा रखना चाहिये । १ स्वोपमता २ चिकित्स्यता ।

स्वोपमता (एमूरो) - स्वोपमता का मतलब है दूसरे के दुःख को अपने दुःख के समान समझना । जिस काम से हमें दुःख होता है उस से दूसरों को भी होता है इसलिये वह काम नहीं करना चाहिये वह स्वापमता भावना है । कर्तव्य-कर्तव्य निर्वाह के लिये यह भावना बहुत उपयोगी है ।

चिकित्स्यता (धिचगेरो) - चिकित्स्यता का मतलब है पापी का शीघ्र समझकर दया करना, उसको दंड देने की अपेक्षा सुधार करने की चेष्टा करना, अगर क्षमा करने का उस पर अच्छा प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो तो उसे क्षमा करना ।

प्रश्न—अगर मनुष्य सब जीवों को स्वोपम समझने लगे तब तो उसका जीना मुश्किल हो जाय क्योंकि वनस्पति आदि के असंख्य प्राणियों का नाश किये बिना वह जीवित नहीं रह सकता उनको स्वोपम-अपने समान-समझने से कैसे काम चलेगा ?

उत्तर—ध्येयदृष्टि अभ्यास में अधिक से अधिक प्राणियों के अधिक से अधिक सुख का वर्णन किया गया है, स्वोपमता का विचार करते समय उस ध्येय को न भुलाना चाहिये उसमें चैतन्य की मात्रा का विचार करके आत्मरक्षा के लिये काफी गुंजाइश बचाई गई है ।

प्रश्न—जहां चैतन्य की मात्रा में विषमता है वहाँ ध्येय दृष्टि का एक सिद्धांत काम आ जायगा पर मनुष्यों मनुष्यों में भी स्वोपमता का विचार नहीं किया जा सकता । एक न्यायाधीश अगर यह सोचने लगे कि अगर मैं चोर के स्थान पर होता तो मैं भी चाहता कि मुझे दंड न मिले इसलिये चोर को दंड न देना चाहिये । इस प्रकार की उदारता से पापियों की वन आयगी । जगत में पाप निरंकुश हो जायेंगे ।

उत्तर—पर न्यायाधीश को यह भी सोचना चाहिये कि अगर मेरे घर की चोरी हुई होती तो मैं भी चाहता कि चोर को दण्ड मिले। इसप्रकार स्वोपमता का विचार सिर्फ चोर के विषय में ही नहीं करना चाहिये किन्तु उसके विषय में भी करना चाहिये जिसकी चोरी हुई है। अपराधी या पापी लोगों का विचार करते समय सामूहिक हित के आधार पर बने हुए नैतिक नियमों की अवहेलना नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—यदि अपराधी को दण्ड-विधान का नियम उद्यो का ल्यों रहा तो चिकित्सकता का क्या उपयोग हुआ ?

उत्तर—दण्ड भी चिकित्सा का अंग है। अपराध एक बीमारी है उसकी चिकित्सा कई तरह से होती है। सामाजिक सुन्यवस्था के लिये जहाँ दण्ड आवश्यक हो वहाँ दण्ड देना चाहिये पर दण्ड व्यक्ति पर रोषवश अतिदण्ड न हो जाय इसका खयाल रखना चाहिये। और हृदय के भीतर उसके दुःख में सहानुभूति और दया होना चाहिये। यही दण्ड के चिकित्सापन का चिह्न है।

प्रश्न—दण्ड यदि चिकित्सा है तो मृत्यु-दण्ड तो किसी को दिया ही क्यों जायगा ? क्योंकि मरने पर उसकी चिकित्सा कैसे होगी ?

उत्तर—चिकित्सा का काम सिर्फ आये हुए रोग को दूर हटाना ही नहीं है किन्तु रोगों को पैदा न होने देना और उनको उच्छेजित न होने देना भी है। मृत्यु-दण्ड का भय लाखों पापियों के मन में पाप उच्छेजित नहीं होने देता इसलिये उसका विधान भी चिकित्सा का अंग है। नि सन्देह मृत्युदण्ड पानेवाले की चिकित्सा इसमें अच्छी नहीं हो पाती है परन्तु अन्य लाखों की चिकित्सा होती है। समाज शरीर के स्वास्थ्य के लिये उसके किसी विषय के अंश को हटाना पड़े तो हटाना चाहिये।

प्रश्न—मानलो क्षमा करने का उसपर अच्छा प्रभाव पड़ता है पर जिसका उसने अप-

राध किया उसको असन्तोष रहता है। तब चिकित्सा के लिहाज से उसे क्षमा किया जाय या पीड़ित के सन्तोष के लिये पीड़क को दण्ड दिया जाय ?

उत्तर—यदि पीड़ित को सन्तोष न हो तो पीड़क को उचित दण्ड मिलना चाहिये। अन्यथा पीड़ित के मन में प्रतिक्रिया होगी और वह किसी दूसरे उपाय से बदला लेने की कोशिश करेगा ? बदलेमें मर्यादाका अतिक्रम और अन्धाधुन्वी होने की पूरी सम्भावना है। अगर वह बदला न भी ले तब भी उसका हृदय जलता रहेगा उसे न्याय के प्रति अविश्वास हो जायगा। क्षमा का उपयोग अधिकतर अपने विषय में करना चाहिये। अगर अपना हृदय निर्वैर होगया हो और क्षमासे पीड़क के सुधरनेकी आशा हो तब क्षमा करना उचित है।

प्रश्न—कभी कभी ऐसा अवसर आता है कि कोई कोई काम अपने को बुरा नहीं मालूम होता और दूसरे को बुरा मालूम होता है। जैसे अपने को एकान्त में बैठना अच्छा मालूम होता हो दूसरों को बुरा मालूम हो, घास खाना अपनेको बुरा मालूम होता हो और घोड़ेको अच्छा मालूम होता हो, अपने को कपड़ा पहनना अच्छा मालूम हो दूसरों को बुरा मालूम होता हो, ऐसी हालत में स्वोपमता का विचार हम उनके बारे में करलें तो हमारी और उनकी परेशानी है। व्यवहार में भी बड़ी अड़चन आयगी।

उत्तर—स्वोपमता का विचार कार्य की रूप-रेखा देखकर न करना चाहिये किन्तु उसका प्रभाव देखकर करना चाहिये। अन्तिम बात यह देखना चाहिये कि वह कार्य सुखजनक है या दुःखजनक। सुख जैसा हमें प्यारा है वैसा दूसरों को भी प्यारा है इसलिये जैसे हम अपने सुख की पवहि करते हैं वसी प्रकार दूसरों के सुख की भी करना चाहिये। विचार सुखदुःखका है इसलिये जो काम हमें सुखजनक हो और दूसरे को सुखजनक हो वह काम हम करेंगे। अगर बीमारी के कारण हमें भोजन की जरूरत नहीं है और भूख के कारण दूसरे को है तो अपने समान

दूसरे को उपवास करना स्वोपमता नहीं है, स्वोपमता है यह कि हम अगर बीरोग होते और भूखे होते तो हम क्या चाहते वही दूसरे को देना चाहिये।

प्रश्न—जगत में सुखी अल्पसुखी दुर्गुणी आदि अनेक तरह के प्राणी हैं उन सब को अगर अपने समान समझा जाय तो सब को बराबर समझना पड़ेगा। पर यह तो धन्यै ही हुआ। अगर उनको बराबर न समझा जाय तो स्वोपमता कैसे रहेगी ?

उत्तर—स्वोपमता के लिये सब को एक बराबर समझने की जरूरत नहीं है किन्तु योग्यता-नुसार समझने की जरूरत है। जैसे हम चाहते हैं कि हमारी योग्यता की अवहेलना न हो उसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि दूसरों की योग्यता की अवहेलना न हो। यही स्वोपमता है। जगत्सर्वक और स्वार्थी को एक समान समझना स्वोपमता नहीं है। पर अपने समान सभी को नि:पक्ष न्याय देना स्वोपमता है।

प्रश्न—नि पक्ष न्याय देना एक प्रकार से 'प्रत्यय' है क्योंकि अगर हम अपनी वज्रति करते हैं तो भी दूसरों के साथ अन्याय करते हैं। वही गंगा घातना आमान धनजाना एक प्रकार से दूसरों के साथ अन्याय ही है क्योंकि इससे दूसरों पर शोभ पड़ता है। जहां दूसरे से बड़ आने या विचार है वहां स्वोपमता कैसे रह सकती है ?

उत्तर—व्यक्तिसमभाव या स्वोपमता से मनुष्य का विश्वास नहीं रहता और न सचित विवेक मानव समाज के ऊपर प्रेम हो सकता है। जब हम निर्दोष-विमूढ़ हो रहे हों अपनी वैयक्तिक या सामूहिक विपत्ति से हटकरा पाना चाहते हैं तब कोई हमसे अधिक बुद्धिमान विवेकवानों परंपराओं हमारी विपत्ति दूर करने के लिये प्रयत्न करे तो वह हमें प्रेम न होगा। हम उनका पालन सदा के लिए अपने को दायर मानेंगे प्रमत्त होंगे। सेवा परंपरा आदि से तो मनुष्य मानव बनता है उसमें जगत्

को आनन्द ही मिलता है। इस महत्ता का मूल स्वोपमता है। जैसे हम चाहते हैं कि विपत्ति में हमें कोई सहाय दे, अंधेरे में रास्ता बताये, उसी तरह दुनिया भी चाहती है तब हम दुनिया के लिये अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं तो उसको चाह पूरी करते हैं। इसमें दुनिया पर प्रेम क्या ?

हां, जहां मनुष्य दुनिया को कुछ देता तो है नहीं। और अधिकार यश आदर सम्पत्ति आदि पाजाता है तब वह अवश्य दुनिया को प्रेम हो जाता है। इसमें स्वोपमता का नाश भी होता है।

जैसे हम नहीं चाहते कि हमें कुछ सेवा दिये बिना कोई हमसे उसका बख्शा धन यश आदर विनय पूजा आदि के रूप में ले जाय उसी प्रकार दूसरे भी चाहते हैं। ऐसी हालत में हम अगर जनता से झल पल से घन यश आदर पूजा अधिकार की लूट कर लेते हैं तो यह जनता पर अन्याय है, स्वोपमता का अभाव है।

स्वोपमता या व्यक्ति-समभाव न तो कोई अन्धेराही है न अविवेक है, न इसमें विकास की रोक है, इसमें तो सिर्फ अपने न्यायोचित अधिकारों के लिये जैसी भावना रहती है वैसी ही दूसरों के लिये रखने की भाव है। विश्व-कल्याण के विचार का भी ख्याल रखना आवश्यक है।

संयम या वारिज का वर्णन व्यक्ति-समभाव का विशेष भाग्य समझना चाहिये। योगी में संयम का मूल यह व्यक्ति-समभाव होता ही है।

५ अवस्था-समभाव (जिज्ञो सम्मभावो)

बुद्धता की निशानी योगी जीवन की अन्तिम श्रेणी यह अवस्था-समभाव है। यद्यपि सुख दुःख का सम्बन्ध बाह्य परिस्थितियों से काफी है फिर भी अवस्था-समभावी बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव मन पर नहीं पड़ने देता। वह बाह्य के दुःख में भी शान्त रहता है और बाहर के सुख में भी शान्त रहता है।

अवस्थासमभाव तीन तरह का होता है सात्विक, राजस, तामस। योगी का समभाव सात्विक होता है।

सात्विक (पुमोपेर)- जिस समभाव में दुःखकारणों पर मोह नहीं होता, जीवन को एक खेल समझकर सुखदुःख को शान्तता से सहा जाता है, जिस का मूल मन्त्र रहता है—

दुःख और सुख मन की भाया।
मनन ही संसार बसाया ॥

मन को जीता दुनिया जीती हुआ भवोदधिपार
नहीं है दूर मोक्ष का द्वार ॥

राजस (धुमोपेर)- राजस अवस्थासमभाव में एक जोश या उत्तेजना रहती है। वह मारने की आशा में मरने से भी नहीं डरता, गिरी हुई परिस्थिति में वह शान्तता से सब सहता है पर हृदय निर्बल नहीं होता। जरा उँची श्रेणी के योद्धाओं में यह भाव पाया जाता है।

तामस (धुमोपेर)- यह जड़ तुल्य या पशु-तुल्य प्राणियों में पाया जाता है। इसमें न तो संयम है न चरिता, एक तरह की जड़ता है। इसमें अपनी विवशता का विचार कर अन्याय या अत्याचार सहन कर लिया जाता है। अन्याय और अत्याचारी का भी अभिनन्दन किया जाता है। इसका मन्त्र रहता है—

कोष नृप होय हमे का हानी।
चेरि छोड़ होवै नहिं रानी ॥

पराधीन देश के गुलामी मनोवृत्ति वाले मनुष्यों में यही तामस समभाव पाया जाता है। जानवरों में या जानवर के समान मनोवृत्ति रखनेवाले मनुष्यों में भी यही समभाव होता है।

सात्विक समभाव संयम पर, राजस समभाव साहस पर, तामस समभाव जबतापर निर्भर है। योगी सात्विक समभावी होता है।

इस सात्विक समभाव को स्थिर रखने के लिये नाट्यभावना, चक्षुस्त्व भावना, लघुत्व भावना, महत्त्व भावना, अनृत्यत्व भावना, कर्मव्य

भावना, अद्वैत भावना आदि नाना तरह की भावनाएँ हैं।

१ नाट्यभावना (नटभावो)- एक सुपात्र नाटक में कभी राजा बनता है कभी भिखारी बनता है कभी जीतता है कभी हारता है पर नाटक के खिलाड़ी का ध्यान इस बात पर नहीं रहता। वह जीतने हारने की चिन्ता नहीं करता वह तो सिर्फ यही देखता है कि मैं अच्छी तरह खेलता हूँ या नहीं ? इसी प्रकार जीवन भी एक नाटक है इसमें किसी से वैर और मोह क्यों करना चाहिये। यह तो खेल है। दो मित्र भी विरोधी बनकर खेल खेलते हैं तो क्या उनमें वैर होजाता है। पति पत्नी भी आपस में शतरंज चौपड़ आदि के खेल खेलते हैं और एक दूसरे को जीतना चाहते हैं तो क्या वैर हो जाता है। अपने प्रतिद्वन्द्वियों को खिलाड़ी की तरह प्रेम की नजर से देखो। सच्चे खिलाड़ी जिस प्रकार नियम का भंग नहीं करते भले ही जीत हो या हार, इसी प्रकार जीवन में भी नीति का भंग मत करो भले ही जीत हो या हार। नाट्यभावना ऐसी ही होती है।

प्रश्न-खेल में प्रतिस्पर्धा होने पर भी जो मन में मित्रता रहती है उसका कारण यह है कि खेल के बाहर जीवन मित्रतामय रहता है उसका ध्यान हमें बना रहता है, खेल के पहिले और पीछे हमें व्यवहार भी वैसा करना पड़ता है, पर जीवन का खेल तो ऐसा है जो जीवनभर रहता है उसके आगे पीछे का सम्बन्ध तो हमें ज्ञात ही नहीं रहता जिसके स्मरण से हम जीवन का खेल मित्रता के साथ खेल सकें। पतिपत्नी दिनरात प्रेम से रहते हैं इसलिये घड़ी दो घड़ी को खिलाड़ी बनकर प्रतिस्पर्धी बन गये तो दिनभर के सम्बन्ध के कारण घड़ी दो घड़ी को प्रतिस्पर्धी विनोद का रूप ही धारण करेगी परन्तु जीवन का खेल तो जीवन भर खलास नहीं होता तब खेल के बाहर का समय हम कैसे पा सकते हैं जब समभाव आदि रहे। जीवनभर खेलना है तो खिलाड़ी की तरह लड़ना रूगडना भी है यहाँ

समभाव कैसे आया ?

उत्तर—दिन में एक समय ऐसा भी रक्खो जिस समय यह सोच सकें कि हम नाटकशाला के बाहर हैं। यह समय प्रार्थना नमाज सन्ध्या आदि का भी हो सकता है या सुबह शाम घूमने का भी हो सकता है या और भी कोई समय हो सकता है, जिस समय एकान्त मिल जाय या मन दुनिया की इस नाटक शाला से बाहर खींच ले जाय। इस समय विश्वबन्धुत्व से अपना हृदय भर रहना चाहिये और दुनियाधारी के समस्त मते रिस्ते वैर विरोध भूल जाना चाहिये। यह समय है जिसकी वाद हमें जीवन का नाटक खेलते समय आती रह सकती है।

दूसरी बात यह है कि जिस कार्य को लेकर हमारी प्रतिस्पर्धा आदि हो उस कार्य में हम नाटकशाला के भीतर हैं बाकी अन्य समय ये बाहर। मानलो दो आदमी राजनैतिक या सामाजिक आन्दोलन में भाग ले रहे हैं उनमें मतभेद है या स्वार्थभेद है तो जब तक उस आन्दोलन से सम्बन्ध है तब तक मतभेद या स्वार्थभेद सम्बन्धी व्यवहार है बाद में सम्भवतो हम नाटकशाला के बाहर हैं।

जब तक बाजार में हो तब तक व्यापारी का खेल खेले। घर में आकर बाजारके कामोंको इस प्रकार देखो जैसे एक खिलाड़ी अपने खेले गये खेल को देखता है। नाटक का खिलाड़ी रंगमंच के बाहर यह नहीं सोचते कि राजा ने क्या दिया और नौकर को क्या मिला। वे यही सोचते हैं कि राजा कैसा खेला नौकर कैसा खेला, राम कैसा खेला रावण कैसा खेला। खेल का विरोध खेल के बाहर नहीं रहता। इसी प्रकार बाजार की बातों पर घर में दर्शक को तरह विचार करो घर की बातों का बाजार में या घर के बाहर दर्शक की तरह विचार करो, इस प्रकार वैर विरोध स्थायी कभी न होने दो। प्रार्थना नमाज सन्ध्या आदि के समय सब दुर्वासनाएँ हटा दो, सारे जीवन को दर्शक की तरह देखो। इस प्रकार समभाव आ जायगा।

प्रश्न—बहुत से प्राणी ऐसे होते हैं जिन्हें समाज का शत्रु कह सकते हैं। जो खुरी हैं, डाकू हैं, शिष्टों के साथ मलात्कार करते हैं ऐसे लोगों से जब प्रसंग पड़ जाता है तब उनके विषय में निर्द्वैत कैसे हो सकते हैं वल्कि उन लोगों को जय भी मौका मिले तभी दण्ड देना चाहिये। जब वे लोग खून या न्यभिचार करें तब उनसे वैर करें और बाकी समय में उनसे मित्र के समान व्यवहार करें तो इसका कोई अर्थ नहीं। पापी जब ऐसी सुविधाएँ पायेंगे तो उनके पाप निरंकुश होजायेंगे।

उत्तर—जो समाज का ऐसा शत्रु है उसे दण्ड देना उचित है और जब मौका मिले तभी दण्ड देना चाहिये। पागल कुत्ते को मार डालना ठीक है, फिर भी यह याद रखना चाहिये कि वह बीमार है, उससे वैर नहीं है, पर समाज के रक्षण के लिये उसे मार डालना ठीक समझा गया है। इसलिये हम प्रार्थना में बैठें तो पापी के विषय में भी हमारे मन में निर्द्वैत वृत्ति आना चाहिये। उस समय तो नाटक के खिलाड़ी नहीं रहना चाहिये। हमारे जीवन में कठोर या कोमल कैसा भी कर्तव्य आवे वह कर्तव्य करना उचित है, नाट्यभावना उसका विरोध नहीं करती पर एक तरह की निर्द्वैत वृत्ति पैदा करती है, जिससे हम सफलता असफलता महत्व लघुत्व की पर्वाह न करके शान्त रह सकते हैं।

प्रश्न—जब योगी नाटक के पात्र के समान जीवन का खेल खेलता है तब उसका द्वेष नकली होता है प्रेम भी नकली होता है। अगर कोई पति ऐसा योगी है तो वह अपनी पत्नी से ऐसा ही नकली प्रेम करेगा, पत्नी भी ऐसा ही प्रेम करेगी, यह तो एक तरह की वंचना है और क्षणिक भी

उत्तर—योगीमें मोह नहीं प्रेम होता है। यह प्रेम वंचना नहीं है। वंचना यहाँ है जहाँ प्रेम के अनुसार कार्य करने की भावना न हो, मन में विश्वासघात का विचार हो। योगी का प्रेम सच्चा होता है, निश्चल होता है, स्थिर होता है। मोही का प्रेम रूप के लिये होगा या किसी और

स्वार्थ के लिये होगा, रूपादि के नष्ट होने पर या स्वार्थ नष्ट होने पर नष्ट हो जायगा पर योगी का प्रेम कर्तव्य समझकर होगा वह स्वार्थ नष्ट होने पर भी कर्तव्य समझकर रहेगा। इसलिये मोदी की अपेक्षा योगी का प्रेम अधिक स्थिर है।

२ क्षणिकत्वभावना (अलोपेरोभावो) — धन वैभव सुख दुःख आदि क्षणिक हैं, अनित्य हैं, किसी न किसी दिन चले जाँयगे, इस प्रकार की भावना से भी अवस्थासमभाव पैदा होता है। हर एक आदमी को अपने मन में और अपने कमरे में यह लिख रखना चाहिये कि 'यं दिन चले जाँयगे'। अगर ये दिन वैभव के हैं तो भी चले जाँयगे इसलिये इनका अहंकार न करना चाहिये। अगर ये दिन दुःख के हैं तो भी चले जाँयगे इसलिये दुःख में घबराना न चाहिये। इस प्रकार क्षणिकत्व भावना से अवस्थासमभाव पैदा होता है, सुख दुःख में शान्ति होती है।

प्रश्न—इस प्रकार अवस्थासमभाव से तो मनुष्य निरुपमी होजायगा। अन्यथा हो रहा है तो वह सहन कर जायगा कि आखिर यह एक दिन चला ही जायगा, ऐसा आदमी राष्ट्रीय सामाजिक अपमानों को भी सह जायगा।

उत्तर—भावनाएँ कर्तव्य में स्थिर करने के लिये हैं, अगर भावना विश्वकल्याण में बाधक होती है तो वह भावनाभास (निभावो) है।

अवस्थासमभाव का प्रयोजन यह है कि मनुष्य सुख दुःख में लुब्ध होकर कर्तव्यहीन न होजाय। मोह और चिन्ता उसके जीवन को कर्तव्यशून्य न बना दें। क्षणिकत्व भावना का उपयोग भी इसी तरह होना चाहिये।

क्षणिकत्व भावना के समय यह विवेक न भूलना चाहिये कि विपत्ति और सम्पत्ति क्षणिक होने पर भी प्रयत्न करने से कल जानेवाली विपत्ति आज ही जा सकती है और आज जानेवाली सम्पत्ति कल तक रुक सकती है।

भावनाओं के विषय में यह स्थास ध्यान में रखना चाहिये कि जिस कार्य के लिये उनका

उपयोग है उसी में उनका उपयोग करना चाहिये। नियम, जोकि अनेक दृष्टियों के विचार से बनाये जाते हैं उनका भी दुरुपयोग हो जाता है फिर भावना तो सिर्फ किसी एक दृष्टि के आधार से बनाई जाती है उनकी दृष्टि के विषय में जरा भी गड़बड़ी हुई कि वे निरर्थक ही नहीं, अन्तर्धर हो जाती हैं। इसलिये वह बात सदा ध्यान में रखना चाहिये कि हर एक भावना और नियम स्वपरहित या विश्वकल्याण के लिये है। स्वपरहित में थोड़ी भी बाधा हो तो समझो उस भावना या नियम का दुरुपयोग हो रहा है।

३ लघुत्वभावना (कीतोभावो) — अमुक चीज नहीं मिली, अमुक ने ऐसा नहीं किया इत्यादि आशाओं का पारा इसलिये विशाल होता जाता है कि मनुष्य अपने को कुछ अधिक समझता है इसलिये उसका अहंकार पद-पद पर उभड़ता है और उसे दुखी करता है, साथ ही जगत को भी दुखी करता है। पर मनुष्य अगर यह सोचले कि इस विशाल विश्व में मैं कितना लघु हूँ छुद्र हूँ। प्रकृति का छोटासा प्रकोप, मेरी छोटी-सी गलती, इस जीवन को नष्ट कर सकती है। जगत में एक से एक बढ़कर धनी, बली, स्वस्थ, विद्वान, अधिकारी, तपस्वी, कलाकार, वैज्ञानिक, कवि, सुन्दर, यशस्वी पढ़े हुए हैं, मैं किस किस बात में उनका अतिक्रमण कर सकता हूँ। अगर दुनिया ने मुझे महान नहीं समझा तो इसमें क्या आश्चर्य है। मनुस्वत में पढ़े हुए रेती के किसी कण को पथिकों ने नहीं देखा, नहीं ध्यान दिया, तो इसमें उस कण को बुरा क्यों लगना चाहिये? इस प्रकार लघुत्व भावना से मनुष्य का अहंकार शान्त होता है और अपमान या अपेक्षा का कष्ट कम हो जाता है। पर यह ध्यान रहे कि लघुत्व भावना आत्मगौरव नष्ट करने के लिये नहीं है।

प्रश्न—लघुत्व भावना से अहंकार नष्ट हो जाता है फिर आत्मगौरव कैसे बचेगा? अहंकार और आत्मगौरव में क्या अन्तर है?

उत्तर—अहंकार में दूसरे की अनुचित अवहेलना है, आत्मगौरव में अपने किसी विशेष

गुण का उचित आश्रय है। अहंकार दुःखद है प्रात्मगौरव सुखद है। आत्मगौरवहीन मनुष्य झूठ ही दूसरों की परेगानियों बढाता है, उनका समर्थन करता है वन पर चोभ बसता है वन्हे संकोच में डालता है, इसलिये आत्मगौरव आवश्यक है। इतना खयाल रहे कि आत्मगौरव के नाम पर अविनय न होने पावे। उचित चिन्तन रहना ही चाहिये।

४ महत्त्वभावना (बोगोभावो) - जब हमारी कोई हानि हो जाय, हम निराशा या असन्तुष्ट हो जायें, मन में बीनता दयनीयता का राज्य जम जाय, उत्साह नष्ट हो जाय, तब हम महत्त्व भावना का उपयोग करना चाहिये। महत्त्व भावना के विचार इस प्रकार होते हैं।

संसार में एक से एक बढ़कर दुखी पड़े हुए हैं। किसी को भरपेट बाने को नहीं मिलता, कोई रोग के मारे तड़प रहा है कोई स्थायी बीमारियों का शिकार है किसी के पुत्र पनि मिता आदि मर गये हैं, किसी को गत भर विश्राम करने के लिये स्थान भी नहीं है उनसे बेसी अवस्था अच्छी है। मेरे ऊपर एक था दो आपत्तियों हैं पर चारों तरफ से दुःखी पददलित मनुष्य सं यह संसार भरा पड़ा है, बेरी दशा ना उनस काकी अच्छी है, फिर मुझे इस प्रकार दुःखी होने का क्या अधिकार है ?

स्वास्तिक ने एक एक से बढ़कर बना दिया।

सौसे बुरा तो एक से अच्छा बना दिया ॥

मैं एकाध से अच्छा हूँ वही क्या कम है ?

इस भावना से मनुष्य की बदराहट दूर हो जाती है। हृदय को एक प्रकार की सान्त्वना मिलती है।

पर इस भावना का उपयोग अवलति के गढ़े में पड़े रहने के लिये न करना चाहिये। अपनी और जगतकी उन्नति करनेके लिये, अन्याय अत्याचारों को दूर करने के लिये, सदा प्रयत्न करते रहना जरूरी है। जब निराशा होने लगे उत्साह सग होने लगे तब इस भावना का चिन्तन करना चाहिये।

५ अनुरागभावना (रुओभावो) - मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये सबसे आगा लगाया जाता है - वह हमें धन देरे वह अमुक सुविधा देरे आदि। जब यह आशा पूरी नहीं होती तब उसका द्वेष करता है दुःखी होता है। उपरे लिये अनुरागत्व भावना का विचार करना चाहिये कि किसी पर मेरा कोई अणु नहीं है इसलिये अगर किसी ने मेरा अमुक काम नहीं किया तो इसमें दुःख को क्या वान है। जब पैदा हुआ था तब मेरे पास क्या था। न धन था न बल, न बुद्धि विद्या। यह सब समाज से पाया इसलिये अगर इसका फल समाज को वा किसी दूसरे को दे दिया तो इसमें किसी पर मेरा क्या अणु हो गया। यह तो लिये हुए अणु का अमुक अंश में चुकाना हुआ। इस प्रकार किसी पर अपना अणु न समझने में दूसरे से पाने की लालसा लीए होजानी है और न पाने से विशेष खेद नहीं होता, समभाव बना रहता है।

६ कर्ण्य भावना (लंमत्तोभावो) - मैंने अमुक का यों किया और अमुक का त्यों किया इस प्रकार के विचारों से मनुष्य दूसरों को अपन से तुच्छ समझने लगता है और दूसरों के श्रम पर मौज करना अपना हक समझ लेता है। इससे संघर्ष और द्वेष बढ़ता है और अपनी अकर्मयत्ता के कारण दुनिया की प्रगति भी रुकती है इसके लिये कर्ण्य भावना का उपयोग करना चाहिये।

मनुष्य कर्म किये बिना रह नहीं सकता विश्राम का आनन्द सभी तक है जबतक उसके आगे पीछे कर्म है, अन्यथा कर्महीन विश्राम एक जलखाना है या जडता है। इस प्रकार कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है ऐसी हालत में उसे कुछ न कुछ करना तो पड़ना ही, तब यदि उसके कम से किसी को कुछ लाभ हो गया तो वह दूसरे पर अहसान क्यों लादे ? जुगन् स्वभाव से चमकता हुआ जाता है उससे अगर किसी को प्रकाश मिल गया तो जुगन् उस पर अहसान क्यों बता-या ? परोपकार को स्वाभाविक कर्मा समझकर

किसी व्यक्तिविशेष पर अहसान का शोक न लादना कर्तव्य भावना है।

अद्वैत भावना (नोनुमोभावो)—सब संघर्ष और पापों के मूल में द्वैत है। जिसको पर समझा उसको स्वार्थ से संघर्ष हुआ और पाप आया। जहाँ अद्वैत है वहाँ हानि लाभ का विचार भी नहीं रहता। अपनी हानि होकर दूसरे का लाभ हुआ वो वह भी अपना लाभ माहूम होने लगता। हमारा अन्न जब वेदा वेदों परनी भाई माँ बाप आदि खा जाते हैं तब यह विचार नहीं होता कि इनने कितना कमाया और कितना खाया, सब के साथ अद्वैत भावना होने से यही मालूम होता है कि हमने कमाया हमने ही खाया।

विश्व के साथ जिसकी यह अद्वैत भावना है वह दुःखी रहकर भी दूसरों को सुखी देखकर सुखी होता है। जैसे बाप भूखा रहकर भी बच्चों को खाते देखकर प्रसन्न होता है उसी प्रकार अद्वैतभावनाशील मनुष्य जगत् को सुखी देखकर प्रसन्न रहता है इससे भी हर एक अवस्था में बह सन्तुष्ट रहता है।

पहिले भी कहा जा चुका है कि भावनाओं का दुरुपयोग न करना चाहिये, न अनुचित स्थान या अनुचित रीति से उपयोग करना चाहिये। साथ ही इतना भी समझना चाहिये कि अवस्था-समभाव अपने को अधिक से अधिक प्रसन्न रखने, निराशा और निरुत्साह न होने के लिये है, कर्तव्यता का नाश करने के लिये नहीं। हम मूर्ख हैं तो मूर्ख बने रहें, हम गुलाम हैं तो गुलाम ही बने रहें, जगत् में अन्याय अत्याचार होते हैं तो चुपचाप देखते रहें यह अवस्थासमभाव नहीं है, यह जड़ता है पामरता है। अवस्थासमभावी वही है जो दुःख सुख की पर्वाह किये बिना कल्याण में लगा रहता है, जिसे सफलता असफलता की भी पर्वाह नहीं होती, कोई भी विपत्ति जिसे विचलित नहीं कर सकती, कोई प्रलोभन जिसे लुभा नहीं सकता, जिसे कोई हठोत्साह नहीं कर सकता।

योगीकी लब्धियाँ (जिम्मे रिद्धोले)

अवस्था समभाव के प्राप्त होने पर मनुष्य योगी बनजाता है, वह अनेक श्रद्धा सिद्धियों को पा जाता है। श्रद्धा सिद्धि का मतलब अहिंसा महिमा आदि कल्पित और भौतिक शक्तियों से नहीं है किन्तु उस आध्यात्मिक बल से है जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य विजयी बनता है, आत्म विकास और विश्वकल्याण के मार्ग की सारी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता है, अन्वस्तल के सारे मूल धो डालता है। योगी की ये आध्यात्मिक लब्धियाँ तीन हैं— १—विघ्न-विजय २—निर्भयता ३—अकषायता।

१ विघ्न-विजय (बाधो लयो)—स्वपरकल्याण के मार्ग में चार तरह के विघ्न आते हैं १ विपत् २ विरोध ३ लपेक्षा ४ प्रलोभन। योगी इन चारों पर विजय करता है।

१ विपत् विजय (मुसोबो)—बीमारियों धनह्य या साधनह्य, सहयोगीका वियोग आदि नाना तरह की विपदाएँ हैं जो मनुष्यों पर आती हैं—योगियों पर भी आती हैं परन्तु योगी उनकी पर्वाह नहीं करता, उसका हृदय कर्तव्य से विचलित नहीं होता। बीमारी से शरीर अशक्त होने से उनका शरीर कुछ निष्क्रिय भले ही हो साथ पर हृदय निष्क्रिय नहीं होता। कल्याण के मार्ग पर चलने से या विश्वसेवा करने से मैं बीमार हो गया, अब यह काम न करूँगा इस प्रकार उस का उत्साह भंग नहीं होता। हा, बीमार होना दुनिया पर शोक लादना है जगत् में दुःख बढ़ाना है, इसलिये बीमारी से बचने का यत्न करता है। पर शरीर जितना काम कर सकता है उतना काम करने में वह अपने हृदय को निर्बल नहीं बनाता।

धन का चय हो जाय, वचित साधन न मिले सहयोगी न मिलें तो भी वह हाथपर हाथ रखकर बैठकर नहीं रह जाता। अपनी शक्ति का वह अधिक से अधिक उपयोग किसी न किसी तरह अपने बढ़ने के लिये करता ही है। परगति हो न हो या कम हो पर उसके लिये वह अपनी

शक्ति लगाता ही रहता है। विपत्तियों उसने उत्साह को मार नहीं सकती। यही उसकी विपत्त-विजय है।

२ विरोध-विजय (कूलरो जयों) - जनसेवा और आत्म-विकास के कुछ काम तो ऐसे होते हैं जिनमें विपत्तियाँ भले ही रहे पर विरोध नहीं होता या नाममात्र का होता है। आप किसी रोगी का इलाज करे कोई काज्य लिखें किसी को दान दें परिचर्या करें इत्यादि कामों में शारीरिक या आर्थिक विपत्ति की अधिक सम्भावना है विरोध की कम। पर सामाजिक रुढ़ियों को हटाने का प्रयत्न करें, लोगों के विगड़े विचार सुधारने की कोशिश करे तो विरोध की अधिक सम्भावना है। योगी इस विरोध की पर्वाह नहीं करता। न तो वह विरोधिया पर ओघ करता है और न उनकी शक्ति का आगे मुकता है। विरोध को वह उपेक्षा और अपनी क्रियाशीलता के द्वारा निष्प्रभ कर देता है। उसके विल पर कोई ऐसा प्रभाव नहीं पड़ना जो उसको पथ में विमुग्न करदे।

प्रश्न—वैद्य भी रोगी के विरोध की पर्वाह करता है, उसका मन रखने की कोशिश करता है, इसी प्रकार समाजसेवक को क्यों न करना चाहिये ?

पत्तर- विरोध पर विजय पाने के लिये जिस नीति की या धैर्य की आवश्यकता है उसका उपयोग योगी करता ही है। जैसे वैद्य रोगी का मन रखने की कोशिश करता है वह रोगी की चिकित्सा के लिये, न कि रोगी के विरोध के डर से। वैद्य के मनसे भय नहीं हिताकाक्षा होती है उसी प्रकार योगी विरोध से डरना नहीं है हिताकाक्षा कदा से नीति से काम लेता है।

जो लोग सम्मान या कीर्तिकाक्षा के बश के कारण या पैसे के कारण विरोध से डरते हैं परन्तु दुहाई देते हैं नीति की, वे अशक्त भीत या कायर तो हैं ही, साथ ही दुम्भी भी हैं। वे योगियों से उल्टे हैं।

विपत्त-विजय की अपेक्षा विरोध-विजय में मनोबल की विशेष आवश्यकता है। विपत्त-विजय में जनता की सहायुभूति का बल मिलता है परन्तु विरोध-विजय में बल नहीं मिलता, या कम मिलता है।

३ उपेक्षा-विजय (गदो जयों) - लोग जिस विरोध से नहीं गिरा पाते उसे उपेक्षा से गिराने की कोशिश करते हैं। अगर मनुष्य में पर्याप्त मनोबल हो तो विरोध पर वह विजय पा जाता है परन्तु उपेक्षा पर विजय पाना फिर भी कठिन रहता है। विरोध में संघर्ष गेठा होता है उससे गति मिलती है पर उपेक्षा से मनुष्य भूखों मर जाता है। पानी में प्रवाह के विरुद्ध भी तैरा जा सकता है, यद्यपि इसके लिये शक्ति चाहिये, फिर भी तैराक को गुलाबरा है, पर शून्य में, जहाँ कोई विरोध नहीं करता, अच्छा से अच्छा तैराक भी नहीं तैरा पाता। उपेक्षा-विजय की यही सब से बड़ी कठिनाई है। इससे कार्यकर्ता साधनहीन और निरुत्साह होकर मर जाता है। पर योगी इस उपेक्षा पर भी विजय पाता है क्योंकि उसे कर्तव्य का ही ध्यान रहता है, दुनिया की दृष्टि की या सफलता असफलता की वह पर्वाह नहीं करता।

उपेक्षा भी दो तरह की होती है—एक कुत्रिम दूसरी अकुत्रिम। जो उपेक्षा जानबूझकर की जाती है, जिसमें विरोध रूप में भी सहयोग न देने की भावना रहती है वह कुत्रिम उपेक्षा है। अकुत्रिम उपेक्षा अनजान में होती है। योगी अपने काम में एक प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है और उसी आनन्द में उसे पर्याप्त संतोष प्राप्त हो जाता है इसलिये कोई उस पर उपेक्षा करे तो उसे इसकी पर्वाह नहीं होती इस प्रकार उपेक्षा पर विजय करके वह कर्तव्य करता रहता है।

प्रश्न—कोई कोई सेवाएँ ऐसी होती हैं कि जनता की उपेक्षा हो तो उनका कुछ असर नहीं रह जाता। जनता की जगाना ही सेवा कार्य हो और जनता ही उपेक्षा करे तो ऐसी निष्फल सेवा में शक्ति लगाने से क्या लाभ ? योगी दो विवेकी

है, निरर्थक सेवा उसका लक्ष्य न होना चाहिये, पर अगर वह निष्फल समझ कर उस सेवा को छोड़ देता है-तो उपेक्षाविजयी नहीं रहता, ऐसी हालत में वह क्या है ?

उत्तर—उपेक्षा से अगर निष्फलता का पता लगता हो इसलिये कोई कार्य छोड़ने की आवश्यकता हो जिससे वह शक्ति दूसरी जगह लगाई जा सके वह एक बात है और उपेक्षा को विघ्न समझकर कर्तव्य त्याग करना दूसरी बात है। पहिली बात में विवेक है दूसरी में कायरता है। किसी भ्रम के कारण किसी अनावश्यक अनुचित या शक्ति से बाहर कार्य को कर्तव्य समझ लिया हो तो उसकी अनावश्यकता आदि समझ में आ जाने पर उसका त्याग करना अनुचित नहीं है, पर इससे मुझे यश नहीं मिलता मान प्रतिष्ठा नहीं मिलती इत्यादि विचारों से छोड़ बैठना अनुचित है। यह एक तरह की स्वार्थान्विता है।

४ प्रलोभन-विजय (जेलोभोजयो)- उपेक्षा विजय से भी कठिन प्रलोभन विजय है। कल्याण मार्ग में वह सय से बड़ा विघ्न है। कल्याणपथ के पथिक घनने का जो सात्विक आनन्द है उसको नष्ट करने का प्रयत्न प्रलोभन किया करते हैं। अगर वह काम छोड़ दूँ तो इतनी सम्पत्ति मिल सकती है, इतना सम्मान और बाहवाही मिल सकती है, पद मिल सकता है, भोगोपभोग मिल सकते हैं, देखो अमुक आदमी इतना धन यश मान प्रतिष्ठा पद सहयोग आदि पा गया है उसी रास्ते चला तो मैं भी पा सकता हूँ इत्यादि प्रलोभनों के जाल में योगी नहीं आता। मान-प्रतिष्ठा यश आदि से उसे चैर नहीं है पर जिसको उसने कल्याण समझा उसके लिये वह धन पद मान प्रतिष्ठा आदि का बलिदान कर देता है। अधिक कल्याण के कार्य में अगर यश न मिलता हो और अल्प कल्याण के कार्य में यश मिलता हो तो भी वह यश की पर्वाह न करेगा वह अधिक कल्याण का कार्य ही करेगा। कोई भी प्रलोभन उसे कल्याण पथ से विचलित नहीं कर सकता।

प्रश्न—अगर योगी को यह मालूम हो कि अमुक पद या अधिकार पानेसे, वैभव मिलने से, या किसी प्रकार व्यक्तित्व बढ़ने से आगे बहुत सेवा हो सकेगी इसलिये कुछ समय कल्याण मार्ग में शिथिलता दिखलाई जाय तो कोई हानि नहीं है, तो इस नीतिज्ञता या चतुराई को क्या प्रलोभन के आगे योगी की पराजय मानना चाहिये ?

उत्तर—यह तो कर्तव्य की तैयारी है इस में पराजय नहीं है। पर एक बात ध्यान में रखना चाहिये कि यह सचमुच तैयारी हो। कायरता या मोह न हो। अगर जीवन भर यह तैयारी ही चलती रही, समय आने पर भी कर्तव्य न किया, या तैयारी के अनुसार कार्य न किया तो यह प्रलोभन के आगे अपनी पराजय ही समझी जायगी। साधारणतः यह खतरे का मार्ग है। तैयारी के बढ़ाने प्रलोभन के मार्ग में जानेपर बहुत कम आदमी प्रलोभन का शिकार कर पाते हैं, अधिकांश व्यक्ति प्रलोभन के शिकार बन जाते हैं। कर्तव्यशील मनुष्य तो वहीं से अपना कर्तव्य शुरू कर देता है जहाँ से उसे कर्तव्य का भान होने लगता है। अपवाद की बात दूसरी है। पर अपवाद की सचाई की परीक्षा तभी होगी जब तैयारी का उपयोग वह कर्तव्य के लिए करेगा। तब तक उसे अपवाद कहलाने का दावा न करना चाहिये। ठीक मार्ग यही है कि कर्तव्य करते हुए शक्तिसंचय आदि किया जाय।

इस प्रकार इन चार प्रकार के विघ्नों पर विजय प्राप्त करके योगी स्वपरकल्याण के मार्ग में आगे बढ़ता जाता है।

२ निर्भयता (नेहिदो)

योगी की दूसरी लक्ष्मि है निर्भयता। भय अनेक तरह का होता है पर वह सभी त्याज्य नहीं है। भय एक गुण भी है। जो कल्याण के लिये आवश्यक हैं ऐसे भयों का त्याग नहीं करना चाहिये। भय के तीन भेद हैं—१ भक्तिभय २ विरक्तिभय, ३ अपायभय।

१ भक्तिभय (भक्तहिडो)- कल्याणमार्ग में जो प्रेरक हैं जिनके विषय में हमें भक्ति है आदर है कृतज्ञता है उनका भय भक्तिभय है। यह मनुष्य का महान सद्गुण है। ईश्वर से डरो, गुरुजनों से डरो, ऋषि वाक्यों में इसी भय से गतस्त्व है। इस भय का त्याग कभी न करना चाहिये।

परम-बहुत से आदमी सिर्फ इसीलिये कर्तव्य से भ्रष्ट हो जाते हैं कि उनके मूढ़ माता पिता उसमें बाधा डालते हैं। अगर उनकी आज्ञा न मानी जाय तो वे घर से निकाल देगे जायदाद में हिस्सा न देगे इसलिये अमुक कुलद्वियों का पालन करना पड़ता है। यह भय गुरुजनों का भय है। इसे भक्तिभय मानकर उपादेय मानता क्या उचित है ?

उत्तर-इस भय में माता पिता की भक्ति कारख नहीं है किन्तु धन छिनेने का निकाले जाने का दुःख कारण है, इसलिये इसे भक्तिभय नहीं कह सकते, तब यह भक्तिभयके समान उपादेय कैसे हो सकता है ? यह अपायभय है।

यद्यपि भक्तिभय अपयोगी है सद्गुण है परन्तु ऐसा भी अवसर आता है जब यह कर्तव्य में बाधक बन सकता है उस समय यह हेय है। जैसे माता पिता की कोई हानिकर इष्ट है और भक्तिवश उनकी इष्ट पूरी की जाती है। माता पिता आर्थिक चिन्ता या ऐसी कोई हानि न पहुँचा सकते हो जिससे इसे अपायभय कहा जा सके, तब यह भक्तिभय तो होगा पर उपादेय न होगा। यह भक्तिभय का दुरुपयोग कहा जायगा।

इसी प्रकार देव गुरु या शास्त्र का भय है जो कि भक्तिभय है। वह अगर सत्य और अहिंसा के पथ में या कल्याण के पथ में बाधक होता हो तो वह भी हेय हो जायगा। साधारणतः भक्तिभय अज्ञा है पर उसका दुरुपयोग गेकता चाहिये।

२ विरक्तिभय (मिथ हिडो)- पाप कार्यों में विरक्ति होने से जो भय होता है वह विरक्तिभय या त्यागभय है। हिंसा का भय, चोरी का

भय, दूसरे के दिल दुखाने का भय आदि नाना भय विरक्तिभय हैं। जब कहा जाता है-कुछ पाप से डरो तब उसका अर्थ यही विरक्तिभय है। यह भी एक आवश्यक भय है सद्गुण है।

३ अपायभय (मुगो हिडो)- धनहानि, अविकारहानि, यशोहानि, प्रियजनहानि, भोगहानि, मृत्यु, जरा रोग, आघात, अपमान आदि नाना तरह के अपाय हैं इनका भय अपायभय है। योगी इन अपायों से ऐसा नहीं डरता कि सत्य के मार्ग से विमुख होजाय। यद्यपि जान-बूझकर वह इन अपायों को निमन्त्रण नहीं देता पर कर्तव्य पथ में वह इनकी पर्वाह नहीं करता।

प्रश्न-यदि योगी के सामने कोई विषयर सर्प किसी मेंढक को पकड़ना चाहता हो तो योगी क्यावश सर्प को रोकेगा, ऐसी अवस्था में वह विषयर सर्प योगी को काट खायगा। योगी दयालु होने के कारण सर्प को मार तो सकेगा नहीं, इसलिये अपने प्राण दे देगा, क्योंकि वह मृत्यु से निर्भय है। अगर वह सर्प को नहीं रोकेगा है तो समझता चाहिये कि वह मृत्यु से डरता है तब योगी नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसी अवस्था में योगी किन्तने दिन जियेगा ?

उत्तर-योगी का जीवन का ध्येय है विश्व में अधिक से अधिक सुखवृद्ध करना। अगर उसे यह मालूम हो कि इस सर्प को मारने से सर्प के समान चैतन्य रखनेवाले अनेक प्राणियों की हिंसा रुक सकती है तो वह दयालु होने पर भी सर्प को मार सकता है। पर सर्प और मेंढक के मानले में वह उपेक्षा भी कर सकता है क्योंकि इस प्रकृति के राज्य में सब जगह 'जीवो जीवस्य जीवनम्' अर्थात् प्राणी प्राणी का जीवन है, यह नियम काम कर रहा है। जहाँ शिक्षण का प्रभाव पड़ता है वहाँ तो इस नियम का विरोध कुछ असरकारक रहता है पर जहाँ शिक्षण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता वहाँ उपेक्षा ही अधिक सम्भव है। मनुष्य को सिखाकर उस पर संस्कार डालकर या कानून का भय दिखाकर उसके स्वभाव पर कुछ स्थायी सा अंकुश रक्खा जा सकता है

जिससे वह पशु आदि की हत्या न करे। पर सर्प को इस प्रकार सिखाया नहीं जा सकता इसलिये वहाँ योगी अपेक्षा कर सकता है, या बहुत से मेढकों की रक्षा के विचार से सर्प को मार भी सकता है। मेढक के लिये प्राण देना अनुचित है। क्योंकि अपने प्राण देने से भी सर्प जातिपर स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता, जिससे एक मनुष्य की हानि हजारों सर्पों के स्वभाव में परिवर्तन करके लाभ में परिणत हो सके।

मृत्यु से निर्भयता का मतलब यह नहीं है कि आवश्यकता अनावश्यकता उचितता अनुचितता आदि का विचार किये बिना मौन के मुँह में कूदता फिरे। किन्तु उसका मतलब यह है कि अगर किसी कारण मृत्यु का अवसर उपस्थित हो जाय तो बिना किसी विशेष लोभ के वह मरने को भी तैयार रहे। जीवन के किसी विशेष ध्येय की पूर्ति में मौत का सामना करने की आवश्यकता ही हो तो वह उसके लिये भी तैयार रहे। योगी अवस्थासमभावी होने से साधारण जन के समान मृत्यु से नहीं डरता। जब वह स्वपर कल्याण के लिये जीवन को बन्धन समझता है, तब वह जीवन का त्याग कर देता है, एक तरह का समाधिकरण कर लेता है, यही उसकी मृत्यु से निर्भयता है।

मृत्यु से निर्भय होने के विषय में जो बात कही गई है वही बात अन्य निर्भयताओं के विषय में भी है। आवश्यक प्रसंग आनेपर वह सब कुछ त्याग सकता है यही उसकी निर्भयता है। यद्यपि आवश्यकता का मापतौल ठीक ठीक तरह नहीं किया जा सकता इसलिये योगी एक तरह से अज्ञेय होता है फिर भी विचारक मनुष्य योगी की परिस्थिति का विचार करके निर्णय कर सकता है।

फिर भी निर्भयता का परखना कठिन ही है। अनेक अवसरों पर इस विषय में भारी भ्रम होजाता है। एक स्त्री पति के मरने पर अपने प्राण दे देती है, यह उसकी मोहजनित कायरता है पर साधारण लोग इसे प्रेमजनित निर्भयता सम-

झते हैं। वैद्यक्य की असुविधाओं से डर कर वह प्राण देती है इसलिये उसकी निर्भयता से संभयता अधिक है।

कोई भी आदमी धन के लिये यश की पर्वाह न करे, नाम हो या धननाम किसी तरह धन कमाना चाहिये यह उसकी नीति हो और कहे—मुझे अपयशका डर नहीं है, तो वह उसकी वञ्चना है। इससे तो केवल यही मात्स्य होता है कि वह यश की अपेक्षा धन का अधिक लोभी है। किसी एक चीज का अधिक लोभी होने के कारण दूसरी चीज की पर्वाह न करना निर्भयता नहीं है। निर्भयता है वहाँ, जहाँ कल्याण पथ में आगे बढ़ने के लिये किसी की पर्वाह नहीं की जाती।

कोई कोई लोग नामवरी के लिये धन की पर्वाह नहीं करते यह भी निर्भयता नहीं है। यह तो धन की अपेक्षा यश का अधिक लोभ हुआ, ऐसा आदमी यश की आशा न रहने पर कर्तव्य का त्याग कर देगा। यह निर्भयता नहीं है। निर्भयता सर्वतोमुखी होना चाहिये। किसी चीज की हम चाह नहीं है रुचि नहीं है या उससे हमारी हानि नहीं हो सकती तो उसकी तरफ से लाभ-वर्षाही बताने से अरुचि या शक्ति का परिचय मिलेगा निर्भयता का नहीं। निर्भयता वहाँ है जहाँ रुचि हो तो भी कर्तव्य के लिये उसकी पर्वाह न की जाय, हानि हो सकती हो फिर भी कर्तव्य के लिये उसकी पर्वाह न की जाय।

मतलब यह है कि योगी की निर्भयता इस बात में नहीं है कि उसके पास शक्ति अधिक है या दुःखी होने की परिस्थिति नहीं है परन्तु इस वान में है कि वह अवस्थासमभावी है। वह नाश्र्य भावना आदि का चिन्तन करना रहता है। यह निर्भयता स्थायी निर्भयता है और इस निर्भयता को पाकर मनुष्य अन्याय करने पर उगार नहीं होता।

निमित्त के भेद से भय के भेद बहुत हैं पर वहाँ कुछ खास खास भयों का उल्लेख कर दिया

जाता है और उनके विषय में योगी की विचार-धारा बताती जाती है। मुख्य भव दस हैं—
१ अभोगभय, २ वियोगभय, ३ संयोगभय, ४ रोगभय, ५ मरणभय, ६ अगौरवभय, ७ अय-शोभय, ८ असाधनभय ९ परिश्रमभय १० अज्ञानभय।

१ अभोगभय (नेत्रुशोडिहो)—इन्द्रियों के विषय अच्छे अच्छे मिलें, खराब न मिलें, इस विषय का भय अभोगभय है। योगी सोचता है—इन्द्रियों की असली उपयोगिता तो यह है कि वे यह बतायें कि शरीर के लिये कौनसी वस्तु लाभ-कर है कौनसी अलाभकर। पर मनुष्य ने अपनी आदत को इस प्रकार विगाड़ लिया है कि वह समझ ही नहीं पाता कि अच्छा क्या और बुरा क्या? रसना इन्द्रिय को दुष्पक्व रोगजनक वस्तु में भी आनन्द आता है और स्वास्थ्यकर वस्तु भी वेत्याह मालूम होती है तब रसना इन्द्रिय की पचाह क्या करना चाहिये? कानों को सदुपदेश भी अप्रिय मालूम होता है राजस और तामस शक्त भी अच्छे मालूम होते हैं तब कान की पचाह क्यों की जाय? इस प्रकार इन्द्रियविषयों में अनासक्त बन कर वह निर्भय हो जाता है।

इसका मतलब यह नहीं है कि वह इन्द्रियों को अनावश्यक कष्ट देता है। मतलब यह है कि कर्तव्य के सामने, लोककल्याण के सामने वह इन्द्रियकर्षों की पचाह नहीं करता। इस तरह से वह निर्भय रहकर आगे बढ़ता है।

२ वियोगभय (नेयुगो डिहो)—प्रियजन के वियोग की तरफ से भी वह निर्भय रहता है। अगर कोई प्रियजन आकर कहे कि जिसे तुम अपना कर्तव्य समझते हो उससे अगर विमुख न हो जाओगे तो मैं चला जाऊँगा, योगी उत्तर देगा—मैं नहीं चाहता कि आप चले जाँय पर कर्तव्य से मेरे विमुख हुये बिना अगर आप न रह सकते हो तो मैं रोक नहीं सकता।

योगी सोचता है—स्वभाव से कौन प्रिय है कौन अप्रिय? व्यवहार से ही प्रिय और

अप्रिय बनता है। जो मेरे धर्म की, कर्तव्य की पचाह नहीं करता उसकी पचाह मैं क्या करूँ?

जब किसी प्रियजन के मर जाने की सम्भावना होती है तब योगी सोचता है—मेरा कर्तव्य उसकी सेवा करना है सो मैं सेवा करूँगा, वचाने की पूरी कोशिश करूँगा, उसके विषय में पूरा ईमानदार रहूँगा फिर भी अगर वह न एच सके तो उसकी योग्यता के अनुसार उसे यशस्वी बनाऊँगा, और क्या कर सकता हूँ? जहाँ एक दिन संयोग है वहाँ एक दिन वियोग अनिवार्य है। इस प्रकार वह वियोग से भी निर्भय रहकर कर्तव्यरत रहता है।

वियोग से उसकी अपरा मतोवृत्ति जुध भी हो सकती है पर वह क्षेम स्थायी नहीं होता और पहिले से उसका भय और पीछे से उसका शोक इतना तीव्र नहीं होता कि उसे पाप में प्रवृत्त करा सके, यही योगी की निर्भयता है।

३ संयोगभय (युगो डिहो)—अप्रियजन-संयोग के विषय में भी योगी निर्भय रहता है। उसके हृदय में प्रेम रहता है इसलिये अप्रियजन की भिय बनाने की आशा रहती है। अगर प्रिय न बनासके तो उसके सघर्ष से बचकर रहने की आशा रहती है अगर संघर्ष में आना हो पड़े तो न्याय से रहने और फिर भी अगर कुछ फल भोगना पड़े तो सहिष्णुता का परिचय देने की आशा रहती है इसलिये अप्रियजन-संयोग से वह नहीं डरता।

४ रोगभय (रुगो डिहो)—रोगभय इसलिये नहीं होता कि वह मिताहारी जिह्वावशी होने के कारण बीमार हो कम पढ़ता है। फिर भी रोगों का शिकार हो जाय तो 'रोग तो शरीर का स्वभाव है' वह सोचकर दुःखित नहीं होता। रोग का अन्तिम परिणाम मृत्यु है उससे वह नहीं डरता, वेदना के सहने का मनोबल रखता है। शारीरिक अवमता के कारण या वेदना की शक्तता के कारण कष्ट असह्य हो तो उसके उद्गार क्षणिक होते हैं। मन साधारण जन की अपेक्षा स्थिर रहता है।

इसका यह मतलब नहीं है कि रोगों की तरफ से लापवाह होकर वह असंयमी बन जाता है और बीमारियों को निमन्त्रण देता रहता है। क्योंकि इससे मनुष्य स्वयं दुःखी होता है दूसरों के सिरपर वृत्त या अन्यक्त रूप में योम बनता है और अपना कर्तव्य भी नहीं कर पाता या थोड़ा कर पाता है, इसलिये बीमारी से बचने का पूरा प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु अज्ञात कारण वश बीमारी आजाय या किसी कर्तव्य करने में बीमारी का सामना करना पड़े तो शान्ति से उसके सहने की ताकत होना चाहिये यही योगी की रोग से निर्भयता है।

५ मरणभय (मरो डिटो) - जैसे कोई घर बदलता है उसी प्रकार योगी शरीर बदलता है इसमें दुःख किस बात का ? दूसरा जन्म इससे अच्छा हो सकता है इसलिये मरण से डरने की और भी जरूरत नहीं है। जिसका वह जीवन पवित्र है उसका परलोक भी सुखमय है जिसका यह जीवन अपवित्र है उसे यह सोचना चाहिये कि मृत्यु अगर इस अपवित्र जीवन का शीघ्र नाश कर देती है तो क्या दुःख है ?

परलोक पर अगर विचार न किया जाय तो भी यह सोचकर मरण से निर्भय रहना चाहिये कि जीवन जहाँ से आया था वहीं चला जायगा, बीच के थोड़े समय की इतनी चिन्ता क्यों ?

संसार में जो अत्याचार होते हैं उनका मुख्य सहारा लोगों का यह मृत्युभय है। अगर लोग यह सोचलें कि मरजाँयों पर अत्याचार न होने देंगे तो संसार में अत्याचारों को रहना अशक्य हो जाय। योगी तो जगत में स्वर्गीय जीवन का विस्तार करना चाहता है इसलिये वह मृत्युजयी होता है।

हा, वह आत्महत्या न करेगा क्योंकि आत्महत्या एक तरह की कायरता है, कषाय का तीव्र आवेग है, वह अन्य किसी विपत्ति का इतना बड़ा भय है जो मौत की पर्वाह नहीं करने देता। आत्महत्या निर्भयता नहीं है।

आत्महत्या प्राणार्पण से बिल्कुल जुदा चीज है। प्राणार्पण में त्याग है विवेक है कर्तव्य की स्पष्टता है। आत्महत्या में घोम है, कर्तव्य-विमूढ़ता है मोह है क्रोध है। योगी प्राणार्पण के लिये तैयार रहता है पर आत्महत्या नहीं करता।

६ अगौरवभय (नेपंजो डिटो) - मेरा कोई पत्र न छिन जाय, धन न छिन जाय आदि अगौरवभय है। योगी सोचता है मानव साथ में लाया क्या था जिसके छिनने का वह डर करे। वह महत्व की पर्वाह नहीं करता। सबसे बड़ा महत्व वह सत्य की सेवा में और सदाचार के पालन में समझता है इसलिये दुनिया की दृष्टि में जो गौरव है उसके छिनने का उसे डर नहीं होता।

७ अयशोभय (नोफिमो डिटो) - सच्चा यश अपने दिल की चीज है दुनिया की बाहवाही की उसे पर्वाह नहीं होती। बहुत से लोग इस डर से कि मेरा नाम हूब जायगा, सत्य से दूर भागते हैं, दुनिया जिसमें खुश हो इसी बात में लगे रहते हैं। वे सच्चा यश नहीं पाते चापलूसी पाते हैं। चापलूसी से यश की प्यास बुझाना ऐसा ही है जैसे गटर के प्रवाह से पानी की प्यास बुझाना। योगी इस बाहवाही की पर्वाह नहीं करता। वह सत्य की पर्वाह करता है और सत्य की सेवा में उसके हृदय से यश का प्रवाह निकलता है इसलिये उसे अयश की चिन्ता नहीं होती। दुनिया अज्ञानवश निन्दा करे, घर घर में उसका अपयश छा जाये तो भी वह उस अपयश से नहीं डरता।

इसका यह मतलब नहीं है कि योगी निर्लज्ज होता है, कोई कुछ भी कहे वह उसकी पर्वाह नहीं करता। योगी में लज्जा है अगर उससे गलती हो जाय तो वह लज्जित होगा, दूसरे शर्मिंदा करें या न करें वह स्वयं शर्मिंदा हो जायगा। पर जिस प्रकार वह लज्जा योगी के भीतर की चीज है, कोई करे या न करे इसकी उसे पर्वाह नहीं है, इसी प्रकार यश अपयश भी उसके भीतर की चीज है कोई करे या न करे इसकी उसे पर्वाह

नहीं है। अच्छा कार्य करने पर उसके हृदय से ही यशस्वी अमृत भरता है जिससे वह अमर हो जाता है इसलिये बाहर लोग उसकी निन्दा करें तो इस बात की उसे चिन्ता नहीं होती, वह ऐसे अपयश से नहीं डरता। वह डरता है अपने भीतर के अपयश से। बाहर के अपयश की पर्वाह न होना ही उसकी निर्भयता है। इसीलिये कहा गया कि उसे अवशोभय नहीं होता।

८ असाधनभय (नेरचो डिडो) - साधनों के अभाव से योग्यता रहने पर भी मनुष्य उसका फल नहीं पाता। हमारे साथी विष्णु जीवों को साधन नष्ट हो जाँवों इस प्रकार डर से वह असत्य का पोषण नहीं करता। इसका यह मतलब नहीं है कि वह देश काल का विचार नहीं करता या क्रम विकास पर ध्यान नहीं देता। वह अवसर की ताक में रहता है, आवश्यकतानुसार धीरे धीरे बढ़ता है, पर सारा लक्ष्य सत्य पर रहता है ऐहिक साधनों पर नहीं। एक तरह की आत्म-निर्भरता उसमें पाई जाती है। असहायता या असाधनता के डर से वह धबराता नहीं है, पथ-भ्रष्ट भी नहीं होता है। वह चढ़ी सोचता है कि जो कुछ बन सकता है वह करता हूँ अधिक करने के लिये उसमें असत्य का विष क्यों पोखूँ ? वह आत्मनिर्भर तथा फलफल निरपेक्ष रहता है इसलिये उसे असाधनभय नहीं होता।

९ परिक्षमभय (शिहोडिडो) - जगत आलस्य का पुंवारी है वह परिक्षम को दुःख समझता है, इसलिये आलस्य की आशा में वह असत्य और असदाचार का पोषण करता है। योगी तो परिक्षम को विनोद समझता है शरीरस्वास्थ्य के लिये आवश्यक समझता है उससे उसको अवमान भी नहीं मान्य होता, आलस्य या अकर्मवृत्ता को वह गौरव का चिह्न नहीं समझता इसलिये वह परिक्षम से नहीं डरता।

१० अज्ञातभय (नीजान डिडो) - जिनका स्वभाव ही अचरतामय बन गया है वे भय के कारण के बिना ही भय से काँपते रहते हैं। ऐसा

हो गया तो, वैसा हो गया तो, इस प्रकार बेबुनियाद न जाने कितने भय वे अपने मनपर लाये रहते हैं। उपयुक्त कार्य कारण का विचार करना एक बात है किन्तु जीवन का अतिमोह होने के कारण कर्तव्यशून्य आलसी जीवन बिताना दूसरी। योगी ऐसा अज्ञात भयों से मुक्त रहता है।

भय के भेद और भी किये जा सकते हैं यहाँ जो भयों का विवेचन किया गया है वे सिर्फ इसलिये कि योगी की निर्भयता की रूपरेखा दिखाई दे। यह निर्भयता योगी की दूसरी लक्ष्य है।

३ अकपायता (नेरुंटे)

योगी की तीसरी लक्ष्य है अकपायता। इससे वह भगवती अहिंसा का परम पुजारी और परम सयमी होता है। उसकी परा मनोवृत्ति तक किसी कपाय का प्रभाव नहीं पहुँचता। क्रोध भान माया लोभ के कारण वर्णित होने पर उसमें शोभ नहीं होता। हाँ, कभी कभी इन भावों का वह प्रदर्शन करता है पर वह भीतर से नहीं भाँगता। इसप्रकार अकपाय रहकर वह स्वयं सुखी रहता है और जगत को दुःखी नहीं होने देता।

आन्तरिक दुखों को जड़ यह कपाय ही है। अकपायता का कारण पहिले घटनावा हुआ चार प्रकार का समभाव है। विवेक और चार प्रकार का समभाव योगी जीवन के चिन्ह हैं। संसार में योगियों की संख्या जितनी अधिक होगी संसार उतना ही सुखी होगा। बाहरी वैभवा की वृद्धि कितनी भी की जाय, उससे कुछ शारीरिक सुख भले ही बढ़े पर उससे कई गुणों मानसिक कष्ट बढ़ेंगे। अगर संसार का प्रत्येक व्यक्ति योगी हो जाय तो अल्प वैभव में भी संसार शान्तिमय, आनन्दमय बन सकता है। प्रत्येक धर्म का प्रत्येक शास्त्र का, प्रत्येक महात्मा का यही ध्येय है। इस लिये योगी बनने के लिये हर एक मनुष्य-पुरुष या स्त्री-को प्रयत्न करना चाहिये।

छद्म अर्थार्थ (दून होपंगो)

जीवन दृष्टि (जिवो लंको)

अपने जीवन को और जगत को सुखमय बनाने के लिये हर एक नरनारी को योगी, खास-कर कर्मयोगी, बनने का प्रयत्न करना चाहिये। हम योगी हुए हैं या नहीं, योग के मार्ग में स्थित हैं कि नहीं, हमारा जीवन कितना विकसित है यह बात समझने के लिये हर एक व्यक्ति को अपने जीवन पर दृष्टि डालना चाहिये, उसका निरीक्षण करना चाहिये।

जीवन के अनेक रूप हैं और हर एक रूप से जीवन के विकास अविकास का पता लगता है। जीवन के भिन्न भिन्न रूपों पर दृष्टि डालकर विचार करना चाहिये कि हम कहाँ हैं। अगर हमारा जीवन अविकसित अवस्था में हो तो विकसित अवस्था में लेजाना चाहिये, और विकसित करते करते योगी बन जाना चाहिये।

इसी उद्देश से यहाँ जीवन पर दृष्टि डाली जाती है।

१- जीवार्थ जीवन (घीटो जिवो)

बारह भेद (कगान अकोखे)

जीवन के मुख्य अर्थ, प्रयोजन या कर्तव्य चार हैं। धर्म (धर्मो) अर्थ (काजो) काम (किगो) मोक्ष (जिजो)

इन्हें पुरुषार्थ कहा जाता है इस शब्द का उपयोग यहाँ नहीं किया गया क्योंकि अब पुरुष शब्द आत्मा या ब्रह्म की अपेक्षा पुलिंग के अर्थ में अधिक प्रचलित है इसलिये स्पष्टता से पुरुष और स्त्री दोनों का बोध करने के लिये जीवार्थ शब्द लिया गया है।

यद्यपि आत्मार्थ शब्द से भी जीवार्थ कहा जा सकता था पर आत्मार्थ शब्द भी मोक्षार्थ, और उसमें भी ध्यानयोगी के लिये अधिक प्रयुक्त होता है इसलिये वह भी ठीक नहीं है।

मानवमापा में इसके लिये एक स्वतन्त्र धातु 'घीट' है उससे बना हुआ 'घीटो' शब्द बहुत ठीक है।

ये चार जीवन के मुख्य या महत्वपूर्ण प्रयोजन या ध्येय हैं।

सच पूछा जाय तो प्रयोजन तो सिर्फ सुख से है। पर धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों जीवार्थ सुख के साधन हैं इसलिये इन्हे भी ध्येय मान लिया गया है।

यद्यपि इन चारों का सम्बन्ध सुख के साथ एक सरीखा नहीं है काम और मोक्ष का सुख के साथ साक्षात् सम्बन्ध है और धर्म अर्थ का परम्परा सम्बन्ध, इसलिये वास्तविक जीवार्थ तो काम और मोक्ष दो ही कहलावे फिर भी धर्म और अर्थ जीवार्थ हैं क्योंकि धर्म और अर्थ के मिलने पर काम और मोक्ष सुलभ हो जाते हैं काम और मोक्ष के लिये किये जाने वाले प्रयत्न का बहुत भाग धर्म और अर्थ के लिये किये जाने वाले प्रयत्न के रूप में परिणित होता है। इस प्रकार चार जीवार्थ हैं और इन चारों के समन्वय में जीवन की सफलता है।

१ धर्म-काम के साधनों को प्राप्त करने में दूसरों के उचित और शक्य स्वार्थों का तथा अपने हित का विवेक रखना, स्वार्थ पर संयम रखना।

२ अर्थ-काम के साधनों को प्राप्त करना।

६ काम-साधनों के सहयोग से इन्द्रिय और मन की सन्तुष्टि ।

४ मोक्ष-वाद्य दुःखों से निर्लिप्त रहकर मन से सुव्यवस्थित का अनुभव करना ।

धर्म और अर्थ के विषय में विशेष कहने की जरूरत नहीं है परन्तु काम और मोक्ष के विषय में उन साधारण में जो क्या विद्वानों के भीतर भी गलतफहमी हो गई है । इससे मोक्ष तो उड़ ही गया । वह जीवन के वाद की चिल समझ गया । दर्शनशास्त्रकारों ने मोक्ष की जो व्याख्या की वह इस जीवन के रहते मिल नहीं सकती थी इसलिए धर्म अर्थ और काम तीनों की सेवासे ही जीवन की सफलता मानी जाने लगी । इधर काम की भी काफी दुर्दशा हुई । निवृत्तिवाद का जब त्वार आया तब काम के प्रति धृष्टा प्रकट होने लगी तब काम का अर्थ भी संकुचित हो गया-मैथुन रह गया । इस प्रकार हमारे जीवन के जो मुख्य साध्य ये वे दोनों ही भलेले में पड़ गये ।

चासव में न तो काम इतनी धृष्टित वस्तु है और न मोक्ष इतनी पारलौकिक, दोनों का जीवन में आवश्यक स्थान है । दोनों के बिना सुख की कल्पना नहीं की जा सकती । इसलिये उसके अर्थ पर ही कुछ विचार कर लेना चाहिये ।

काम का अर्थ मैथुन नहीं है किन्तु वह साग सुख काम है जो दूसरे पदार्थों के निमित्त से हमें मिलता है । कोमल वस्तु का स्पर्श, स्वादिष्ट भोजन पुष्प आदि का सुंघना, सुन्दर दृश्य देखना, संगीत आदि सुनना यह सब काम है, इनका सम्बन्ध इन्द्रियों से है और इन्द्रियों के लिये किसी विषय की आवश्यकता होती है इसलिये यह पर-निमित्तक सुख है-काम है । परन्तु ऐसा भी पर-निमित्तक सुख है जो इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु मन से सम्बन्ध रखता है । तब चौपट शरत्ज आदि के मेल तथा और भी धनशक्ति के ऐश्वर्य मानसिक काम है । अपनी गजना सुनने या आनन्द भी काम है

अर्थात् यश का सुख भी पर-निमित्तक है इसलिये वह भी काम है । इस प्रकार काम का क्षेत्र बहुत है ।

हा, वह बात अवश्य है कि अगर मनुष्य में कामलिप्सा बढ़ जाय, वह काम के पीछे धर्म को भूल जाय तो वह धृष्टा की वस्तु हो जायगा । कामसुख अगर मर्यादा का अतिक्रमण न कर जाय या व्यसन न बने और दूसरों के नैतिक हक का नाश न करे तो उपादेय है बल्कि जरूरी है । तुम कोमलशय्या पर सोते हो, सोओ, पर उसके लिये छीनाम्बटो करो वह बुरा है और कोमल शय्यापर सोने की ऐसी आदत बनाओ कि कभी वैसी शय्या न मिले तो तुम्हें नींद ही न आवे, यह भी बुरा है । इसके लिये अन्याय न करो व्यसनी मत बनो फिर काम सेवन करो तो कोई बुराई नहीं है । क्यों स्थावर पैद भजने की जरूरत नहीं है । कच्ची जली या बेस्वाद रोटी क्यों खाओ ? अच्छे तरीके से भोजन तैयार करो, कराओ, स्वादिष्ट भोजन तो यह बहुत अच्छा है । पर जीभ के वश में न हो जाओ कि अगर किसी दिन चटपटा भोजन न मिले, मिठाईयां न मिलें तो चैन ही न पड़े । अथवा स्वाद के लोभ में पैद की मांग से अधिक न खाजाओ कि पच न सके, फन बीमार पड़ना पड़े, लंघन करना पड़े, बैचों की संवा करनी पड़े और पैसे की बर्बादी हो । अथवा स्वाद को लोलुपता से इतना कीमती न खाजाओ कि उसके लिये ऋण लेना पड़े, या अन्याय से पैसा पैदा करना पड़े । अथवा अगर किसी ने तुम्हें भोजन कराया हो तो उसे खिलाना शक्ति से अधिक मालूम पड़े । तुम्हें भोजन करने में अगर खिलानेवाले को इतना परिश्रम करना पड़ता है कि वह बेचैन हो उठना है अथवा इतना खर्च करना पड़ता है कि वह चिन्तित हो तो यह तुम्हारे लिये असयम अर्थात् पाप होगा । मतलब यह है कि अत्याचार न करके जीभ के वश में न होकर स्वास्थ्य की रक्षा करते हुए स्वादिष्ट भोजन करना चाहिये । कमी कमी अभ्यास के लिये

वेस्वादि भोजन भी करो पर वेस्वादि भोजन को अपना धर्म न समझो, सिर्फ अभ्यास समझो।

प्रकृति ने जो कणकण में सौन्दर्य बिखेर रक्खा है, जड़ चेतन और अर्धचेतन जगत जिस सौन्दर्य से चमक रहा है उसका दर्शन करो, खूब आनन्द लूटो। पर सौन्दर्य की सेवा करो, पूजा करो, उसका शिकार न करो उसे हजम करने की या नष्ट करने की वासना दिल में न आने दो। सुन्दर बनो सुन्दर का दर्शन करो पर उसके लिये धर्म और अधे मत भूलो। दूसरो को चिढ़ाने के लिये नहीं, किन्तु दूसरो को आनन्दित करने के लिये और दूसरो के उसी आनन्द में स्वयं आनन्द का अनुभव करने के लिये सौन्दर्य की पूजा करो इसमें अधर्म नहीं है। पर अगर फेशन की मात्रा इतनी बढ़ जाय कि कर्तव्य में समय की कमी मालूम होने लगे, अहंकार जगने लगे, धन से ऋणा बढ़ जाय, या धन के लिये हाथ हाथ करना पड़े, या अन्याय करना पड़े तब यह पाप होगा। अगर फेशन हो पर स्वच्छता न हो तो भी यह पाप है। अगर हम इन पापों से बचे रहें तो सौन्दर्य की उपासना जीवार्थ है।

नर को नारी के और नारी को नर के सौन्दर्य की उपासना भी निष्पाप होकर करना चाहिये। उसमें संयम का वाच न टूट जाय। नर और नारी में पारस्परिक आकर्षण भरकर प्रकृति ने अनन्त आनन्द का जो श्रोत बहाया है उसमें बहकर न जाने कितने जीवन नष्ट हो गये हैं और उससे दूर रहने की बेछा करकं न जाने कितने जीवन प्यास से मर गये हैं। यथवा प्यास न सह सकत के कारण घबरा कर फिर उसी श्रोत में बहकर नष्ट हो गये हैं। दोनों में जीवन की सफलता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि संयम रूपी घाट के किनारे बैठकर सौन्दर्य-श्रोत में से सर्वादित रसपान किया जाय।

नारी के सौन्दर्य को देखकर तुम्हारा चित्त प्रसन्न होता है तो कोई बुरी बात नहीं है। माँ को देखकर बच्चे को जो प्रसन्नता होती है, बहिन को

देखकर भाई को जो प्रसन्नता होती है पुत्री को देखकर पिता को जो प्रसन्नता होती है वह प्रसन्नता तुम्हें होना चाहिये। माँ बहिन बेटी की तरह नारी को देखो फिर उसकी शोभा का दर्शन करो। उसे बेरखा मत समझो। परन्ती को हम पत्नी नहीं कह सकते, फिर भी यदि उसके विषय में मन में पत्नीत्व का भाव आता है तो वह बेरखा का ही भाव है। इस पाप से बचो। फिर सौन्दर्योपासना करो।

यही नीति नारी के लिये भी है। उसकी भी सौन्दर्योपासना परपुरुष को पिता भाई या पुत्र समझकर होना चाहिये। यह सौन्दर्योपासना, यह आनन्द, यह काम, अनुचित तो है ही नहीं, बल्कि पूर्ण जीवन के लिये आवश्यक है। शृंगार या सजावट भी बुरी चीज नहीं है। प्रकृति ने विविध बनस्पतियों से सुशोभित जो पर्वतमालाएँ खड़ी कर रक्खी हैं, नाना वन बना रक्खे हैं, उनके निरन्तर दर्शन करने के लिये घर के चारो तरफ घाटिका लगा रखने में कोई बुराई नहीं है। हम मूर्ति के द्वारा जिस प्रकार देवता के दर्शन करते हैं उसी प्रकार घाटिका के द्वारा प्रकृति के दर्शन करें तो इसमें क्या बुराई है ?

शृङ्गार भी प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना ही है। प्रकृति ने जो सौन्दर्य बिखेर रक्खा है उसे हम पाने का प्रयत्न करते हैं इसी का नाम शृङ्गार है। मुँह के सिर पर लाल लाल कलगी कैसी अच्छी मालूम होती है पर हमारे सिर पर नहीं है इसलिये दोपी या साफेपर हम कलगी खोस लेते हैं। मोर के शरीर पर कैसे चमकीले छपके बने हुये हैं जो हमारे ऊपर नहीं हैं इसलिये मैं इसी तरह का चमकीला कपड़ा पहिन्दूँ, यही तो शृङ्गार है। मतलब यह कि प्रकृति के विशाल सौन्दर्य को संक्षिप्त करके अपनाते का नाम शृङ्गार है। जब तक यह परपीढ़क न हो, स्वास्थ्य-नाशक न हो, तब तक इसमें कोई हानि नहीं है। इसका आनन्द लेना चाहिये। यह भी काम है, जीवार्थ है।

हा, जिस में सिर्फ अभिमान का प्रदर्शन हो अथवा जो अपने जीवन के अनुरूप न हो ऐसे शृङ्गार से वचना चाहिये। मतलब यह कि सौन्दर्योपासना दुरी चीज नहीं है पर वह संयम और विवेक के साथ होना चाहिये।

जो बात सौन्दर्योपासना के विषय में कही गई है वही बात संगीत आदि अन्य इन्द्रियों के विषय में भी कही जा सकती है। नारीकण्ठ से गीत सुनकर भी पुरुष के मन में व्यभिचार की वासना न जगना चाहिये। कोयल की आवाज में जो आनन्द आता है ऐसा ही आनन्दानुभव होना चाहिये।

काम के विषय में जीवन दोनों तरफ से असन्तोषप्रद बन गया है। अधिकांश स्थानों पर काम के साथ व्यवसन और असंयम इस तरह मिल गये हैं कि उससे अपना और दूसरों का भास हो रहा है और कहीं कहीं काम से इतनी घृणा प्रगट की जाती है कि हमारा जीवन नीरस और निरासन्न बन गया है यहाँ तक कि महात्मा और साधु होने के लिये यह आवश्यक समझा जाने लगा है कि उसके चिह्न पर हँसी न हो उसमें विनोद न हो, मनहूसियत सी उसके मुँह पर छाई रहे और बहुत से अनावश्यक कष्ट वह उठा रहा हो। इस प्रकार निर्दोष काम पाप में शामिल हो गये। यह ठीक है कि दूसरों के सुख के लिये कष्ट उठाना पड़ता है भविष्य के महान सुख के लिये कष्ट उठाना पड़ता है पर जिस दुःख का सुख के साथ कार्यकारणसम्बन्ध न हो अथवा अनावश्यक कष्टों से ही सुखप्राप्ति की कल्पना करली जाय यह जीवन की शक्तियों की बर्बादी है। उचित यह है कि आवश्यकतावश मनुष्य अधिक से अधिक त्याग करने को तैयार रहे और दूसरों के अधिकार का लोप न करके स्वयं आनन्दीय जगत को आनन्दीय बनावे। यही काम है। यह काम साधारण गृहस्थ से लेकर जगद्गुरु गदाधर में तक रह सकता है, रहता है और रहना चाहिये।

मानसिक काम का पङ्क रूप है यश। जीवन

में इसका इतना अधिक महत्व है कि कुछ विद्वानों ने इसे अलग जीवार्थ मान लिया है। यशोलिप्सा महात्मा कहलानेवालों में भी आजाती है। पर इसमें भी संयम की आवश्यकता है। अन्यथा यश के लिये मनुष्य इतनी आत्मवचना और परवचना कर जाता है कि उसकी मनुष्यता तक नष्ट हो जाती है। अपने यश के लिये दूसरों की निन्दा करना झूठ और मायाचार से अपनी सेवाओं को बड़ा बताना आदि असंयम के अनेक रूप यशोलिप्सा के साथ आजाते हैं इसलिये अगर संयम न हो तो यश की गुलामी भी काम की गुलामी है। काम के अन्य रूपों के समान इसका भी दुरुपयोग होता है। इन दुरुपयोगों को बचाकर विशुद्ध यश का सेवन करना उचित है। इससे मनुष्य लोकसेवी और आत्मोद्धारक बनता है।

यद्यपि जीवन के लिये काम आवश्यक है फिर भी उसमें पूर्णता और स्थिरता नहीं है। प्रकृति की रचना ही ऐसी है कि इच्छानुसार साधन सब को मिल नहीं सकते इससे सुख की अपेक्षा दुःख अधिक ही मालूम होता है। इसलिये प्राचीन समय से ही मोक्ष की कल्पना चली आ रही है। पहिले तो स्वर्ग की कल्पना की गई परन्तु कामसुख के लिये कैसी भी अच्छी कल्पना क्यों न की जाय उसमें पूर्णता आ ही नहीं सकती। इससे दार्शनिकों ने मोक्ष की कल्पना की। यद्यपि उसमें भी मनभेद रहा और वह आकर्षक भी नहीं बन सकी, फिर भी इतना तो हुआ कि लोगों के सामने सुख का एक ऐसा रूप रखवा गया जो नित्य हो और जिसके साथ दुःख न हो। यद्यपि परलोक में मोक्ष की जो कल्पना की गई है उससे सिर्फ दुःखाभाव ही मालूम होता है सुख नहीं मालूम होता, इसलिये न्याय वैशेषिक आदि दर्शनकारों ने मोक्ष में दुःख और सुख का अभाव मानलिया है फिर भी इतना तो मालूम होता है कि वह स्थायीरूप में दुःख के नाश के लिये है। इसलिये यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि मोक्ष किसी स्थान का नाम नहीं है किन्तु दुःखरहित स्थायी शान्ति

का नाम मोक्ष है।

इस प्रकार का मोक्ष मरने के बाद भी मिले तो यह अच्छी बात है। परन्तु परलोक सम्बन्धी मोक्ष को दार्शनिक सिद्धान्त से लटकाकर रखने की जरूरत नहीं है। परलोक हो या न हो, अनन्त मोक्ष हो या न हो, हमें वो इसी जीवन में मोक्ष का सुख पाना है पाना चाहिये और पा सकते हैं, इसीलिये मोक्ष जीवार्थ है और काम के साथ उसका समन्वय भी किया जा सकता है जितना सुख काम-सेवा से उठाया जा सकता है उतना काम सेवा से उठावें बाकी असीम सुख मोक्ष-सेवा से उठावें इस प्रकार अपने जीवन को पूर्ण-सुखी बनावें। यही सकल जीवार्थों का समन्वय है।

मोक्ष सहज सौन्दर्य धाम है।

उसका ही शृङ्गार काम है॥

सहज द्विगुण होता है पाकर उचित सभ्य शृङ्गार।

समस्त भव दूर मोक्ष का द्वार ॥

पूर्व दुखी होने के दो मार्ग हैं—(१) सुख

के साधनों को प्राप्त करना और दुःख के साधनों को दूर करना (२) किसी भी तरह के दुःख का सम्भाव अपने हृदय पर न होने देना। पहिले उपाय का नाम काम है दूसरे उपाय का नाम मोक्ष है। गृहस्थ बनकर भी मनुष्य इस मोक्ष को पा सकता है और मोक्ष को पाकर भी इस जीवन में रह सकता है। ऐसे ही लोगों को जीवनसुख या विवेक कहते हैं। विपत्तियाँ और परलोभन जिन्हें न तो छुन्य कर पाते हैं न दुःखी कर पाते हैं न कर्तव्यन्युत्तर कर पाते हैं वे ही मुक्त हैं। धर्म अर्थ और काम के साथ यह सुकृता भी जिनके जीवन में होती है उन्हीं का जीवन पूर्ण और सफल है।

इन चारों जीवार्थों की दृष्टि से जीवन के अगर भेद किये जायें तो चारह भेद होंगे। १

१ जीवार्थशून्य, २ कामसेवी, ३ अर्थसेवी, ४ अर्थकामसेवी, ५ धर्मसेवी, ६ धर्मकामसेवी, ७ धर्मार्थसेवी, ८ धर्मार्थकामसेवी, ९ धर्ममोक्ष-

सेवी, १० धर्मकाममोक्षसेवी, ११ धर्मार्थमोक्षसेवी, १२ पूर्णजीवार्थी।

इन चारह भेदों में पहिले चार जघन्य श्रेणी के हैं वृणित या दयनीय हैं, बीच के चार मध्यम श्रेणी के हैं, सन्तोषप्रद हैं, अन्तिम चार उत्तम श्रेणी के हैं प्रशंसनीय हैं।

धर्म के बिना मोक्ष की सेवा सम्भव नहीं है इसलिये केवल मोक्षसेवी, अर्थमोक्षसेवी, काम-मोक्षसेवी, अर्थकाममोक्षसेवी, ये चार भेद नहीं हो सकते। इन चारों भेदों में मोक्ष तो है पर धर्म नहीं है। धर्म के बिना मोक्षसेवा नहीं बन सकती। चारह भेदों का स्पष्टीकरण इस तरह है।

१-जीवार्थशून्य (नेबीट)— जिसके जीवन में धर्म अर्थ काम मोक्ष कोई भी जीवार्थ नहीं है वह जीवार्थशून्य है। वह मनुष्याकार पशु है बल्कि बैल आदि कर्मठ पशुओं से गया बीता भी है, बहा तक कि अनेक आनन्दी पशुपक्षियों से भी गया बीता है।

बहुत से मनुष्य, जिनमें अनेक पदे-तिले लोग भी शामिल हैं, हर तरह पतित होते हैं। वे झूठ बोलने में विश्वासघात करने में शरमिन्दा नहीं होते। कृतज्ञता उनके जीवन में नहीं होती। अपनी दयनीयता प्रगट कर दूसरों से उपकार करा लेते हैं और फिर समझते हैं कि हमने चतुराई से कैसा काम बनालिया, उपकारियों की निन्दा भी करने लगते हैं, या उन्हें पूँजीपति आदि कहकर उन्हें ठगने का अपना अधिकार घोषित करने लगते हैं, ऐसा कोई काम नहीं कर सकते जिससे ईमानदारी के साथ जीविका कर सकें, आमद से स्वर्ण यदाकर रखते हैं, ऋण लेकर दे नहीं सकते, ऐसे मनुष्य धर्मशून्य और अर्थशून्य हैं। स्वभाव की खराबी अत्यधिक क्रोध, अत्यधिक घमण्ड के कारण स्वयं भी दुखी होते हैं और दूसरों को भी दुःखी करते हैं। मूर्खता के कारण जीवन की कला नहीं जानते, जिससे थोड़े से थोड़े साधनों में भी अधिक से अधिक आनन्द

नूट सकें, इस तरह वे कामहीन होते हैं। और भीतर का मोक्ष सुख वो बेचारा से कोसों दूर रहता है, वह तो उन्हें मिलेगा ही क्या? ये जीवार्थरुण्य हैं। इनके पास एक भी जीवार्थ नहीं है। बेचारों का जीवन उनके लिये और जगत के लिये भार के समान है।

२-कामसेवी (दंविगर) जिनके जीवन में सिर्फ काम है धर्म अर्थ मोक्ष नहीं है वे दंविगर हैं। ये अर्थोपार्जन के लिये ऐसा कोई काम नहीं करते जिससे किसी दूसरे की सेवा हो। संयम ईशान आदि की भर्त्सना नहीं रखते, आवश्यकता होते ही हर तरह की बेईमानी करने को तयार होजाते हैं। इस प्रकार अर्थ इनके पास नहीं होता। मोक्ष तो ऐसे लोगों के पास होगा ही क्या? ये लोग वापदाशों की कमाई पर विलासी बनते हैं, या श्रृण लेलेकर खाते हैं, या बेवधारी घनकर बिना कुछ सेवा दिये भीख मागकर जैल करते हैं। अपने थोड़े से स्वार्थ के पीछे जगत के किसी भी हित की परवाह नहीं करते। ये इन्द्रियों के गुलाम होते हैं। इनमें से अधिकांश अपने जीवन के उत्तरार्ध में काफी दुखी और दयनीय बनजाते हैं। ये समाज के लिये घृणित भी हैं और भयंकर भी।

३-अर्थसेवी (दंकाजर) धनोपार्जन ही इनके जीवन का लक्ष्य है। धन कमाते हैं पर कमाते हैं किसलिये, यह भी नहीं समझते। संयम, उदारता और प्रेम इनमें नहीं होते। ये मितव्ययी नहीं बनसकते हैं। न आध्यात्मिक सुख भोग सकते हैं न भौतिक। यहाँ तक कि इनमें से अधिकांश के कुटुम्बी तक इनसे सन्तुष्ट नहीं रह पाते। धन इकट्ठा कर दूसरों को गरीब बनाते रहता ही इनकी दिनचर्या है। ये समाज की पीठ पर भी सुका मारते हैं और पेट पर भी।

घटत में लोगों के पास करोड़ों की सम्पत्ति होजाती है फिर भी दिनरात धनोपार्जन में लगे रहते हैं। उसकेलिये वे सरकारों पर प्रभाव डालते हैं और गठेगाँव यदाकं अधिक धन पैदा करने

के लिये युद्धों की तैयारी कराते हैं, सरकारों को या राष्ट्रां को लड़वाते हैं। इस प्रकार अनेक अनर्थ कर करोड़ों अर्थों की सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं पर उससे किसी को सुखी नहीं कर पाते। ऐसे लोग सिर्फ अर्थसेवी (दंकाजर) हैं। ये भी भवका हैं भूमार हैं।

४ अर्थकामसेवी (काजचिगर) धन कमाना और मौज उड़ाना ही इनका ध्येय है। सम्पत्तिमें कहते हैं हमें किसी की परवाह नहीं। विपत्ति में कहते हैं दुनिया बड़ी स्वार्थी है कोई काम नहीं आता। रुपये का भोग करके पैसा भी दान में न देगे। पीड़ितों और असहायों को देखकर हँसेगे। ये लोग स्वार्थ की मूर्ति हैं। ऐसा कोई पाप नहीं जिसे करने को ये तैयार न हो जायें। पर असफलताएँ आखिर इनके जीवन को मिट्टी में मिला देती हैं भोग इन्हे ही भोगने लगते हैं और नीरस हो जाते हैं। कोई इनसे प्रेम नहीं करता। स्वार्थी होस्त इन्हे मिलते हैं पर सब अपनी अपनी घात में रहते हैं। आत्मसन्तोष इन्हें कभी नहीं मिलता।

५ धर्म-सेवी (दधर्मी) - ये लोग सदाचारी तो हैं फिर भी इनका जीवन प्रशंसनीय नहीं है। समाज की या किसी व्यक्ति की क्या पर इनका जीवन निर्भर रहता है। ये समाज से जो कुछ लेते हैं उसके बदले में कुछ नहीं देते। इनके जीवन में किसी तरह का आनन्द नहीं होता। बहुत से साधुवेधो अपने को इसी भेषी में बताने की कोशिश करते हैं। वे समाज को कुछ नहीं देते काम का आनन्द नहीं पाते, मोक्ष के लायक निर्मिता उनमें नहीं होती सिर्फ दुराचार से दूर रहते हैं। इस प्रकार का विकल जीवन सफल नहीं कहा जा सकता। और न ऐसे लोगों का धर्म टिकाऊ रहता है।

६ धर्मकामसेवी (धर्मचिगर) - धर्म होने के कारण इनका काम जीवार्थ सीमित है। पर जीवन निर्वाह के लिये कुछ नहीं करते अनावश्यक कष्टों को निमन्त्रण नहीं देते आराम से रहते हैं। इस प्रकार अर्थसेवा के बिना इनका

जीवन दयनीय है।

७ धर्मार्थसेवी (धर्मकजर)— सदाचारी हैं, जगत से जो कुछ लेते हैं उसके बदले में कुछ देते हैं पर जिनका जीवन आनन्द हीन है। आराम नहीं लेते, एक तरह का असन्तोष बना रहता है।

८ धर्मार्थकामसेवी (धर्मकाजचिगर)—तीनों जीवार्थों का यथायोग्य समन्वय करने से इनका जीवन व्यवहार में सफल होता है पर पूर्ण सफल नहीं होता। असुविधाओं का कष्ट इनके मन में बना ही रहता है। वह मोक्ष सेवा से ही दूर हो सकता है।

९ धर्ममोक्षसेवी (धर्मजिन्नर)—इस श्रेणी में वे योगी आते हैं जो दुःखों की पवाह नहीं करते, समाज की पवाह नहीं करते, समाज को कुछ नहीं देते, जिन्हें प्राकृतिक आनन्द की भी पवाह नहीं और यश की भी पवाह होती। इनका जीवन बहुत ऊँचा है पर आदर्श नहीं।

१० धर्म-काम-मोक्षसेवी (धर्मचिग जिन्नर)— सदाचारी और निर्लिप्त जीवन बितानेवाले, प्रकृति का आनन्द छूटने वाले, अथवा यश फैलाने वाले, इस तरह इनका जीवन अच्छा है। पर एक जगह है कि समाज को कुछ सेवा नहीं देते इसलिये ऐसा काम भी नहीं रखते जिसके लिये समाज से कुछ लिया जाय। इनका काम ऐसा है जिसके लिये समाज को कुछ खर्च नहीं करता पड़ता। वह प्राकृतिक होता है।

११ धर्मार्थ-मोक्षसेवी (धर्म काज जिन्नर)— इस श्रेणी में वे महात्मा आते हैं जो पूर्ण सदाचारी हैं पूर्ण निर्लिप्त हैं कोई भी विपत्ति जिन्हें चलि नहीं कर पाती। जो कुछ लेते हैं उससे कई गुणा समाज को देते हैं इस प्रकार अर्थ जीवार्थ का सेवन करते हैं। पर काम की तरफ जिनका लक्ष्य नहीं जाता। प्राकृतिक आनन्द छटाने में भी जिनकी रुचि नहीं होती। अनाश्यक कष्ट भी छटाने में तैयार रहते हैं। काम से जिन्हें एक तरह की अरुचि है। सामाजिक वातावरण का प्रभाव उन्हें उचित और निर्दोष

काम की तरफ भी नहीं झुकने देता। ऐसे महात्मा जगत के महान सेवक हैं। वे पूज्य हैं बहुत अर्थों तक आदर्श भी हैं फिर भी पूर्ण आदर्श नहीं।

प्रश्न—यदि वे काम जीवार्थ का सेवन नहीं करते तो अर्थ-जीवार्थ का सेवन किसलिये करते हैं।

उत्तर—इन लोगों का अर्थ-जीवार्थ अर्थ-संग्रह के रूप में नहीं होता। वे जगत की सेवा करते हैं बदले में जीवित रहने के लिये नाममात्र का लेते हैं। गुप्त में कुछ नहीं लेते यही इनका अर्थ जीवार्थ-सेवन है।

प्रश्न—क्या ऐसे लोग प्रकृति की शोभा न देखते होंगे क्या कभी संगीत न सुनते होंगे। कम से कम यश तो इन्हें मिलता ही होगा क्या यह सब काम जीवार्थ का सेवन नहीं है ?

उत्तर—पर इस श्रेणी में बहुत से प्राणी ऐसे होते हैं जो यश की तरफ रुचि तो रखते ही नहीं है पर यश पाते भी नहीं हैं। दुनिया उनके महत्व को नहीं जान पाती। संगीत और सुन्दर हरय भी इन्हें पसन्द नहीं हैं। जयर्दस्ती आ जाय तो यह बात दूसरी है। यह काम जीवार्थ का सेवन नहीं है। यों तो जगत में ऐसा कौन व्यक्ति है जिसने जीवन में स्वादिष्ट भोजन न किया हो या सुन्दर स्वर न सुना हो अथवा किसी न किसी आनन्ददायी विषय से सम्पर्क न हुआ हो। पर इतने में ही काम जीवार्थ की सेवा नहीं पूरी जा सकती। अपनी परिस्थिति और साधनों के अनुकूल ही काम जीवार्थ की सेवा का अर्थ लगाया जायगा। एक लक्षाधिपति और एक भिगारी का काम जीवार्थ एकसा न होगा। उन दोनों के साधनों का प्रभाव उनके काम पर पड़ेगा सर्वाथा कामहीन जीवन तो असम्भव है। योग्य कामहीन होने से ही किसी का जीवन कामहीन कहलाना है। इस श्रेणी के समुच्चों का जीवन योग्यकाम-हीन होता है इसलिये इन्हें धर्मार्थमोक्षसेवी कहा गया है।

१२ सर्वजीवार्थसेवी (पुमवीर)— चारों जीवार्थों का इनके जीवन में योग्य स्थान रहता

है। म. राम, म. कृष्ण, म. महावीर, म. बुद्ध, म. ईसा, म. मुहम्मद आदि महापुरुषों का जीवन इसी कोटि का था। यह आदर्श जीवन है।

प्रश्न—म. राम, म. मुहम्मद आदि का जीवन नीतिमय था इसलिये आप इन्हें धर्मात्मा कह सकते हैं पर मोक्ष का स्थान इनके जीवन में क्या था। इनमें संन्यास भी नहीं लिया।

उत्तर—दुःखोंसे काफी निर्लिप्त रहना, और शान्ति का अनुभव करना मोक्ष है। इसका पता उनकी कर्तव्य तत्परता, आपत्ति और प्रलोभनों के विजय से लगता है। संन्यास लेना या न लेना ये तो समाजसेवा के सामयिक रूप हैं जो अपनी अपनी परिस्थिति और रुचि के अनुसार रखना पड़ते हैं। मोक्ष की सेवा तो दोनों अवस्थाओं में हो सकती है।

प्रश्न—म. महावीर और म. बुद्ध के जीवन में अर्थ और काम क्या था? ये तो संन्यासी थे। म. महावीर तो अपने पास कपड़ा भी नहीं रखते थे तब ये पूर्ण जीवार्थसेवी कैसे?

उत्तर—अर्थसेवन के लिये यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य अर्थ का संग्रह करे। उसके लिये यही आवश्यक है कि शरीरस्थिति के लिये जो कुछ वह समाज से लेता है उसका बदला समाज को दे यह बात दूसरी है कि महात्मा लोग उससे कई गुणा देते हैं।

म. महावीर और म. बुद्ध का जीवन साध-कावस्था में ही कामहीन रहा है। सिद्ध-जीवन्मुक्त अवस्था में तो उनके जीवन में काम का काफी स्थान था। म. बुद्ध ने तो बाह्य तपस्याओं को अपनी संस्था में से हटा दिया था और म. महावीर ने भी बाह्य तपस्याओं का अपने जीवन में त्याग कर दिया था। केवलज्ञान होने के पहिले धारह वर्ष तक उनके तपस्याएँ कीं हैं बाद में नहीं। इससे मालूम होता है कि उनके जीवन में काम को स्थान था। इस प्रकार इन महात्माओं के जीवन में धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों जीवार्थों का समन्वय हुआ है।

प्रत्येक जीवन में चारों जीवार्थों का समन्वय हो तभी वह जीवन सफल कहा जा सकता है। मोक्ष को परलोक की धार्मिक चर्चा का विषय न बनाता चाहिये। धर्मशास्त्र तो इसी जीवन में मोक्ष वतलाता है वह हमें प्राप्त करना चाहिये। त्रिवर्गसंसाधन नहीं चतुर्वर्गसंसाधन हमारा ध्येय होता चाहिये। तभी हम जीवार्थ की दृष्टि से आदर्श जीवन बिता सकते हैं।

२-भक्त-जीवन (भक्तजिवो)

ग्यारह भेद

मनुष्य जिस चीज का भक्त है उसी को पाने की वह इच्छा करता है उसी में वह महत्व देखता है इसलिये दूसरे भी उसी चीज को पाने की इच्छा करते हैं इससे समाज पर उसका अच्छा या बुरा असर पड़ा करता है। इसलिये भक्ति की दृष्टि से भी मानव जीवन के अनेक भेद हैं और उनसे जीवन का महत्व लघुत्व वा अच्छा बुरापन मालूम होता है।

भक्त जीवन के ग्यारह भेद हैं—

- | | | |
|--------------|---|--------|
| १ भयभक्त | } | लघुत्व |
| २ आतंकभक्त | | |
| ३ स्वाधभक्त | | |
| ४ वैभवभक्त | | |
| ५ अधिकारभक्त | } | मध्यम |
| ६ वेपभक्त | | |
| ७ कलाभक्त | | |
| ८ गुणभक्त | } | उत्तम |
| ९ आदर्शभक्त | | |
| १० उपकारभक्त | | |
| ११ सत्यभक्त | | |

भयभक्त (हिडभक्त)—कल्पित या अकल्पित भयंकर चीजों का भक्त या पुजारी भयभक्त या भयपूजक है भूत पिशाच शनैश्चर आदि की पूजा करने वाला, या आसमान में बसकती हुई विजली आदि से डरकर उसकी पूजा करनेवाला,

जो मनुष्य अपने व्यवहार से हमारा दिल दहला देता है उसकी पूजा करनेवाला भयभक्त है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह सब से नीची श्रेणी है जो प्रायः पशुओं में पाई जाती है। और साधारण मनुष्य अभी पशुओं से बहुत ऊँचा नहीं उठ पाया है इसलिये साधारण मनुष्य में भी पाई जाती है।

भय से मतलब यहाँ भक्तिभय या विरक्तिभय से नहीं है। भोगभय वियोगभय आदि अपाय भयों से है। भय से अर्थात् डरकर किसी की भक्ति करना मनुष्यता को नष्ट करना है।

जब मनुष्य भय से भक्ति करने लगता है तब शक्तिशाली लोग शक्ति का उपयोग दूसरों को डराने या अत्याचार में करने लगते हैं वे प्रेमी बनने की कोशिश नहीं करते। इस प्रकार भयभक्ति अत्याचारियों की वृद्धि करने में सहायक होने से पाप है।

२ आतंक भक्त (डौंढंभक्त) - जो लोग दुनिया पर आतंक फैलाते हैं वे दुनिया की सेवा नहीं करते सिर्फ शक्ति का प्रदर्शन करते हैं उनकी पूजा भक्ति करनेवाला आतंकभक्त है। बड़े-बड़े दिग्विजयी सम्राटों या सेनानायकों की भक्ति आतंकभक्ति है। यद्यपि यह भी एक तरह की भयभक्ति है पर वहाँ भयभक्ति से इसमें अन्तर यह रक्ता गया कि है कि भयभक्ति अपने ऊपर आये हुए भय से होती है और आतंकभक्ति वह है जहाँ अपने ऊपर आये हुए भय से सम्बन्ध नहीं रहता किन्तु जिन लोगों ने कहीं भी और कभी भी समाज के ऊपर आतंक फैलाया होता है उनकी भक्ति होती है। चंगेजखाँ नादिरशाह या और भी ऐसे लोग जितने तिरपराधी, लोगों पर आतंक फैलाया हो उनकी वीरपूजा के नाम पर भक्ति करना आतंकभक्ति है। भयभक्ति में जो दोष है वही दोष इसमें भी है।

प्रश्न—आतंक तो सज्जनों का भी होता है। जैसे परखीलम्पट रावण के दिल पर म राम का आतंक छा गया, या सामयिक सुधार के विरोधी काफ़िरों पर हजरत मुहम्मद का आतंक

छा गया, अब अगर इनकी भक्ति की जाय तो क्या यह आतंकभक्ति कहलायगी? और क्या यह अधम श्रेणी की होने से निन्दनीय होगी?

उत्तर—आतंक से इनकी भक्ति करना अच्छा नहीं है। किन्तु लोकहित के शत्रुओं को इनमें नष्ट किया और इससे लोकहित किया इस दृष्टि से अवश्य ही इनकी भक्ति की जा सकती है। यह आतंकभक्ति नहीं है किन्तु कल्याण भक्ति या सत्यभक्ति है। यह उत्तम श्रेणी की है।

३ स्वार्थभक्त (लुब्धंभक्त) - अपने स्वार्थ के कारण किसी की भक्ति करनेवाला स्वार्थभक्त है यह भक्ति प्रायः नौकरों में मालिकों के प्रति पाई जाती है।

इस भक्ति में खराबी यह है कि इसमें न्याय अन्याय उचित अनुचित का विचार नहीं रहता है। और स्वार्थ को धक्का लगने पर यह नष्ट हो जाती है।

प्रश्न—बहुत से स्वामिभक्त कुत्ते या घोड़े या अन्य जानवर या मनुष्य ऐसे होते हैं जो प्राण देकर भी अपने अपने स्वामी की रक्षा करते हैं, जैसे चेटक ने राणा प्रताप की की थी, हाथी ने सम्राट पोरस की की थी, इसे क्या स्वार्थभक्ति कहकर अधम श्रेणी की कहना चाहिये? इस प्रकार की भक्ति से तो इतिहास में भी स्थान मिलता है इसे अधम श्रेणी की भक्ति कैसे कह सकते हैं?

उत्तर—यह स्वार्थभक्ति नहीं कृतज्ञता या कर्तव्यतत्परता है। अगर स्वार्थभक्ति होती तो ये प्राण देकर स्वामी की रक्षा न करते। स्वार्थभक्ति वहाँ है जहाँ स्वार्थ के नष्ट होते ही मनुष्य गुणानुराग कृतज्ञता न्याय आदि को भूलकर भक्ति छोड़ बैठे। प्रताप की रक्षा करने वाले चेटक में कर्तव्यतत्परता थी इसलिये उसने प्राण देकर भी प्रताप की रक्षा की। यह न समझना चाहिये कि जानवरों में कर्तव्यतत्परता नहीं हो सकती। जानवरों में पांडित्य भले ही न हो परन्तु कृतज्ञता प्रेम भक्ति आदि भावना के रूप रह सकते हैं।

५ वैभवभक्त (धनोक्त)-धन वैभव होने में किसी की भक्ति करना वैभवभक्ति है। वैभवभक्ति का परिणाम यह है कि मनुष्य हर तरह की वैभवमानी में धनी बनने की कोशिश करता है। धन जीवन के लिये आवश्यक चीज है और इसी-लिये अधिक धनसंग्रह पाप है क्योंकि इससे दूसरे लोगों को जीवन के 'आवश्यक पदार्थ' दुर्लभ हो जाते हैं। एक जगह संग्रह होने से उसका वटवारा ठीक तरह नहीं हो पाता। जो मनुष्य धनसंग्रह का पाप कर रहा है उसकी भक्ति करना तो पाप में उल्टा जाना होता है। इसलिये वैभवभक्ति अधम भोगी की भक्ति है, हेय है।

६ धन-धनीयों से कुछ न कुछ जगत की भलाई होती ही है कुछ न कुछ दान भी होता है और पैसा पैसा करने की शक्ति भी कुछ विशेष गुणों पर निर्भर है इसलिये वैभवशालियों की भक्ति में 'अमुक धन' में गुणभक्ति सेवाभक्ति आदि आती जाते हैं तब वैभवभक्ति या धनभक्ति को अधम भक्ति क्यों कहा जाय ?

उत्तर-धनवान अगर जगत की भलाई या सवा करता है तो उसकी परोपकारशीलता की भक्ति करके उपकारभक्ति की जा सकती है धनो-पार्श्व में अगर उसने बुद्धि आदि किसी गुण का तथा ईमानदारी का उपयोग किया है तो उन गुणों की भक्ति की जा सकती है पर यह धन-भक्ति नहीं है। जहाँ अन्य किसी गुण की उपेक्षा करके केवल धनवान होने से किसी की भक्ति या आदर किया जाता है, वहाँ तक कि वह वैश्वमान आदि हो, वैभवमानी से ही उसने धन कमाया हो फिर भी उससे धन की भक्ति की जाती हो तो यह धनभक्ति है। यह धनसंग्रह के पाप को उल्टा-जान करती है इसलिये अधम भक्ति है।

धन-धन वह शक्ति अवश्य है क्योंकि १५०० रु० खाने की लागत है। उस शक्ति का उपयोग करने के लिये अगर किसी धनी की भक्ति को पाप तो क्या बुराई है। अगर हमारे लोभे-लोभों में आदर धन में तारीफ़ कर देने

से कोई श्रीमान किसी अच्छे काम में अपनी सम्पत्ति लगावे तो उसका आदर आदि करना क्या बुरा है ? इससे दुनिया की कुछ न कुछ भलाई ही है।

उत्तर-यह धनभक्ति नहीं है। जैसे किसी बालक को प्रेम से पुचकारते हैं और पुचकार कर उससे कोई काम करा लेते हैं तो यह उसकी भक्ति नहीं है, इसी प्रकार कोई श्रीमान प्रशंसा और यश से ही कर्तव्य करता हो, उसे वास्तविक कर्तव्य का पता न हो तो आदर सत्कार करके उससे कुछ अच्छा काम करा लेना अनुचित नहीं है। पर यह धनभक्ति नहीं है, समझ बुझाकर या लुभाकर अच्छा काम करा लेने की एक कला है। बिबेकी श्रीमान तो आदर सत्कार यश आदि की पूर्वाह्न किये बिना उचित मार्ग में धन करेगा इस प्रकार अपनी परोपकारशीलता से जनता की सच्ची भक्ति पायेगा। वह कला का विषय न बनकर भक्ति का विषय बनेगा।

७ अधिकारभक्त (रीजोभक्त)-अमुक आदमी किसी पद पर पहुँचा है, वह न्यायाधीश है, राजमन्त्री है, किसी विभाग का सचिवालक है, आदि पदों से उसकी भक्ति करना अधिकारभक्ति है, यह भी एक लज्जित या अधम भक्ति है।

ऐसे भी बहुत से पद हैं जो किसी सेवा के बलपर मनुष्य को मिलते हैं उनके कारण किसी की भक्ति करना उस सेवा की ही भक्ति है। पर सेवा का विचार किये बिना पद के कारण किसी की भक्ति करना अधम भक्ति है। अमुक आदमी की कल तक बात न पूछते ये आज वह राजमन्त्री या न्यायाधीश हो गया है तो उसे मानपत्र दो, अभ्युक्त बनाओ, यो करो त्यों करो, यह सब अधम भक्ति है।

जय समाज में इस प्रकार के अधिकारभक्त बढ जाते हैं तब मनुष्य को सेवा की पूर्वाह्न नहीं रहती अधिकार ही रहती है। अधिकार को पाने के लिये मनुष्य सब कुछ करने को उत्तम हो जाता है वह अच्छे से अच्छे सेवकों को अपना देयर गिरा देता चाहता है और आगे बढ़कर

जनता की भक्ति पूजा लूट लेना चाहता है। इसमें उस आदमी का तो असंयम है ही, साथ ही जनता का भी दोष है। जनता जब अपने सेवक की अपेक्षा अधिकारी की अधिक भक्ति करेगी तब लोग सेवक बनने की अपेक्षा अधिकारी बनने की अधिक कोशिश करेंगे। इससे सेवक घटेंगे अधिकारों के लुटारू बढ़ेंगे इसलिये अधिकारभक्ति भी एक तरह की बुराई है। अधिकारी की भक्ति उतनी ही करना चाहिये जितनी कि अधिकारी होने के पहिले उसके गुणों और सेवाओं के कारण करते थे।

५२—व्यवस्था की रक्षा करने के लिये अधिकारभक्ति करना ही पड़ती है और करना भी चाहिये। न्यायालय में जानेवाले अगर न्यायाधीश के व्यक्तित्व का ही खयाल करें और उसके अधिकार की तरफ ध्यान न दें तो न्यायालय की इज्जत भी कायम न रहे, न्यायाधीश को न्याय करना भी कठिन हो जाय।

उत्तर—न्यायालय में न्यायाधीशका सम्मान न्यायाधीश की भक्ति नहीं है यह तो उचित मर्यादा का पालन है। न्यायासन पर व्यक्ति के व्यक्तित्व का विचार नहीं किया जाता उस पद का विचार किया जाता है। न्यायालय के आदर में व्यक्ति को त्रितकुल गौण कर देना चाहिये। न्यायालय के बाहर उस व्यक्ति का आदर उसके गुण के अनुसार करना चाहिये वहा उसके पद या अधिकार को गौण कर देना चाहिये।

प्रश्न—ऐसे भी अधिकारी हैं जो चौबीसों घंटे अपनी ड्यूटीपर माने जाते हैं उसके लिये न्यायालय के भीतर या बाहर का भेद नहीं होता।

उत्तर—ऐसे लोग जब ड्यूटी के काम के लिये आवें तब उनका वैसा आदर करना चाहिये, परन्तु जब वे किसी धार्मिक सामाजिक या वैयक्तिक कार्य से आवें तब उनका अधिकारीपन गौण समझना चाहिये।

मतलब यह है कि अधिकार और महत्ता का पूर्यता से मेल नहीं बैठता। अच्छे से अच्छे जनसेवक त्यागी व्यक्ति अधिकारहीन होते हैं

और साधारण से साधारण लुद्ध व्यक्ति अधिकार पा जाते हैं। अधिकार के आसन पर बैठकर वे आदर सम्मान तो लूट ही लेते हैं, अब अगर अन्यत्र भी वे आदर सम्मान लूटें और सच्चे सेवक और त्यागी भी उनके आगे गौण कर दिये जाय तो समाज के लिये इससे बढ़कर कृतघ्नता और क्या हो सकती है। और इसी कृतघ्नता का यह परिणाम है कि समाजसेवा की अपेक्षा पदाधिकारी बनने की तरफ मनुष्य की रुचि अधिक होती है। प्रजातन्त्र शासन की अच्छाई भी इसी कारण धीरे धीरे नष्ट हो जाती है।

हा, यह ठीक है कि कोई पदाधिकारी योग्य भी हो और उसने अपनी योग्यता का धन का जन का समाज सेवा के कार्य में उपयोग किया हो तो इस दृष्टि से उसकी भक्ति की जा सकेगी। पर जब दूसरे समाजसेवी से उसकी तुलना होगी तो समाज सेवा ही की दृष्टि से तुलना होगी, अधिकार की दृष्टि से नहीं।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि कोई धनी या अधिकारी आर्थिक आदि कारणों से सम्पर्क में आता है, उससे परिचय हो जाता है, और पता लगता है कि वह सिर्फ धनी या अधिकारी ही नहीं है किन्तु गुणों में भी श्रेष्ठ है परोपकारी भी है, इस प्रकार उसकी भक्ति पैदा हो जाती है तो यह धनभक्ति या अधिकारभक्ति नहीं है किन्तु गुणभक्ति या उपकारभक्ति है।

६ वेपभक्त (रु'जो भक्त)—गुण हो या न हो किन्तु वेप देखकर किसी की भक्ति करना वेपभक्ति है। वेपभक्त भी जघन्य श्रेणी का भक्त है। जब हम विद्वत्ता त्याग समाजसेवा आदि का अपमान करके किसी वेप का सम्मान करते हैं तब यह अधम भक्ति समाज में इन गुणों की कमी कराने लगती है और वेप लेकर पुत्रवै के लिये धूर्तों मूढ़ों गुणहीनों को उत्तेजित करती है। वेप तो किसी संस्था के सदस्य होने की निशानी है महत्ता या गुण के साथ उसका नियत सम्बन्ध नहीं है। वेप लेकर भी मनुष्य हीन हो

सकता है। वेप के आगे वास्तविक महत्ता का अपमान न होना चाहिये।

प्रश्न—वेप किसी संस्था के सदस्य होने की विशानी है, तब यदि उस संस्था का सम्मान करना हो तो वेप का सम्मान क्यों न किया जाय ?

उत्तर—वेप का सम्मान एक बात है, वेप होने से किसी व्यक्ति का सम्मान करना दूसरी बात है, वेप के द्वारा किसी संस्था का सम्मान करना तीसरी बात है, और वेप के द्वारा आत्म-शुद्धि और जनसेवा का सम्मान करना चौथी बात है। इनमें से पहिली दो बातें उचित नहीं है। तीसरी बात ठीक है परन्तु उसमें बर्बाद होना चाहिये। संस्था का सम्मान उतना ही उचित है जितनी उससे लोकसेवा होती है। कोई संस्था यह नियम बनाले कि हमारे सदस्यों से जो मिलने आये उसे जमीन पर बैठना पड़ेगा भले ही मिलनेवाला कितना ही बड़ा लोकसेवी विद्वान हो और हमारा सप्टस्य सिंहासन या ऊँचे तख्त पर बैठेगा भले ही उसकी योग्यता कितनी ही कम हो, तो उस संस्था की यह ब्यादती है। संस्था का सम्मान उसके रीतिरिवाज के आधार पर नहीं किन्तु उसकी लोकसेवा आदि के आधार पर किया जाना चाहिये।

चौथी बात सर्वोत्तम है। इसमें संस्था का प्रश्न नहीं रहता इसमें वेप तो सिर्फ एक विज्ञापन है जिससे आकृष्ट होकर लोग व्यक्ति की आत्म-शुद्धि और जनसेवा की परीक्षा के लिये उत्सुक हों। इसका वाद जैसा उसे पायें उसके साथ वैसा ही व्यवहार करें।

७ कलाभक्त (चित्रभक्त)—मन और इन्द्रियों को प्रसन्न करनेवाली साकार या निराकार रचना विशेष का नाम कला है। जैसे वक्त्रत्व कवित्व संगीत आदि निराकार कला, मूर्ति चित्र नृत्य आदि साकार कला। जहाँ कला है वहाँ कम स्वर्च में भी अधिक आनन्द मिल सकता है, जहाँ कला नहीं है वहाँ अधिक स्वर्च में भी उतना आनन्द नहीं मिल पाता। चतुर चित्रकार पेन्सिल से दो

चार रेखाएँ खींचकर सुन्दर चित्र बना लेता है और अनाड़ी चित्रकार स्याही से कागज भर कर भी कुछ नहीं कर पाता। यह कला की विशेषता है।

कला की भक्ति मध्यम श्रेणी की भक्ति है। अधिकारभक्ति धनभक्ति आदि से जो दूसरों पर बोझ पड़ता है वह कलाभक्ति से नहीं पड़ता। कला जगत को कुछ देती ही है जब कि धन अधिकार आदि दूसरों से खींचते हैं। मुझे धनी बनने के लिये दूसरा से छीनना पड़ेगा या लेना पड़ेगा पर कलावान होने के लिये दूसरों से छीनना जरूरी नहीं है थोड़ा बहुत दूंगा ही। जगत में बहुत से धनी अधिकारी आदि हों इस की अपेक्षा यह अच्छा है कि बहुत से कलावान हों। इसलिये कलाभक्त धनभक्त आदि से अच्छी है मध्यम श्रेणी की है।

उत्तम श्रेणी की वह इसलिये नहीं है कि कलावान होने से ही जगत को लाभ नहीं होता। उसका दुरुपयोग भी काफी हो सकता है। इसलिये सिर्फ कलाभक्ति से कुछ लाभ नहीं उसके सदुपयोग की भक्ति ही उत्तम श्रेणी में जा सकती है। पर उस समय कला गौण हो जायगी और उससे होनेवाला उपकार हों मुख्य हो जायगा इसलिये वह कलाभक्ति न रह कर उपकारभक्ति रहेगी।

८ गुणभक्त (रमो भक्त)—दूसरे की भलाई कर सकनेवाली शक्ति विशेष का नाम गुण है। जैसे विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, पहिलवान्नी, सुन्दरता आदि। कुछ गुण स्वाभाविक होते हैं और कुछ उपार्जित। बुद्धिमत्ता आदि स्वाभाविक हैं विद्वत्ता आदि उपार्जित। गुणी होने से किसी की भक्ति करना गुणभक्ति है यह भी मध्यम श्रेणी की भक्ति है। इसकी मध्यमता का कारण वही है जो कलाभक्ति का है।

प्रश्न—सौन्दर्य भी एक गुण है उसकी भक्ति मध्यम श्रेणी की भक्ति है और धनी अधिकारी आदि की भक्ति जपन्व श्रेणी की, तब सुन्दरियों

के पीछे धूमनेवाले मध्यम श्रेणी के कहलाये और अधिकारियों को मानपत्र देनेवाले जघन्य श्रेणी के। यह अन्तर कुछ जचता नहीं। यह तो विषय को उच्चेजन देना है।

उत्तर—विषयातुर होकर सुन्दरियों को महत्व देनेवाले गुणभक्त या कलाभक्त नहीं हैं। वे तो विषयभक्त होने से स्वार्थभक्त हैं। विषय को घक्का लगा कि उनकी भक्ति गई। ऐसे स्वार्थभक्त तो जघन्य श्रेणी के हैं। सौन्दर्यभक्ति तो सामूहिक हित की दृष्टि से होती है। एक विद्वान की इसलिये भक्ति करना कि उसने हमारे लड़के को सुप्त में पढ़ा दिया है, गुणभक्ति नहीं है, स्वार्थभक्ति है। एक सुन्दरी की इसलिये भक्ति करना कि उसके रूप से आँखें सिकती हैं सौन्दर्यभक्ति नहीं है स्वार्थभक्ति है। निस्वार्थ दृष्टि से जो भक्ति होगी वही गुणभक्ति रहेगी और मध्यम श्रेणी में शामिल होगी।

६ शुद्धिभक्त (शुद्धो भक्त)—पवित्र जीवन बितानेवाले लोगों की भक्ति करना शुद्धिभक्ति है। इस भक्ति में कोई दुस्वार्थ नहीं होता अपने जीवन को पवित्रता की ओर लेजाने का सत्त्वार्थ होता है। यह उत्तम श्रेणी की भक्ति है क्योंकि इससे पवित्र जीवन बिताने का उच्चेजना मिलती है।

१० उपकारभक्ति (भक्तो भक्त)—किसी वस्तु से कोई लाभ पहुँचता हो तो उसके विषय में कृतज्ञता रखना उपकारभक्ति है। यह भी उत्तम श्रेणी की है क्योंकि इससे उपकारियों की संख्या बढ़ती है।

गाय को जब माता कहते हैं तब वही उपकारभक्ति आती है। गाय एक जानवर है खुद उसे अपनी उपकारकता का पता नहीं है पर हम उससे लाभ उठाते हैं इसलिये माता कहकर भक्ति प्रगट करते हैं। यह किसी नाम की भक्ति नहीं है किन्तु गोजाति के द्वारा होनेवाले मानव जाति के उपकार की भक्ति है। यदि हमने अपनी शक्ति से विवश करके किसी से सेवा ली है तो भी

न्याय के खातिर हमें उसका उपकार मानना चाहिये और यथाशक्य आदर पूजा से कृतज्ञता प्रगट करना चाहिये, यह मनोवृत्ति अच्छी है। इसी दृष्टि से एक कारीगर अपने औजारों की पूजा करता है एक व्यापारी तगजू की पूजा करता है। कृतज्ञ मनोवृत्ति जड़ चेतन का भेद भी गौण कर देती है। गंगा आदि की भक्ति के मूल में भी वही कृतज्ञता की भावना है। इसे देव आदि समझकर अद्भुत शक्तियों की कल्पना तो मूढ़ता है पर उपकारी समझकर भक्ति करना उचित है। इससे मनुष्य में कृतज्ञता जगती रहती है। कृतज्ञता से परोपकारियों की संख्या बढ़ती है कृतघ्नता से अगणित उपकारी नष्ट होते हैं।

प्रश्न—उपकारभक्ति तो स्वार्थभक्ति है स्वार्थभक्ति तो अधम श्रेणी की भक्ति है फिर उपकार के नाम से उसे उत्तम श्रेणी की क्यों कहा ?

उत्तर—स्वार्थभक्ति और उपकारभक्ति में अन्तर है। स्वार्थभक्ति मोह का परिणाम है और उपकारभक्ति विवेक का। स्वार्थ नष्ट होने पर स्वार्थभक्ति नष्ट होजाती है जब कि उपकारभक्ति उपकार नष्ट होनेपर भी बनी रहती है, इसमें कृतज्ञता है। स्वार्थभक्ति में दीनता, वासता मोह आदि हैं।

११ सत्यभक्त (सत्योभक्त)—शुद्धि और उपकार दोनों के सम्मिश्रण की भक्ति सत्यभक्ति है। न तो कोरी शुद्धि से जीवन की पूर्ण सफलता है न कोरे उपकार से, ये तो सत्य के एक एक अंश हैं। जीवन को शुद्ध बनाया पर वह जीवन दुनिया के काम न आया, सिर्फ पुजने के काम का रहा तो ऐसा जीवन अच्छा होने पर भी पूर्ण नहीं है। और उपकार किया पर जीवन पवित्र न बना तो भी वह आदर्श न बना, बल्कि कदाचित्त यह भी हो सकता है कि वह उपकार के बदले अपकार अधिक कर लाय। दोनों को मिलाने से जीवन की पूर्णता है, वही सत्य है इसी की भक्ति सत्यभक्ति है।

ये ग्यारह प्रकार के भक्त बतलाये हैं इन्हें सबक उपासक पूजक आदि भी कह सकते हैं।

पर सेवा आदि करने में तो दूसरों की सहायता की आवश्यकता है लेकिन भक्ति में नहीं है, भक्ति स्वतन्त्र है। इसलिये मनुष्य भक्त बनने का ही पूरा दावा कर सकता है सेवक आदि बनना तो परिस्थिति और शक्ति पर निर्भर है।

भक्ति की जगह प्रेम आदि शब्दों का भी उपयोग किया जा सकता है पर भक्तजीवन शब्द से जो सात्विकता और नम्रता प्रगट होती है वह प्रेमीजीवन शब्द से नहीं होती। जो चीजें हमारी मनुष्यता का विकास करती हैं जगत का सद्धार करती हैं उनके सामने तो हमें भक्त बनकर जाना ही उचित है। मनुष्य प्राणों प्राणियों का राजा होने पर भी इस विश्व में इतना तुच्छ है कि वह भक्त बनने से अधिक का दावा करे तो यह उसका अहंकार ही कहा जायगा। तैर, भक्त कहो, पुजारी कहो, सेवक कहो, प्रेमी कहो, रपासक कहो, करीब करीब एक ही बात है और इस दृष्टि से जीवन के ग्यारह भेद हैं। इनमें से उत्तम श्रेणी का भक्त हर एक मनुष्य को बनना चाहिये।

हा, व्यवहार में जो शिक्षाचार के नियम हैं उनका पालन अवश्य करना चाहिये। जो शिक्षाचार तीतिरन्तु और सुव्यवस्था के लिये आवश्यक है वह रहे, बाकी में भक्ति जीवन के अनुसार संशोधन करना उचित है।

३-वयोजीवन (जिवूलोजिवो)

आठ भेद

मानव-जीवन की अवस्थाओं को हम तीन भागों में विभक्त करते हैं, बाल्य, यौवन और वार्धक्य। तीनों में एक एक बात की प्रधानता होने से एक एक विशेषता है। बाल्यावस्था में आनन्द प्रमोद-आनन्द की विशेषता है। निश्चिन्त जीवन, किसी से स्थायी डर नहीं, उच्चनीच आदि की वासना नहीं, किसी प्रकार का बोझ नहीं, क्रीड़ा और विनोद, ये बाल्यावस्था की विशेषताएँ हैं। युवा और वृद्ध भी जब अपने जीवन पर विचार करने बैठते हैं तब उन्हें बाल्या-

वस्था की स्मृतियों आनन्द-मग्न कर देती हैं। जब मनुष्य आनन्द-मग्न होता है तब वह बाल्यावस्था का ही अनुकरण करता है। व्याख्यान सुनते सुनते या कोई सुन्दर दृश्य देखते देखते मनुष्य हर्षित होनेपर बालकों की तरह तालियों पीटने लगता है, उछलने कूदने लगता है। बुद्धि की अर्गंजा किनारे हो जाती है हृदय उन्मुक्त होकर उछलने लगता है। बाल्यावस्था की पद्धतियों वे पद्धतियाँ हैं जिनकी स्मृति जीवन में जब चाहे तब गुदगुदी पैदा करती है।

यौवन कर्मठता की मूर्ति है। इस अवस्था में मनुष्य उत्साह और उर्मों से भरा रहता है। विपत्तियों को वह मुसकराकर देखता है, असम्भव शब्द का अर्थ ही नहीं समझता, जो काम सामने आ जाय उसी के ऊपर दूट पड़ता है, इस प्रकार कर्ममयता यौवन की विशेषता है।

वार्धक्य की विशेषता है ज्ञान-अनुभव दूर-दर्शिता। इस अवस्था में मनुष्य अनुभवों का भण्डार हो जाता है इसलिये उसमें विचारकता और गम्भीरता बढ़ जाती है। वह जल्दी ही किसी प्रवाह में नहीं बह जाता। इस प्रकार इन तीनों अवस्थाओं की विशेषताएँ हैं। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि एक अवस्था में दूसरी अवस्था की विशेषता विलकुल नहीं पाई जाती। यदि ऐसा हो जाय तो जीवन जीवन न रहे। इसलिये बालकों में भी कर्मठता और विचार होता है, युवकों में भी विनोद और विचार होता है, वृद्धों में भी विनोद और कर्मठता होती है। इसलिये उन अवस्थाओं में जीवन रहता है। परन्तु जिन जीवनों में इन तीनों का अधिक से अधिक सम्मिश्रण और समन्वय होता है वे ही जीवन पूर्ण हैं, धन्य हैं।

बहुत से लोग किसी एक में ही अपने जीवन की सार्थकता समझ लेते हैं, बहुतों का मन्त्र हो तक पहुँचता है, परन्तु तीन तक बहुत कम पहुँचते हैं। अगर इस दृष्टि से जीवनों का श्रेणीविभाग किया जाय तो उसके आठ भेद होंगे-

१ गर्भजीवन, २ बालजीवन, ३ युवाजीवन, ४ वृद्धजीवन, ५ बालयुवाजीवन, ६ बालवृद्धजीवन, ७ युवावृद्धजीवन, ८ बालयुवावृद्ध जीवन। दूसरे नामों में इसे यों कहेंगे—१ जड़ २ आनंदी, ३ कर्मठ, ४ विचारक, ५ आनंदी-कर्मठ, ६ आनंदी-विचारक, ७ कर्मठ विचारक, ८ आनंदी-कर्मठ विचारक।

१ जड़ (उम्र)—जिसके जीवन में न आनन्द है न विचार, न कर्म। यह एक तरहका पशु है या जड़ है।

२ आनंदी (नन्द)—अधिकांश मनुष्य या प्रायः सभी मनुष्य इसी प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहते हैं परन्तु उनमें से अधिकांश इसमें असफल रहते हैं। असफलता तो स्वाभाविक ही है क्योंकि प्रकृतिका रचना ही ऐसी ही है कि अधिकांश मनुष्य इस प्रकार एकांगी जीवन व्यतीत कर ही नहीं सकते। आनन्द के लिये विचार और कर्मका सहयोग अनिवार्य है। थोड़े-बहुत समय तक कुछ लोग वह बालजीवन व्यतीत कर लेते हैं परन्तु कई तरह से उनके इस जीवन का अन्त हो जाता है। एक कारण तो यही है कि इस प्रकार के जीवन से जो लाभवांछी भी आ जाती है उससे जीवन संभ्रम में वे हार जाते हैं, दूसरे कर्मठ व्यक्ति उन्हें लुट लेते हैं। बाजिद-अली शाह से लेकर हजारों उदाहरण इसके नमूने मिलेंगे। आज भी इस कारण से सैकड़ों श्रीमानों को उड़ड़ते हुए और उनके चालाक मुनीमों को या दोस्त कहलानेवालों को धनते हुए हम देख सकते हैं। इनके जीवन में जो एकान्त बालकता आ जाती है, उसी का दुष्फल ये इन रूपों में भोगते हैं। इस जीवन के नाश का दूसरा कारण है प्रकृति-अक्रोश। ऐयाशी उनके शरीर को निर्बल से निर्बल बना देती है। ये लोग दूसरों से सेवा कराते कराते दूसरों को तो मारते ही हैं परन्तु स्वयं भी मारे जाते हैं, इसके अतिरिक्त डाक्टर वैद्यों की सेवा करते करते भी मरे जाते हैं। इस प्रकार इनका जीवन असफलता की सीमा

पर जा पहुँचता है। ये लोग दुनिया को भार के समान हैं।

इस तरह के लोग देखने में शान्त, किन्तु तीव्र स्वार्थी होने के कारण अत्यन्त क्रूर होते हैं।

३ कर्मठ (कज्जर)—साध्य और साधन के भेद को भूलकर बहुत से लोग कर्म तो बहुत करते हैं परन्तु कर्म का लक्ष्य क्या है इसका उन्हें कभी विचार भी पैदा नहीं होता। जिस किसी तरह सम्पत्ति एकत्रित करते हैं परन्तु सम्पत्ति का उपयोग नहीं कर सकते। उनकी सम्पत्ति न तो दान में खर्च होती है न भोग में खर्च होती है। इस प्रकार सम्पत्ति का संग्रह करके वे दूसरों को कंगाल तो बनाते हैं परन्तु स्वयं कोई लाभ नहीं उठाते।

धन कोई स्वयं सुख या ध्येय नहीं है परन्तु सुख और ध्येय का साधनमात्र है। अगर धन स शान्ति न मिली, भोग न मिला, तो एक पशु-जीवन में और मानवजीवन में अन्तर क्या रहा ? जिसने धन पाकर उससे यश और भोग न पाया, दुखियों का और समाजसेवकों का आशीर्वाद न लिया, उसकी सम्पत्ति उसके लिये भार ही है। मृत्यु के समय ऐसे लोगों को अनन्त पश्चात्ताप होता है। क्योंकि सम्पत्ति का एक अणु भी उन के साथ नहीं जाता। ऐसी हालत में उनकी अवस्था कोल्हू के बैल से भी दुरी होती है। कोल्हू का बैल दिन भर चक्कर लगाकर कुछ प्रगति नहीं कर पाता, फिर भी उसके चक्कर लगाने से दूसरे को कुछ न कुछ लाभ होता ही है। परन्तु ऐसे लोग न तो अपनी प्रगति कर पाते हैं न दूसरों की, अर्थात् न तो अपने जीवन को विकसित या समुन्नत बना पाते हैं न दुनिया की भी कुछ लाभ पहुँचा पाते हैं।

४ विचारक (इंकर)—कर्महीन विचारक जघन्य श्रेणी का न सही, किन्तु अकर्मण्य होने से समाज के लिये भारभूत है। इस श्रेणी में ऐसे भी बहुत से लोग आ जाते हैं जो समाज की दृष्टि में बहुत ऊँचे गिने जाते हैं। बहुत से साधुवेधी

इसी श्रेणी में हैं। विचार और विद्वत्ता एक साधन हैं। जो लोग सिर्फ साधन को पकड़कर रह जाते हैं और साध को भूल जाते हैं उनका जीवन बिल्कुल अधूरा है। अनावश्यक काय-कलेश सहता और लोकाहित से विरक्त रहता जीवन को निरुपयोगी बना लेता है।

५ आनन्दी-कर्मठ (नन्द कब्जेर) - बहुत से मनुष्य चतुर स्वार्थी होते हैं। वे कर्मशील होंगे भोज मजा भी खूब उठावेंगे लेकिन लोकहित की तरफ और सात्विक आनन्द की तरफ ध्यान न देंगे। ऐसे लोग लाखों करोड़ों की जायदाद एकत्रित करते हैं, अर्थोपार्जन के क्षेत्र में अपना सिंहासन ऊँचे से ऊँचा बना लेते हैं, परन्तु उस सिंहासन के नीचे कितने अल्पिपंजर दब रहे हैं—कड़ाह रहे हैं इसकी पर्वाह नहीं करते। लौकिक व्यक्तित्व की दृष्टि से ये किन्ने भी ऊँचे हो परन्तु जीवन की उच्चता की दृष्टि से ये काफी नीचे स्तर में हैं।

विचारहीन होने के कारण इनकी कर्मठता केवल स्वार्थ की तरफ मुड़ी रहती है। सात्विक स्वार्थ को वे पहिचान ही नहीं पाते! दूसरों के स्वार्थ की इन्हे पर्वाह नहीं रहती बल्कि उनकी असुविधाओं, दुर्गन्धताओं तथा भोलेपन से अधिक से अधिक अनुचित लाभ उठालेने की बात में ये लोग रहते हैं इसलिये समर्थ होकर भी ये दुनिया के लिये भारभूत होते हैं। इस श्रेणी में अनेक साम्राज्य-संस्थापक, अनेक धनकुबेर आदि भी आ जाते हैं। इन लोगों की सफलता हजारों मनुष्यों की असफलता पर खड़ी होती है, इनका स्वार्थ हजारों मनुष्यों के निर्दोष स्वार्थों का भोग लगाता है, इनका अधिकार हजारों के जन्मसिद्ध अधिकारों को कुचल दालता है। इस श्रेणी का व्यक्ति जितना बड़ा होगा उतना ही भयंकर और अनिष्टकर होगा। दुनिया ऐसे जीवनों को सफल जीवन कहा करती है परन्तु मनुष्यता की दृष्टि से वास्तव में वे असफल जीवन हैं। इतिहास में इनका नाम एक जगह घेर सकता

है परन्तु वह शत्रु और वन्दनीय नहीं हो सकता।

६ आनन्दी विचारक (नन्द इंकर) - इस श्रेणी में प्रायः ऐसे लोगों का समावेश होता है जो विद्वान् हैं, साधारणतः जिनका जीवन सन्धारपूर्ण है, पास में कुछ पैसा है इसलिये आराम से खाते हैं, अथवा कुछ प्रतिष्ठा है, कुछ भक्त हैं उनकी सहायता से आराम करते हैं, परन्तु ऐसे कुछ काम नहीं करते जिससे समाज का कुछ हित हो अथवा अपनी जीविका ही चल सके। मानव समाज में ऐसे प्राणी बहुत ऊँची श्रेणी के समझे जाते हैं परन्तु वास्तव में इतनी ऊँची श्रेणी के होते नहीं हैं। प्रत्येक मनुष्य को तब तक उसमें कर्म करने की शक्ति है कर्म करने के लिये तैयार रहना चाहिये। कर्म कैसा हो इसका कोई विशेष रूप तो नहीं बताया जा सकता परन्तु यह कहा जा सकता है कि उससे समाज को कुछ लाभ पहुँचता हो। जब मनुष्य जीवित रहने के साधन लेता है तब उसे कुछ देना भी चाहिये।

कोई यह कहे कि रुपया पैदा करके मैंने अपने पास रख लिया है उससे मैं अपना निर्वाह करता हूँ मैं समाज से कुछ नहीं लेना चाहता तब निवृत्त होकर आरामसे दिन क्यों न गुजारा ?

परन्तु यहाँ वह भूलता है। किसी भी मनुष्य को संग्रह करने लायक सम्पत्ति लेने का कोई अधिकार नहीं है। अगर परिस्थितिवश उसकी सेवा का बाजार में मूल्य अधिक है तो उसके बढ़ते में वह अधिक सेवा दूसरों से लेले, परन्तु जीवनोपयोगी साधनों का अथवा उसके प्रतिनिधिरूप सिद्धांत आदि का संग्रह करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। अधिक रुपया लेना है तो उसे किसी न किसी रूप में खर्च कर देना चाहिये। हा, योग्य स्थान में खर्च करने के लिये कुछ समय तक सभरीत रहे तो बात दूसरी है अथवा उस समय के लिये संग्रह करे जब वह लाले लिये बिना समाज की सेवा करता हो तो भी वह

संग्रह उचित है, अथवा वृद्धावस्था आदि के लिये संग्रह करे जब अर्थोपयोगी सेवा के लिये मनुष्य अक्षम हो जाता है तब भी संग्रह क्षम्य है। ऐसे अपवादों को छोड़कर मनुष्य को अर्थसंग्रह नहीं करना चाहिये। आराम करने का तो मनुष्य को अधिकार है परन्तु वह कर्म के साथ होना चाहिये। इसलिये जो मनुष्य होकर के भी और कर्म करने की शक्ति रख करके भी कर्म नहीं करता है वह अधूरा आदमी है और ऐसा अधूरा है जिसे टोका जा सकता है जिसपर आक्षेप किया जा सकता है।

जो लोग कर्म की शक्ति रखते हुए भी कर्म-हीन संन्यास ले बैठते हैं, बाएँ तपस्याओं में—जिनसे अपने को और समाज को लाभ नहीं—अपनी शक्ति लगाते हैं, वे इसी श्रेणी में आते हैं। अथवा इस प्रकार के निरुपयोगी जीवन को करने अगर दुःखमय बना लिया है तो उनकी श्रेणी और भी नीची होजाती है वे एकान्त विचारक की श्रेणी में (जिसका वर्णन नं. ४ में किया गया है) गिर जाते हैं। ऐसे मनुष्य योगी सिद्ध महात्मा आदि कहलाने पर भी जीवन के लिये आदर्श नहीं हो सकते। उनकी कर्महीनता निर्वलता का परिणाम है, परिस्थिति विशेष में वह लक्ष्य भले ही हो सके परन्तु आदर्श नहीं।

७ कर्मठ विचारक (कज्जर इंकर)—यह उत्तम श्रेणी का मनुष्य है। जो ज्ञानी भी है और कर्मशील भी है, वह आत्मोद्धार भी करता है और जगदुद्धार भी करता है। परन्तु इसके जीवन में एक तरह से काम का अभाव रहता है। इस श्रेणी का व्यक्ति कभी कभी भ्रम में भी पड़ जाता है, वह दुःख को धर्म समझने लगता है। यह बात ठीक है कि समाजसेवा के लिये तथा आत्मविकास के लिये अगर कष्ट सहना पड़े तो अवश्य सहना चाहिये, परन्तु कष्ट-उपादेय नहीं है। निरर्थक कष्टों को निमन्त्रण देना उचित नहीं है।

जनता में एक भ्रम चिरकाल से चला आता है। वह कष्टको और धर्मको सहचर समझ

लेती है, कष्ट की कमी को धर्म की कमी समझ लेती है इसलिये कष्ट की वृद्धि को धर्म की वृद्धि मानती है। जहाँ कष्ट में और धर्म में कार्य-कारण-भाव होता है वहाँ तो ठीक भी कहा जा सकता है परन्तु जहाँ कष्ट का कोई साध्य ही नहीं होता है वहाँ भी जनता दोनों का सम्बन्ध जोड़ लेती है। जैसे कोई आदमी किसी की सेवा करने के लिये जागरण करे भूख प्यास के कष्ट सहें तो समझा जा सकता है कि उसका यह कष्ट परोपकार के लिये था इसलिये उसका सम्बन्ध धर्म से था, परन्तु जहाँ कष्ट का साध्य परोपकार आदि न हो वहाँ भी ऐसा समझ बैठना भूल है।

अमुक मनुष्य ठंड में बाहर पड़ा रहता है और धूप में खड़ा रहता है इसलिये बड़ा धर्मात्मा है, ऐसे ऐसे भ्रमों में पड़कर जनता दम्भियों की खूब पूजा करती है और दम्भियों की सृष्टि करती है। अमुक मनुष्य ब्रह्मचारी है अर्थात् विवाह नहीं करता इसी से लोग उसे धर्मात्मा समझ लेंगे। वे यह नहीं सोचेंगे कि ब्रह्मचर्य से उसने कितनी शक्ति संचित की है? कितना समय बचाया है और उस शक्ति तथा समय का समाज-सेवा के कार्य में कितना उपयोग किया है। एक आदमी विवाहित है इसीलिये छोटा है, लोग यह न सोचेंगे कि विवाहित जीवन से उसने शक्ति को बढ़ाया है या घटाया है। सेवा के क्षेत्र में वह कितना बड़ा है? एक आदमी मनहूसी से रहता है, उसके पास सात्विक विनोद भी नहीं है, बस, वह बड़ा त्यागी और महात्मा है। परन्तु दूसरा जोकि हँसमुख और प्रसन्न रहता है, अपने व्यवहार से दूसरे को प्रसन्न रखता है, निर्दोष क्रीडाओं में वह सुखसृष्टि करता है तो वह छोटा है। जनता की अन्ध-कसौटी के ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त पेश किये जा सकते हैं जहाँ उसने नरकों को धर्म और स्वर्ग को अधर्म समझ रक्खा है।

कर्मठविचारक श्रेणी के बहुत से लोग इस कसौटी पर ठीक उतरने के लिये जानबूझकर अपने जीवन को सुखहीन बनाते हैं। जिस

आनन्द से दूसरे की कुछ हानि नहीं है ऐसे आनन्द का भी वे बहिष्कार करते रहते हैं इस-लिये वे जनता में अपना स्थान ऊँचा बना लेते हैं परन्तु इससे सिर्फ व्यक्तित्व की विजय होती है जनता को आदर्श जीवन नहीं मिलता ।

इस श्रेणी का मनुष्य सिपाही है सद्गृहस्थ नहीं । वह त्यागी है, समाज-सेवी है और बन्धनीय भी है परन्तु पूर्ण नहीं है-आदर्श नहीं है ।
८-आनन्दी कर्मठ विचारक (नन्द कञ्जेर इ'कर)-

यह आदर्श मनुष्य है, जिसमें संयम, समाज-सेवा और त्याग आदि होकर के भी जो दुनिया को सुखमय जीवन बिताने का आदेश, उपदेश आदि ही नहीं देता किन्तु स्वयं आदर्श उपस्थित करता है । वह आवश्यक कष्टों को नहीं अपनाता, न आवश्यक कष्टों से मुँह छिपाता है । जनता की अन्धकसौदी की उसे पवाई नहीं होती वह सिर्फ सेवा और सदाचार से आमोद्वार और जगदुद्धार करता है । उसका जीवन आङ्ग-म्वर और आचरण से हीन होता है वह योगी है । वह बालक भी है, युवक भी है, वृद्ध भी है, ईंसला भी है, जेलला भी है और डटकर काम भी करता है, गुरु भी है और श्रोत भी है, अमीर भी है फकीर भी है, भक्ति और प्रेम से गाँवा भी है, और दूसरों के दुःख में रोता भी है छोटी बड़ी सभी बातों की चिन्ता भी करता है परन्तु अपने मार्ग में असंदिग्ध होकर आगे बढ़ता भी जाता है, इस प्रकार सब रसों से परिपूर्ण है । उसके जीवन का अनुकरण समस्त विश्व कर सकता है । छोटा आदमी भी कर सकता है बड़ा आदमी भी कर सकता है फिर भी उससे जीवन के चक्र को कुछ घटा नहीं पहुँचता । वह असाधारण है, पूरा है, पर लोगों की पहुँच से बाहर नहीं है, सुलभ है । वह भारी है परन्तु किसी के सिर का बोझ नहीं है ।

ऐसे लोगों को कभी कभी दुनिया पहिचान नहीं पाती अथवा बहुत कम पहिचान पाती है । उनके अंगों में उनके लिये यह सुन्दर चित्र है

परन्तु अन्धों के लिये वह कागज का टुकड़ा है ।

ऐसे महापुरुष सैकड़ों होगये हैं परन्तु दुनिया ने उसे कागज का टुकड़ा कहकर, मामूली समझ कर भुला दिया है । परन्तु जो पहिचाने जा सके उनका बल्लेख आज भी किया जा सकता है । उनमें म. राम, म. कृष्ण और म. मुहम्मदका नाम देता किसी टीका टिप्पणी के लिये जा सकता है । इनमें उपर्युक्त सब गुण दिखाई देते हैं । ये सेवा के लिये बड़े से बड़े कष्ट भी सहसके हैं और एक सद्गृहस्थ के समान स्वाभाविक आनन्दमय जीवन भी व्यतीत कर सके हैं । ये लोग निःसन्देह आनन्दी-कर्मठ विचारक श्रेणी के महापुरुष हैं ।

म. बुद्ध, म. ईसा और म. महावीर के विषय में कुछ लोगों को सन्देह हो सकता है कि इन्हें सातवीं श्रेणी में रखना चाहिये या आठवीं श्रेणी में ? ये महापुरुष किस श्रेणी के थे यह बात तो इतिहास का विषय है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि जिसप्रकार का कर्ममय संन्यासी जीवन इन लोगों ने बिताया वैसा जीवन बिता करके मनुष्य आठवीं श्रेणी में शामिल किया जायगा ।

म ईसा और म. बुद्ध के विषय में तो निःसन्देह रूप में कहा जा सकता है कि ये आठवीं श्रेणी के थे । म ईसा में जैसा बालक-प्रेम था उससे यह साफ कहा जा सकता है कि उनके जीवन में बालोचित हास्य-विनोद अवश्य था । जनसाधारण में मिश्रित हो जाने की वृत्ति से भी यही बात मालूम होती है ।

म बुद्ध के मध्यम-मार्ग से तो यह बात सैद्धान्तिक रूप में भी मालूम हो जाती है तथा बुद्धत्व प्राप्त होने के बाद जो उनमें अनावश्यक तपस्याओं का त्याग कर दिया उससे विदित होता है कि म. बुद्ध निर्दोष आनन्द को पसन्द करते थे । बल्कि कभी कभी उनके शिष्यों को भी उनके आनन्दी जीवन पर कुछ असन्तोष सा उत्पन्न हो उठता था । निःसन्देह यह शिष्यों का अज्ञान

था किन्तु इससे यह साफ मालूम होता है कि उनका जीवन आनन्दी-कर्मठ विचारक था।

म महावीर के विषय में यह सन्देह कुछ बढ़ जाता है। इसका एक कारण तो यह है कि उनका इतिहास बहुत अधूरा मिलता है। उनकी चर्या, मिलने-जुलने तथा वार्तालाप आदि के प्रसंग इतने कम उपलब्ध हैं कि किसी भी पाठक को जैनियों के इस प्रभाव पर रोप आयागा। जैन लोग म. महावीर को पूजने में लितने आगे रहे उतने आगे उन्हें न समझने में भी रहे। फिर भी जो कुछ टूटीफूटी सामग्री उपलब्ध है उससे कहा जा सकता है कि उनका जीवन आनन्दी-कर्मठ-विचारक था। कूर्मापुर सरीखे गृहस्थ अर्हत्तों की कथा का निर्माण करके उनसे इस नीति का काफी परिचय दिया है। साधना के समय में हम उनके जीवन में कठोर तपस्याएँ देखते हैं परन्तु अर्हन्त हो जाने के बाद उनके जीवन में अनावश्यक कष्टों को निमन्त्रण नहीं दिया गया। म. महावीर लोगों के घर जाते थे, स्त्रीपुरुषों से मिलते थे, वार्तालाप आदि में उनकी भाषा में कहीं कहीं उनके मुँहसे ऐसी बातें निकलती हैं जो अगर विनोद में न कहीं जाँचें तो उससे सुननेवालों को भक्ति के स्थान में जोभ पैदा हो सकता है, वैसा कि सदा लपुत्र के वार्तालाप के प्रसंग में है। परन्तु वहाँ उसे भक्ति ही पैदा हुई है इससे यह साफ मालूम होता है कि उनके जीवन में काफी विनोद भी होना चाहिये। श्रेणिक और चेलना में अगर भगड़ा होता है तो म. महावीर उसके बीच में पड़कर भगड़ा शान्त करा देते हैं। दाम्पत्य के बीच में खड़ा हो सकनेवाला व्यक्ति निर्दोष-रसिक अवश्य होना चाहिये। इसलिये म. महावीर का जीवन भी आनन्दी-कर्मठ-विचारक जीवन था।

म ईसा जो अविवाहित रहे और स बुद्ध और म. महावीर ने जो दाम्पत्य का त्याग किया और अन्ततक चालू रख्या इसका कारण वह नहीं था कि वे इस प्रकार के जीवन को नापसन्द करते थे, किन्तु वह था कि उस युग में परिव्राजक

जीवन बिताने के साधन अत्यन्त अल्प और संकीर्ण थे इसलिये तथा वातावरण बहुत विपरीत होने के कारण वे दाम्पत्य के साथ धर्म-संस्थापन का कार्य नहीं कर सकते थे।

इस श्रेणी में रहनेवाले मनुष्योंका व्यक्तित्व छोटा हो या बड़ा, शक्ति कम हो या अधिक, परन्तु वह जगत के लिये उपादेय है।

४ कर्तव्यजीवन (लम्बतोजिवो)

छः भेद

न्याय शास्त्रियों ने वस्तु की एक बड़ी अच्छी परिभाषा की है कि 'जो कर्म करे वह वस्तु' (अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुनो लक्षणम्) इस प्रकार मनुष्य ही नहीं प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है कि उसमें कुछ क्रिया हो। अगर वस्तु में कोई विशेषता है तो उसकी क्रिया में भी कुछ विशेषता होना चाहिये। जड़ जगत के क्रियाकारित्व की अपेक्षा चेतन जगत का क्रियाकारित्व कुछ विशेष मात्रा में होगा। चेतन जगत में भी जिस प्राणी का जितना अधिक विकास हुआ होगा उसका क्रियाकारित्व भी उतना ही उच्च श्रेणी का होगा। वस्तु का लघुत्व और महत्व उसकी क्रिया-कारित्वशीलता पर निर्भर है।

मनुष्य प्राणी सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। प्राणियों का लक्ष्य सुख है। अन्य प्राणी आत्म-सुख और पर-सुख के लिये सच्चा प्रयत्न नहीं के बराबर कर पाते हैं। सुख का श्रोत कितनी दूर से किस प्रकार आता है इसका उन्हें पता नहीं होता जब कि मनुष्य इस विषय में काफी बड़ा चढ़ा है। वह समझता है कि सारा संसार अगर नरकरूप हो जाय तो मैं अकेला स्वर्ग बनाकर नहीं रह सकता, इसलिये आत्म-सुख के साथ वह पर-सुख के लिये भी पूरा प्रयत्न करता है। इस प्रकार उसकी दृष्टि सुख के सूक्ष्म और विस्तीर्ण स्रोतों तक पहुँचती है। जो मनुष्य आत्म सुख और पर-सुख के लिये जितना अधिक सम्मिलित प्रयत्न करता है वह उतना ही अधिक महान है। जो

अकर्मरत्न है या कुकर्मरत्न है उस में स्वभाव से ही कुछ न कुछ क्रिया होने से वस्तुत्व तो है परन्तु मनुष्योचित कर्तव्य न करने से मनुष्यत्व नहीं है। वह मनुष्याकार प्राणी है परन्तु मनुष्यत्ववान् मनुष्य नहीं है।

इस वास्तविक कर्मठता की दृष्टि से मनुष्य-जीवन छः भागों में विभक्त किया जा सकता है—इन भागों को कर्तव्यपत्र कहना चाहिये। १ प्रसुप्त, २ सुप्त, ३ जाग्रत, ४ उत्थित, ५ संलग्न, ६ योगी।

१ प्रसुप्त (शेमु) — प्राणियों का बहुभाग इसी श्रेणी में है। इस श्रेणी के लोग विचार-शून्य होते हैं। पशुपक्षियों से लेकर आज के अधिकांश मनुष्य तक इसी श्रेणी में हैं। इस श्रेणी के प्राणी नहीं समझते कि जीवन का ध्येय क्या है। सुख को लालसा तो रहती है किन्तु उस प्राप्ति करने की, स्वयं करने की, इच्छा या शक्ति नहीं रहती। दुःख आपड़े तो रोरोकर भोग लेंगे, सुख आया तो उसमें फूल जाँचेंगे, भविष्य की चिन्ता न रहेगी, परोपकार का ध्यान न आयेगा उनके सारे कार्य स्वार्थ-मूलक होंगे।

अनेक तरह की निद्राओं में एक ऐसी निद्रा भी होती है जिसमें मनुष्य सोते सोते अनेक काम कर जाता है। दौड़ जाता है, तैर जाता है और शक्ति के बाहर भी काम कर जाता है। इसे स्थानगृद्धि (शंभु) कहते हैं। इस प्रकार की निद्रावाले मनुष्य की तरह प्रसुप्त श्रेणी का मनुष्य भी कभी कभी कर्मठता दिखाता है परन्तु उसमें विवेक तो होता ही नहीं है साथ ही साधारण बिना बुद्धि भी नहीं होती। जुबारी के शव की तरह उसका पौंसा कभी आँधा तो कभी सीधा पड़ जाता है। ऐसे मनुष्य लाखों जमायेंगे, लाखों गमायेंगे पर वह सब क्यों करते हैं इसका उत्तर न पा सकेंगे। कानाबि भी करेंगे तो बिलकुल विवेकशून्य होकर। बिना बिचारे हृदयों की पूजा करेंगे उनका अनुसरण करेंगे। ये लोग इसी लिये सिन्दूर रहते हैं कि मौत नहीं आती। याकी जीवन का कुछ ध्येय इनके सामने नहीं होता।

जिस प्रकार प्राकृतिक जड़ शक्तियाँ कभी कभी प्रलय मचा देती हैं और कभी कभी सुभिक्ष कर देती हैं परन्तु इसमें उनको विवेक नहीं होता उसी तरह प्रसुप्त श्रेणी के लोग भी अच्छी या बुरी दिशा में विशाल कार्य कर जाते हैं। परन्तु यह सब स्थानगृद्धि सरीखे आवेग में कर जाते हैं। उसमें विवेक नहीं होता। इस श्रेणी के लोग संयमी का वेप ही क्यों न लेते पर सहाय असंयमी होते हैं। उत्तरदायित्व का भान भी नहीं होता। विश्वासघात इनके हृदय को खटकता भी नहीं है। विश्वासघात वञ्चकता इनकी दृष्टि में होशियारी है। संन्या, नमाल, पूजा, प्रार्थना करने में नहीं, उसका ढोंग करने में इनके धर्म की इतिश्री होजाती है। धर्म का सम्बन्ध नैतिकता से है यह बात इनकी समझ के परे है। बड़े बड़े पापों की भी पापता इनकी समझ में स्वयं नहीं आती अगर कोई सुझावे तो 'सँ ह चतता ही है' कहकर उपेक्षा कर जाते हैं। यह इनकी अति-निद्रितता का परिणाम है।

२ सुप्त (सुप) — प्रसुप्त श्रेणी के मनुष्यों को अपेक्षा इसकी निद्रा कुछ हलकी होती है। इसका चैतन्य भीतर भीतर निरर्गल रूप में मूल्य करता रहता है किन्तु स्वप्न की तरह निष्फल होता है। इस श्रेणी के मनुष्य विद्वान और बुद्धिमान भी हो सकते हैं। बड़े भारी पंडित, शास्त्री, वकील, प्रोफेसर, जज, धर्म समाज और राष्ट्र के नेता तक हो सकते हैं फिर भी कर्तव्य मार्ग में सोते ही रहते हैं। दुनिया की नज्जों में ये समझदार तो कहलाते हैं, प्रतिष्ठा भी पाजाते हैं परन्तु न तो इनमें विवेक होता है न सात्त्विक आत्म-सन्तोष। ये जोचेंगे बहुत, परन्तु इनके विचार व्यापक न होंगे, दृष्टि संकुचित रहेगी। काम भी करेंगे परन्तु स्वार्थ की उस व्यापक व्याख्या को न समझ सकेंगे, जिसके भीतर विश्रुति समा जाता है। थोड़ासा बचन लगावे ही इनका कार्य स्वप्न की तरह टूट जायगा और ये चौक पड़ेंगे और कोई दूसरा स्वप्न लेने लगेंगे। स्वप्न की तरह

इन्के कार्य बञ्चल और निष्फल होते हैं।

इन्हें ज्ञान तो होता है पर सच्चा नहीं होता। फलाफल के विचार में इनकी दृष्टि दूर तक नहीं जाती। कोई सेवा करेंगे तो तुरन्त ही विशाल फल चाहेंगे। तुरन्त फल न मिला तो सेवा छोड़ देंगे। अगर थोड़ा फल मिला तो भी उसका दूढ़ जायगा और भागने की बात सोचने लगेंगे। थानों में खूब आगे रहेंगे परन्तु काम में पीछे। दूसरे को उपदेश देने में परम पीड़ित और स्वयं आचरण करने में पूरे कायर, और अपनी कायरता को छिपाने के प्रयत्न में काफी तत्पर।

अपनी शक्ति का वास्तविक उपयोग कैसे करना इसका ज्ञान इन्हें नहीं होता या वातुनी ज्ञान होता है, निरवास-प्राप्त सच्चा ज्ञान नहीं होता। अमरु तो करता नहीं है मैं क्यों करूं ? व्याख्यान तो देयाना हूँ फिर संयम सेवा सहायता का क्या काम ? मुझे क्या गरज पड़ी है ? मैं बड़ा आदमी हूँ, मुझे सुप्त में ही बड़प्पन और बरा मिलना चाहिये। इस प्रकार की विचारधाराएँ इनके हृदय में बसा करती हैं जिनकी भँवरों में कर्मठता कैसी रहती है। कभी कभी इनकी कर्म-ठता जाग्रत भी हो जाती है तो स्वार्थ के कारण वह विपरीत दिशा में जाती है। थड़े थड़े दिग्वि-जयी सम्राट् प्रायः इस श्रेणी के होते हैं।

सुप्तावस्था मनुष्य की वह अवस्था है जब मनुष्य का पांडित्य तो जाग्रत हो जाता है पर विवेक जाग्रत नहीं होता। इसलिये उसमें सच्चा स्वार्थ त्याग नहीं आ पाता और जहाँ स्वार्थ त्याग नहीं है, वहाँ संयम नहीं हो सकता। इस प्रकार यह पीड़ित होनेपर भी विवेकहीन असंयमी प्राणी है।

३ जाग्रत (जित) जीवन के वास्तविक विकास की यह प्रथम श्रेणी है। यहाँ मनुष्य का विवेक जाग्रत होता है, दृष्टि विशाल होती है, स्वप्न जगत को छोड़कर वह वास्तविक जगत में प्रवेश करता है। फिर भी इसमें कर्मठता नहीं होती या नाशमात्र की होती है। पुराने जो

संस्कार पड़े हैं वे इतने प्रबल होते हैं कि जानते समझते हुए भी वह कर्तव्य नहीं कर पाता। इस के लिये इसे पश्चात्ताप भी होता है। सुप्त की अपेक्षा इसमें यह विशेषता है कि यह अपने दोषों को और त्रुटियों को समझता है तथा स्वीकार करता है। उन्हें छुपाने की अनुचित चेष्टा नहीं करता। सुप्त श्रेणी का मनुष्य ऐसा विवेकी नहीं होता। वह अपनी त्रुटियों को गुण सावित करने की चेष्टा करेगा। कायगना को चतुराई या दूरदर्शी कहेगा, इस प्रकार स्वयं धोखा खायेगा या दूसरों को धोखा देगा। जब कि जाग्रत श्रेणी का मनुष्य ऐसा न करेगा।

वह मार्ग देखता है, मार्ग पर चलने की इच्छा भी करता है, पर अपनी शक्ति में पूर्वा विश्वास न होने से और संस्कारों से आई हुई स्वार्थ-वृत्ति की कुछ प्रबलता होने से कर्तव्य में विरत सा रहता है। परन्तु इसमें कषायों की प्रबलता नहीं रहती, अथवा वह प्रबलता नहीं रहती जैसी सामान्य मनुष्य में रहती है।

जाग्रत श्रेणी के मनुष्य के हृदय में एक प्रकार का असन्तोष बसा रहना चाहिये। जिसे वह कर्तव्य समझता है उसे वह कर नहीं पाता, इस बात का उसे असन्तोष या खेद रहना आवश्यक है। अगर उसे यह सन्तोष होजाय कि मैं आखिर समझता तो हूँ, नहीं कर पाता तो नहीं सही, जाग्रत श्रेणी का तो कहलाता हूँ यही क्या क्रम है, इस प्रकार का सन्तोष आत्मवञ्चकता और प्रवञ्चकता का सूचक है। ऐसी हालत में वह जाग्रत श्रेणी का न रहेगा-सुप्त श्रेणी में चला जायगा।

जाग्रत श्रेणी का मनुष्य कर्तव्य की प्रेरणा होने पर इस तरह का बहाना कभी न बनायगा कि मैं तो जाग्रत श्रेणी का मनुष्य हूँ कर्तव्य करना मेरे लिये अनिवार्य नहीं है। वह कर्तव्य को लालच की दृष्टि से देखेगा और उसे पकड़ने का प्रयत्न करेगा। अधिक कुछ न बनेगा तो बचाशक्ति दान देगा। जो मनुष्य सचमुच जाग्रत

है वह उचित होने की कोशिश करता ही है।

बहुत से मनुष्य यह सोचा करते हैं कि मैं अपना अमुक कार्य करूँ फिर जनसेवा के लिये यों करूँगा और त्यों करूँगा। वे जीवन भर वह सोचते ही रहते हैं पर उनका अमुक काम पूरा नहीं हो पाता और उनका जीवन समाप्त हो जाता है। वह ठीक है कि मनुष्य को परिस्थिति का विचार करना पड़ता है, साधन जुटाने पड़ते हैं, पहिले अपने पैरों पर खड़ा हो जाना पड़ता है पर साथ ही यह भी ठीक है कि ज्यों ज्यों उसका अमुक काम पूर्णता की ओर बढ़ता जाता है त्यों त्यों वह जनसेवा सम्बन्धी कर्तव्य मार्ग में भी बढ़ता जाता है। जब तक उसका स्वार्थ पूरा न हो जाय तब तक वह कर्तव्य का योग्य मात्रा में श्रीगणेश ही न करे तो ये जाग्रत श्रेणी के मनुष्य के चिह्न नहीं हैं किन्तु सुप्त श्रेणी के चिह्न हैं। जाग्रत श्रेणी का मनुष्य 'न नव मन तेव होय न राधा नचि' को कहावत चरितार्थ नहीं करता। वह ज्यों ज्यों साधन बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों कर्तव्य में भी बढ़ता जाता है। और इस प्रकार बहुत ही शीघ्र उचित श्रेणी में पहुँच जाता है। और फिर संलग्न बन आता है।

घाट देखने की जिनकी बीमारी हो गई है वे जीवन के अन्त तक कुछ काम नहीं कर पाते। क्योंकि उनका अमुक काम जबतक पूरा होता है तब तक जीवन के वे दिन निकल जाते हैं जिन दिनों कुछ करने का उत्साह रहता है। बिघ्न बाधाओं का सामना करने की कुछ ताकत रहती है। अमुक काम पूरा करने तक उनमें जुदापा आजाता है फिर 'गई बहुत, रही थोड़ी, की बात बाद आने लगती है। इस समय किसी सेवा का कार्य शुरू करना और जीवन भर जो आदत पड़ी रही है उसके विपरीत चलना कठिन होता है। जो जाग्रत श्रेणी का मनुष्य है उसमें यह घाट देखने की बीमारी न होगी। वह अपनी शक्ति को जल्दी से जल्दी उपयोग में लाना चाहेगा।

सोता हुआ मनुष्य यदि जाग पड़े तो वह अवश्य उठने की चेष्टा करेगा। अगर उठने के लिये उसका प्रयत्न बन्द हो गया हो तो समझना चाहिये कि चान्चल्य में वह जागा ही नहीं है। इसी प्रकार बड़ा पर भी जाग्रत श्रेणी का मनुष्य उठने का अगर प्रयत्न न करे तो समझ लेना चाहिये कि वह जाग्रत नहीं है।

४ उचित (सुट) - जो मनुष्य वास्तविक कर्मठ है, जनसेवा के मार्ग में आगे बढ़ा है, जनसेवा जिसके जीवनकी आवश्यकता बन गई है, वह उचित है। इसके पुराने संस्कार इतने प्रबल नहीं होते और न स्वार्थ-वासना इतनी प्रबल होती है कि उसके लिये वह कर्तव्य पर सर्वथा उपेक्षा कर सके। जनसेवा के लिये वह पूर्ण त्याग नहीं करता परन्तु मर्यादित त्याग अवश्य करता है। सेवा के क्षेत्र में वह महाव्रती नहीं है पर देशव्रती अवश्य है। जनसेवक होने से उसमें सदाचार भी आजाया है। क्योंकि जो मनुष्य सदाचारी न हो वह सच्चा जनसेवक नहीं बन सकता। इस प्रकार इसमें पर्याप्त मात्रा में सदाचार भी है, त्याग भी है, निर्भयता भी है। जीवन के क्षेत्र में वही इसका उत्थान है।

जाग्रत श्रेणी का मनुष्य अपनी ज़ुदियों को समझना भी वा स्वीकार भी करता था परन्तु उन्हें यथेष्ट मात्रा में दूर नहीं कर पाता था, जब कि यह दूर कर पाता है। यह जाग्रत श्रेणी के मनुष्य की तरह दानादि तो करेगा पर उठने में ही इसके कर्तव्य की इतिवृत्ति न हो जायगी किन्तु वह निर्भयता से सेवा के क्षेत्र में आगे बढ़ेगा।

५ संलग्न (सिलग) - यह साधु है। यह अधिक से अधिक देकर कम से कम लेता है। पूर्ण सदाचारी है। जनहित के सामने इसके धोड़क स्वार्थ गौण हो गये हैं। यह अनावश्यक कष्ट नहीं सहता पर जनहित के लिये यथेष्ट कष्ट सहने के लिये तैयार रहता है। अपरिग्रही होता है। स्वार्थ के लिये 'बन संचय' इसका लक्ष्य नहीं होता। जनसेवा के लिये इसका संचय होता है।

यह साधु है। परिस्थिति के अनुसार परि-
प्राजक हो सकता है, स्थिरवासी हो सकता है,
संन्यासवेधी हो सकता है गृहस्थवेधी हो सकता
है, दाम्पत्य जीवन बिता सकता है, ब्रह्मचारी रह
सकता है। वेप, आश्रम, स्थान का कोई नियम
नहीं है। त्याग, निर्मयता, सदाचार, अपरिग्रहता
और निस्वार्थता की यह मूर्ति होता है।

किसी दिन मानव-समाज का अगर सुवर्ण-
युग आया तो मानव समाज ऐसे साधुओं से भर
जायगा। उस समय शासन-मन्त्र नाम के लिये
रहेगा। उसकी आवश्यकता मिट जायगी। असं-
यम और स्वार्थिता दूँदे न मिलेगी।

संलग्न श्रेणी का मनुष्य पाप का श्वसर
आने पर भी पाप नहीं करता। बड़े बड़े प्रलोभनों
को भी दूर कर देता है। उसके ऊपर शासन
करने की आवश्यकता नहीं होती। अगर उसका
कोई गुरु हो तो वह गुरु के शासन में रहता है
परन्तु इसके लिये उसे कोई प्रयत्न नहीं करना
पड़ता। उसकी साधुता स्वभाव से ही उस शासन
के बाहर नहीं जाने देती। पद्म-प्रदर्शन के लिये
वह सूचना प्रहण करता है परन्तु उसमें असंयम
नहीं होता। कदाचित् अज्ञान सम्भव है-पर
असंयम नहीं।

६ योगी (लिम्ब)-योगी अर्थात् कर्मयोगी।
जीवन का यह आदर्श है। सदाचार, त्याग,
निस्वार्थता इसमें कूट कूट कर भरी रहती है।
यह विपत्ति और प्रलोभनों से परे है। संलग्न
श्रेणी का मनुष्य विपत्ति से ठिकसा जाता है।
अपयश से बचता सा जाता है। पर योगी के
सामने यह परिस्थिति नहीं आती। वह यश अप-
यश मानापमान की कोई पर्वाह नहीं करता।
फलाफल की भी पर्वाह नहीं करता किन्तु कर्तव्य
किये चला जाता है। असफलता भी उसे निराश
नहीं कर सकती। वह घर में हो या घन में हो,
गृहस्थ हो या संन्यासी हो, पर परमसाधु है,
स्थितप्रज्ञ है, अद्वैत है, जिन है, जीवन्मुक्त है,
वीतराग है, अज्ञ है। कोई उसे पहिचाने या न

पहिचाने इसकी वह पर्वाह नहीं करता।

उपायों साधनों और परिस्थितियों पर वह
विचार करता है इसलिये उसे सविकल्प कह
सकते हैं, परन्तु कर्तव्य मार्ग में दृढ़ रहने की
दृष्टि से वह निर्विकल्प है। शंका और अविश्वास
उसके पास नहीं फटकने पाते। सत्य और अहिंसा
के सिवाय वह किसी की पर्वाह नहीं करता।
जनहित की पर्वाह करता है किन्तु वह सत्य
अहिंसा की पर्वाह में आजाती है। यह जीवन
की परमोत्कृष्ट दशा है जब समाज ऐसे योगियों
से भर जायगा तब वह हीरक युग होगा।

कर्तव्य मार्ग में कर्मठता ही मनुष्यता की
कसौटी है इस दृष्टि से यथा छः पद बनाये गये
हैं। जिस समय मनुष्य-समाज प्रसन्न श्रेणी के
मनुष्यों से भरा रहता है उस युग को मनुष्य का
सृष्टिका युग (मिट्टी युग) (भीत हूँगे) कहना
चाहिये। जब समाज सुप्तों से भरा रहता है तब
उसे उपल युग या पत्थर युग (खुद हूँगे) कहना
चाहिये। जब मनुष्य समाज जाग्रतों से भर
जायगा तब उसे धातु युग (मिक हूँगे) कहेंगे
और जब उत्थित श्रेणी के मनुष्यों से भर जायगा
तब उसे रजत युग (बादाम हूँगे) कहेंगे। जब
संलग्न श्रेणी के मनुष्यों से भर जायगा तब
सुवर्ण युग (पीताम हूँगे) कहेंगे और जब
योगियों से मानव समाज भरा हुआ होगा तब
वह हीरक युग (सोचाम हूँगे) कहलायगा।
विकास की यह चरम सीमा है। यही वैकुण्ठ है,
मुक्ति है।

मौक्तिक दृष्टि से मनुष्य किसी भी युग में
आगया हो परन्तु आत्मिक दृष्टि से मनुष्य अभी
पत्थर युग में या मिट्टी युग में से गुजर रहा है।
हा, संलग्न की संख्या भी है और योगी भी हैं
परन्तु इतनी सी संख्यासे सुवर्णयुग या हीरकयुग
नहीं आजाता, इसके लिये उनकी बहुलता चाहिये।
वह कब आयगा कह नहीं सकते पर उस दिशा
में हम जितने ही आगे बढ़ें कर्तव्य पदों पर चढ़ने
की हम जितनी अधिक कोशिश करें, उतना ही
अधिक हमारा कल्याण है।

५- अर्थजीवन (ट्यो जीवो)

छः भेद

यद्यपि समस्त प्राणी सुखार्थी हैं परन्तु दूसरों की पूर्वाह्न न कण्ठ के बेल अपने सुख के लिये हाथ हाथ करने से कोई सुखी नहीं हो पाता इसलिये अधिक से अधिक स्वपर कल्याण ही जीवन का ध्येय है। यह बात ध्येयदृष्टि अध्याय में विस्तार से बताई जा चुकी है। इस स्वाध परार्थ की दृष्टि से जो जीवन अधिक स, अधिक स्वपरकल्याणकारी होगा वह जीवन उतना ही महान है। इस अपेक्षा से जीवन की छः श्रेणियों (छः जीवो) बनती हैं— १-व्यर्थस्वार्थी २-स्वार्थी ३-स्वार्थप्रधान ४-समस्वार्थी ५-परार्थप्रधान ६-विश्वहितार्थी।

इनमें पहिले दो जघन्य (कत) बीच के दो मध्यम (कूक) और अन्त के दो उत्तम (सत) श्रेणी के हैं।

१-व्यर्थस्वार्थी (सुगं लुब्ध)— जिस स्वार्थ का वास्तव में कोई अर्थ नहीं है ऐसे स्वार्थ के लिये जो अन्धे होकर पाप करने को उत्तार हो जाते हैं वे व्यर्थस्वार्थी हैं। शेर के आगे मनुष्य को छोड़कर उस मनुष्य की मौत देखकर परसन्न होना व्यर्थस्वार्थीपन है। पहिले कुछ कच्छखल राजा लोग ऐसे व्यर्थस्वार्थी हुआ करते थे। आज भी नाना रूप में यह व्यर्थस्वार्थीपन पाया जाता है। जिसमें किसी इन्द्रियों को छुमि नहीं मिलती मिर्च मन को कष्टता ही तुम होती है वह व्यर्थस्वार्थीपन है।

परम—जब लोग दूसरों का मजाक उड़ाते हैं तब इससे उनका कोई लाभ तो होता ही नहीं है इसलिये यह व्यर्थस्वार्थीपन कहलाया और मजाक करनेवाले व्यर्थस्वार्थी कहलाये। इसलिये जीवन में हास्य विनोद को कोई स्थान ही न रहा।

उत्तर—विनोद (हसो) चार तरह का होता है १ सुधीनिक २ शैक्षणिक, ३ विंगं ४,

४ गौद । जिस विनोद में सिर्फ प्रेम का प्रदर्शन किया जाता है, जिसमें द्वेष अविमान आदि प्रगट नहीं होते वह सुधीनिक (सुलभ) है। इसका प्रेय मनवहलाव और प्रेमप्रदर्शन है। इसमें जिसकी हँसी की जाती है वह भी खुश होता है और जो हँसी करता है वह भी खुश होता है।

जो विनोद किसी की भूल बताकर उसका सुधार करने की निमत से किया जाता है वह शैक्षणिक (बोधक) है। जैसे किसी शिकारी से कहा जाय कि भाई तुम तो जानवरों के महाराजा हो, शेर, से सब जानवर डरते हैं, इसलिये वह जानवरों का राजा है तुम से शेर भी डरता है इसलिये तुम जानवरों के महाराजा हो। क्यों जी, तुम्हें अब पशुपति कहा जाय ? इस विनोद में द्वेष नहीं है किन्तु शिकारी को शिकार से डुहाने की भावना है। यह शैक्षणिक है।

जिस विनोद में विशेष प्रगट किया जाता है वह विरोधक (फुलुर) है। शैक्षणिक में सुधीनिक बराबर तो नहीं; फिर भी कुछ प्रेम का अंश रहता है, परन्तु विरोधक में उतना अंश नहीं रहता उसमें सिर्फ विरोध प्रगट करने, या उसकी गलती के लिये शाब्दिक वंद देते की भावना रहती है। शैक्षणिक की अपेक्षा विरोधक में कुछ कठोरता अधिक है। जैसे मैं ईसा को कास पर लटकाते समय कौंटों का मुकुट पहनाकर हँसी की गई कि आप तो शाहशाह हैं। किसी शत्रु को तोप से उड़ाते समय कहना—बजो, तुम्हें आकाश की सैर करा दें। ये विरोधक विनोदके उच्च दृष्टान्त हैं। पर साधारण जीवन में भी बिरोधक विनोद के साधारण दृष्टान्त मिलते हैं।

रौद्र विनोद (फूर दशो) वही है जहाँ अपना कोई स्वार्थ नहीं है, उससे बिरोध भी नहीं है, उसका लाभ भी नहीं है, सिर्फ मनोविनोद के नामवर दूसरे के मर्मस्थल को चोट पहुँचाई जाती है, उसका मल डुगया जाता है। इसका एक दृष्टान्त, जिस समय ये पंक्तियाँ लिखी जा रही

थी उसी समय मिला। सत्याश्रम की इमारत के काम में कुछ मजदूरों ने काम का रहीं थी उनके पास एक आदमी आया और पूछने लगा कि क्या यहाँ कुछ काम मिलेगा। काम यहाँ नहीं था पर सीधा जवाब न देकर वे उसकी हँसी उड़ाने लगी—क्यों न मिलेगा ? तुम्हें न मिलेगा तो किसे मिलेगा। इस में काम करो, अच्छा पगार मिलेगा, आदि। इस हँसी में व्यर्थ ही एक गरीब के भर्त्सक को चोट पहुँचाई गई। इस प्रकार की हँसी साधारण लोगों के जीवन में बहुत होती है पर यह अनुचित है। साइकिल आदि से गिरने पर भी दर्शक लोग हँसी उड़ाने लगते हैं, वैकी विपत्ति से भी लोग हँसी उड़ाने लगते हैं, अन्य विपत्ति आनेपर भी लोग हँसी उड़ाने लगते हैं, यह सब गौर्वाह है। विनोद ऐसा होना चाहिये जिससे दोनों का दिल खुश हो। जीवन में विनोद की जरूरत है जिसके जीवन में विनोद नहीं है वह मनहूस जीवन किसी काम का नहीं, पर विनोद सुप्रीतिक होना चाहिये। आवश्यकता-वश शैक्षणिक और विरोधक भी हो सकता है पर रौद्रपन कभी नहीं होना चाहिये। इससे व्यर्थस्वार्थपन प्रगट होता है।

प्रश्न—विनोद सुप्रीतिक ही क्यों न हो उसमें कुछ न कुछ चोट तो पहुँचाई ही जाती है, तब हँसी-मजाक जीवन का एक आवश्यक अंग क्यों समझा जाय ? एक कहावत है 'रोग की जड़ धौंसी, लड़ाई की जड़ हौंसी' इसलिये हँसी तो हर हालत में त्याग्य ही है।

उत्तर—हँसी परसन्नता का चिह्न और रास-जता का कारण है, साथ ही इससे मनुष्य दुःख भी भूलता है इसलिये जीवन में इसकी काफी आवश्यकता है। हाँ, हँसी में चोट अवश्य पहुँचती है, पर उससे दर्द नहीं भालूम होता बल्कि आनन्द आता है। जब हम किसी को शाबासी देने के लिये उसकी पीठ थपथपाते हैं तब भी उसकी पीठ पर कुछ चोट तो होती है पर उससे दर्द नहीं होता, इसी प्रकार सुप्रीतिक विनोद की

चोट भी होनी है विनोद लड़ाई की भी-जड़ है किन्तु लड़ाई तभी होती है जब वह विरोधक या रौद्र हो। शैक्षणिक विनोद भी लड़ाई की जड़ हो जाता है जब पात्रपात्र का विचार न किया जाय। हमने किसी को सुधारने की दृष्टि से विनोद किया, किन्तु उसको इससे अपना अपमान भालूम हुआ तो लड़ाई हो जायगी। इसलिये शैक्षणिक विनोद करते समय भी पात्र अपात्र का और मर्यादा का विचार न भूलना चाहिये। सुप्रीतिक विनोद में भी इन बातों का विचार करना जरूरी है। हँसी विनोद प्रायः बराबरी वालों के साथ या छोटे के साथ किया जाता है। उनके साथ अपना सम्बन्ध यादर पूजा का हो उनके साथ विनोद परिमित और अस्थायी विवेकपूर्ण होना चाहिये। जिसकी परकृति विनोद सह-सके विनोद का आधार करे उसके साथ विनोद करना चाहिये सब के साथ नहीं। विनोद भी एक कला है और बहुत सुन्दर कला है पर इसके दिखाने के लिये बहुत योग्यता मनोवैज्ञानिकता और हृदय शुद्धि की आवश्यकता है। इस प्रकार कलावान होकर जो विनोद करता है वह व्यर्थ-स्वार्थ से बिल्कुल उल्टा अर्थात् विश्वहितार्थी है।

२ स्वार्थी (लुम्भ) —जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के न्यायोचित स्वार्थ की भी पर्वाह नहीं करते वे स्वार्थी हैं। चोर वदनाश मिथ्या-भाषी विश्वासघातक हिंसक आदि सब स्वार्थी हैं। जगत के अधिकांश प्राणी स्वार्थी ही होते हैं। स्वार्थपन ही सकल पापों की जड़ है।

प्रश्न—व्यर्थस्वार्थी और स्वार्थी में अधिक पापी कौन है ?

उत्तर—जगत में व्यर्थस्वार्थपनकी अपेक्षा स्वार्थपन ही अधिक है, पर विकास की दृष्टि से व्यर्थस्वार्थपन निम्न श्रेणी का है इसमें असंयम या पाप की मात्रा भी अधिक है। व्यर्थस्वार्थपन स्वार्थपन की अपेक्षा अधिक भयंकर है। स्वार्थी की गतिविधि से परिचित होना जितना कठिन है उससे कई गुणा कठिन व्यर्थस्वार्थी की गति-विधि से परिचित होना है।

प्रश्न—दोना टोटका अपशकुन आदि करने-वाले स्वार्थी हैं या अन्धस्वार्थी ? अपशकुन आदि निष्फल होने से यहाँ व्यर्थस्वार्थीपन ही मानना चाहिये ।

उत्तर—यह स्वार्थीपन ही है क्योंकि ये काम किसी ऐसे स्वार्थ के लिये किये जाते हैं जिसे व्यर्थ नहीं कहा जा सकता । भले ही उस से सफलता न मिलती हो । इससे मूढ़ता या अज्ञान का विशेष परिचय मिलता है असंयम तो स्वार्थी के बराबर ही है । व्यर्थस्वार्थी अधिक असंयमी है ।

स्वार्थी और व्यर्थस्वार्थी पूर्ण असंयमी और मूढ़ होते हैं वे भविष्य के विषय में भी कुछ सोच विचार नहीं करते, अपने स्वार्थीपन के कारण मानव समाज का सर्जनाश तक किया करते हैं भले ही इसमें उदका भी सर्जनाश क्या न हो जाय ।

स्वार्थीपन व्यक्तिगत रूप में भी होता है और सामूहिक रूप में भी होता है । एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर जब अत्याचार या अन्याय करता है तब सामूहिक स्वार्थीपन होता है । दुनिया में अमोहतक अधिकांश राष्ट्र और अधिकांश जातियों में ऐसा स्वार्थीपन भरा हुआ है । इसीलिये यह जगत् नरक के समान बना हुआ है । इससे बारी बारी से सभी व्यक्तियों सभी जातियों और सभी राष्ट्रों को पाप का फल भोगना पड़ रहा है ।

३ स्वार्थ-प्रधान (लुभोचिन्द्र)—स्वार्थ प्रधान वे व्यक्ति हैं जो स्वार्थ की रक्षा करते हुए कुछ परोपकार के कार्य भी कर जाते हैं । ऐसे लोग दुनिया की भलाई की दृष्टि से दान या सेवा न करेंगे किन्तु उसमें यश मिलता होगा, पूजा मिलती होगी, तो दान करेंगे । स्वार्थ और परार्थ में परस्पर विरोध उपस्थित हो तो परार्थ को तिलाजलि देकर स्वार्थ की ही रक्षा करेंगे । परोपकार सिर्फ वहाँ करेंगे जहाँ स्वार्थ की धक्का न लगता हो या जितना धक्का लगता हो उसकी कसर किसी दूसरे ढंग से निकल आती हो । एक

तरह से ये हैं तो स्वार्थी ही । पर अन्तर इतना ही है कि जहाँ स्वार्थी परोपकार की विलकुल पर्वाह नहीं करता वहाँ स्वार्थ-प्रधान व्यक्ति कुछ खयाल रखता है । अपना कुछ नुकसान न हो और परोपकारी बनने का गौरव मिलता हो तो क्या बुराई है ? यही इनकी विचारधारा रहती है । बड़े बड़े दानवीरों और जनसेवकों में से भी बहुत कम इस श्रेणी के ऊपर उठ पाते हैं । ये लोग स्वार्थ के लिये अन्याय भी कर सकते हैं ।

४ समस्वार्थी (सम्मलम्भर)—जिनका स्वार्थ और परार्थ का पलड़ा बराबर है वे समस्वार्थी हैं । ये त्यागी नहीं होते दानी होते हैं पर अपने स्वार्थ का खयाल बराबर रखते हैं । फिर भी स्वार्थ-प्रधान को अपेक्षा में काफी ऊँचे हैं क्योंकि भले ही इनके जीवन में परोपकार की मुख्यता न हो पर इतनी बात अवश्य है कि ये स्वार्थ के लिये किसी पर अन्याय न करेंगे । ये भले के लिये भले, और बुरे के लिये बुरे बनेंगे । स्वार्थ-प्रधान से इनमें यह बड़ा भारी अन्तर है । बाकी ये स्वार्थप्रधान के समान हैं ।

५ परार्थप्रधान (भक्तोचिन्द्र)—ये स्वार्थ की अपेक्षा परोपकार को प्रधानता देते हैं । जगत की सेवा के लिये सर्वस्व का त्याग कर जाते हैं यश अपयश की भी पर्वाह नहीं करते पर इसके बदले में वे इस जन्म में नहीं तो परलोक में कुछ चाहते हैं स्वर्ग आदि की आशा ईश्वर या खुदा का द्वार इतनी नज़रों में रहता है । ये परोपकारी हैं जिनका परोपकार करते हैं उनसे बदला भी नहीं चाहते, यह बात समस्वार्थी में नहीं होती, पर परलोक आदि का अवलम्बन न हो तो इनका परोपकार खड़ा नहीं रह सकता । ये सिर्फ सत्य या विश्वहित के भरोसे अपना परोपकारी जीवन खड़ा नहीं कर सकते । कोई न कोई तर्कहीन बात इनकी अद्धा का सहारा होती है । विश्वहित का मौलिक आधार इनका कमजोर होता है जिसे ये अद्धा से ऊकड़कर रखते हैं । बाकी जहाँ तक संयत्न त्याग आदि का सम्बन्ध है वे परार्थप्रधान

हैं। ये परार्थ को ही स्वार्थ का असली साधन मानते हैं।

६ विश्वहितार्थी (पुनर्भूत)-इनका ध्येय है-
जगतहित में अपना कल्याण।

यदि तू करता ब्राह्म न जग का तेरा कैसा ब्राह्म ॥

ये विवेक और संयम की पूर्ण मात्रा पाये हुए होते हैं। विश्व के साथ इनकी एक तरह से अद्वैतभावना होती है। स्वार्थ और परार्थ की सीमाएँ इनकी इस प्रकार मिली रहती हैं कि उन्हें अलग अलग करना कठिन होता है। ये आदर्श मनुष्य हैं।

प्रश्न—कोई भी मनुष्य हो उसकी प्रवृत्ति अपने सुख के लिये होती है। जब हमें किसी दुःखी पर दया आती है और उसके दुःख दूर करने के लिये जब हम प्रयत्न करते हैं जब यह प्रयत्न परोपकार की दृष्टि से नहीं होता किन्तु दुःखी को देखकर जो अपने दिल में दुःख हो जाता है उस दुःख को दूर करने के लिये हमारा प्रयत्न होता है, इस प्रकार अपने दिल के दुःख को दूर करने का प्रयत्न स्वार्थ ही है, तब स्वार्थ को निन्दनीय क्यों समझना चाहिये और परोपकार जीवन का ध्येय क्यों होना चाहिये ?

उत्तर—परोपकार जीवनका ध्येय भले ही न कहा जाय किन्तु परोपकार अगर स्वार्थ का अंग बन जाय और ऐसा स्वार्थ जीवन का ध्येय हो तो परोपकार जीवन का ध्येय हो ही गया। असल बात यह है कि यहाँ जो अर्थ जीवन के छः भेद किये गये हैं वे असल में स्वार्थ के छः रूप हैं। कोई व्यर्थस्वार्थपन या स्वार्थपन को स्वार्थ समझते हैं कोई विश्वहितार्थिता को स्वार्थ समझते हैं। स्वार्थ के छः भेदों का क्रम उत्तरोत्तर उत्तमता की दृष्टि से बढ़ा किया गया है। जहाँ पर का दुःख अपना दुःख बनता है अपना दुःख दूर करना परदुःख का दूर करना हो जाता है ऐसा स्वार्थ परम स्वार्थ भी है और परम परार्थ भी। परन्तु स्वार्थ के अन्य सराव रूप भी हैं इसलिये इस

उत्तम स्वार्थ को परार्थ शब्द से कहते हैं क्योंकि परार्थभी उस स्वार्थ की दूसरी जाजू है। और उसी ने इस स्वार्थ को उत्तम बनाया है इसलिये उसे इसी नाम से अर्थात् परार्थ नाम से कहना उचित समझा जाता है। इसमें स्पष्टता अधिक है।

स्वार्थ के जो रूप एकपक्षी हैं या परार्थ के विरोधी हैं उन में परार्थ का अंश न होने से केवल स्वार्थरूप होने से उन्हें स्वार्थ शब्द से कहा जाता है। निस्वार्थ जीवन में ऐसे ही स्वार्थी जीवन का विषेध किया जाता है। जिनने विश्वसुख को आत्मसुख रूप समझ लिया है वे वास्तव में श्रेष्ठस्वार्थी या परार्थी हैं। स्वार्थ और परार्थ एक ही सिक्के के दो जाजू हैं। इस अद्वैत को जिसने जीवन में उतार लिया उसका जीवन ही आदर्श जीवन है।

६-प्रेरणा जीवन (आरो जिवो) (पाच भेद)

मनुष्य मनुष्यता के मार्ग में कितना आगे बढ़ा हुआ है इसका पता इस बात से भी लगता है कि उसे कर्तव्य करने की प्रेरणा कहाँ कहाँ से मिलती है। इस दृष्टि से जीवन की पाच श्रेणियाँ (चुंजीपो) बनती हैं।

१ व्यर्थप्रेरित, २ दंडप्रेरित, ३ स्वार्थप्रेरित, ४ संस्कारप्रेरित, ५ विवेकप्रेरित।

१ व्यर्थप्रेरित (नको रोझार)—जो प्राणी बिलकुल मूढ़ है जिनका पालन पोषण अन्धे संस्कारों में नहीं हुआ, जिन्हें न दंड का भय है न स्वार्थ की समझ, न कर्तव्य का विवेक, इस प्रकार जिनकी हड़ता अग्रह है वे व्यर्थप्रेरित हैं।

यह एक विचित्र बात है कि विकास और अविकासकी चरमसीमा प्रायः शब्दोंमें एकमी होजाती है। जिस प्रकार कोई योगी चरम विवेकी हानी संयमी मनुष्य दंड में भीत नहीं होता, स्वार्थ के चक्कर में नहीं पड़ता, कोई रुढ़ि उसे नहीं धोषपाती उसी प्रकार इस व्यर्थप्रेरित मनुष्य को न तो दंड का भय है, न स्वार्थ का विचार, न संस्कारों की छाप, बिलकुल निर्भय निर्द्वन्द्व होकर वह अपना

जीवन व्यतीत करता है। यह जड़ता की सीमा पर है। और योगी विवेक की सीमा पर है। जिस प्रकार शराब आदि के चशे में चूर मनुष्य पर दण्ड आदि का भय असर नहीं करता पर इस निर्भयता में और सत्याग्रही की निर्भयता में अन्तर है उसी प्रकार व्यर्थप्रेरित मनुष्य की निर्भयता और योगी की निर्भयता में अन्तर है। व्यर्थप्रेरित मनुष्य ऐसा जड़ होता है कि, उसे गारपीटकर रास्ते पर चलाना चाहो तो भी नहीं चलता, उसके स्वार्थ के विचार से उसे समझाना चाहो तो भी नहीं समझता, उसको अच्छी संगति में रखकर सुधारना चाहो तो भी नहीं सुधरता, उसे पढ़ा लिखाकर तथा उपदेश देकर मनुष्य बनाना चाहो तो भी शैतान बनता है, यह व्यर्थप्रेरित मनुष्य है। इसकी पशुता चरमसीमा पर है।

२ दंडप्रेरित (डेचो मेआर)—जो आदमी कानून के भय या दण्ड के भय से सीधे रास्ते पर चलता है वह दंडप्रेरित मनुष्य है इसमें पूरी पूरी पशुता है।

जबतक मनुष्य में पशुता है तबतक दंड की आवश्यकता रहेगी ही। समाज से दंड या कानून तभी हटाया जा सकता है जब मनुष्यसमाज इतना सुसंस्कृत बन जाय कि अपराध करना असम्भव माना जाने लगे। वह स्वर्णयुग जय आया तब आया परन्तु जबतक वह युग नहीं आया है तबतक इस बात की कोशिश अवश्य होते रहना चाहिये कि समाज में दंडप्रेरित मनुष्य कम से कम हों।

दंड या कानून के भय से जो काम होता है वह न तो स्थायी होता है न व्यापक। कानून तो बड़े बड़े दिक्कावटी मामलों में ही हस्तक्षेप कर सकता है और उसके लिये काफी प्रबल प्रमाण उपास्थित करना पड़ेगा है। पैंसदी अस्सी पाप तो कानून की पकड़ में ही नहीं आसकते और जो पकड़ में आसकते हैं उनमें भी बहुत से पकड़ में नहीं आते। कानून तो सिर्फ इसके लिये है कि निरंकुशता सीमातीत न हो जाय। जो सिर्फ दंड

से डरते हैं उनको अंकुश में रखने के लिये राष्ट्र की बड़ी शक्ति खर्च होती है, फिर भी मौका मिलते ही वे कोई भी पाप करने को उत्तारु होते हैं। उनमें मनुष्यता का अंश नहीं आने पाया है।

कोई आदमी जानवर है या मनुष्य, इसका निर्णय करना हो तो यह देखना चाहिये कि वे दंड से प्रेरित होकर उचित कार्य करते हैं या अपनी समझदारी से प्रेरित होकर। पहिली अवस्था में वे मनुष्याकार जानवर हैं दूसरी अवस्था में मनुष्य।

किसी किसी मनुष्य की यह आवृत्त रहती है कि जब उन्हें दस पाँच गालियाँ देकर रोको तभी वे उस रोक को जरूरी रोक समझते हैं नहीं तो उपेक्षा कर जाते हैं। जो सरल और नम्र सुचनाओं पर ध्यान नहीं देता और वचन या तन से ताडित होने पर ध्यान देता है वह जानवर है।

जिस समाज में दंडप्रेरितों की संख्या जितनी अधिक होगी वह समाज उतना ही हीन और पतित है। इसी प्रकार जिस मनुष्य में दंडप्रेरितता जितने अंश में है, वह उतने ही अंश में पशु है।

प्रश्न—कभी कभी एक धनवान मनुष्य अत्याचार करने लगता है तब उसके अत्याचार के आगे एक समझदार को भी झुक जाना पड़ता है अथवा कुछ समय के लिये शान्त हो जाना पड़ता है, इसी प्रकार एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्र पर पशुबल के आधार पर विजय पाता है तब एक सज्जन को भी झुककर चलना पड़ता है क्या पराधीन राष्ट्रों को और पीड़ित मनुष्यों को पशु कोटि में रखा जाय।

उत्तर—पशुबल से विवश होकर अगर कभी हमें अकर्तव्य करना पड़े तो इतने से ही हम पशु न हो जायेंगे। पशु होने के लिये यह आवश्यक है कि हम पशुबल से विवश होकर अकर्तव्य को कर्तव्य समझने लगे। अगर हम गुनामी की गौरव समझते हैं, अत्याचारियों की

दिलसे तारीफ करते हैं तो मनुष्य होकर भी पशु हैं।

परिस्थिति से विवश होकर हमें कभी कभी इच्छाके विरुद्ध काम करना पड़ता है। पर प्रेरित-जीवन का यह प्रकरण इसलिये नहीं है कि तुम्हारे अकार्यों की जांच करे। यहां तो यह बताया जाता है कि तुम भले काम किसकी प्रेरणा से करते हो ? इससे तुम्हारी समझदारी और संयम की जांच होती है। किसी के दबाने से जब कोई अनुचित कार्य करना है तब उसकी निर्बलता का विशेष परिचय मिलता है। यद्यपि निर्बलता में भी अमुक अंश में असंयम है पर उसमें मुख्यता निर्बलता की है। पशुता का सम्बन्ध निर्बलता से नहीं किन्तु अज्ञान और असंयम से है।

३ स्वार्थप्रेरित (लुभो मे आर)-स्वार्थप्रेरित वह मनुष्य है जिसमें समझदारी आ गई है और जो दीर्घदृष्टि से अपने स्वार्थ की रक्षा की बात समझता है। दंड-प्रेरित नौकर तब काम करेगा जब उसको फटकारा जायगा, माली दीजायगी, पर स्वार्थप्रेरित नौकर यह सोचेगा कि अगर मैं मालिक को तृप्त न करूंगा, उनको बोलने को जगह न रखूंगा, उनकी इच्छा से अधिक काम करूंगा तो मेरी नौकरी स्थायी होगी, तरकीब होगी और आवश्यकता पर मेरे साथ रियायत की जायगी। इस प्रकार वह भाविष्य के स्वार्थ पर विचार करके कर्तव्यमें तत्पर रहता है। दंडप्रेरित की अपेक्षा वह मालिक को अधिक आराम पहुँचाता है और स्वयं भी अधिक निश्चिन्त और प्रसन्न रहता है, इसका अपमान भी कम होता है।

एक दूकानदार इसलिये कम नहीं तौलता कि मैं पुलिस में पकड़ा जाऊंगा तो वह दंडप्रेरित है पर दूसरा इसलिये कम नहीं तौलता कि इस से उसकी साख मारी जायगी, लोग विश्वास नहीं करेंगे, दूकान कम चलेगी आदि, तो वह स्वार्थ-प्रेरित है। दंड-प्रेरित की अपेक्षा स्वार्थप्रेरित-वैद-मानो कम करेगा इसलिये यह श्रेष्ठ है। बहुत से लोग भीतर से संयमी न होने पर भी व्यापार-में

ईमानदारी का परिचय देते हैं जिससे साख बनी रहे इससे वे स्वयं भी लाभ उठाते हैं और दूसरों को भी निश्चिन्त बनाते हैं इसलिये दंड-प्रेरित की अपेक्षा स्वार्थप्रेरित श्रेष्ठ है।

एक देश में दो जातियाँ हैं वे नाममात्र के कारण से आपस में लड़ती हैं, लड़ाई अभी तकती है जब कोई तीसरी शक्ति या सरकार दंड के बल पर उन्हें रोक रखती है। ऐसी जातियों में दंडप्रेरितता अधिक होने से कहना चाहिये कि पशुता अधिक है। पर जब वे यह विचार करती हैं कि दोनों की लड़ाई से दोनों का ही नुकसान है। हमारे पांच आदमी मरे और उसके बदले में दूसरों के हम दस आदमी भी मारें तो इससे हमारे पांच जी न उठेंगे और आपस में लड़ने से कोई भी तीसरी शक्ति हम दोनों को गुलाम बनी लेगी।

इस प्रकार के विचार से वे दोनों जातियाँ मिलकर रहें तो यह उनकी स्वार्थप्रेरितता होगी जो कि दंडप्रेरितता की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसमें पशुता नहीं है और मनुष्यताका अंश आगया है।

४ संस्कारप्रेरित (दम्भो मे आर)-संस्कार-प्रेरित वह मनुष्य है जिसके दिलपर अच्छे कार्यों की छाप ऐसी मजबूत पड़ गई है कि अच्छे कार्य को भंग करने का विचार ही उसके मन में नहीं आता। अगर कभी ऐसा मौका आता भी है तो उसका हृदय रोने लगता है, बहिन भाई के सम्बन्ध की पवित्रता संस्कारप्रेरितता का रूप है। स्वार्थप्रेरितता की अपेक्षा संस्कारप्रेरितता इसलिये श्रेष्ठ है कि संस्कारप्रेरित मनुष्य स्वार्थ को घट्टा लगने पर भी अपने सत्कर्तव्य को नहीं भूलता—अन्वय करने को तैयार नहीं होता।

किसी देश में अगर दो जातियाँ हैं और वे समान स्वार्थ के कारण मिल गई हैं तो दंड-प्रेरित की अपेक्षा यह सम्मिलन अच्छा होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसका वह सम्मिलन स्थायी है। किसी भी समय कोई तीसरी शक्ति उनमें से किसी एक का बलिदान करके

दूसरी को पुष्ट करना चाहे तो उनके स्वार्थ में अन्तर पड़ने से वह सम्मिलन नष्ट हो जायगा। वह देश अशान्ति और निर्धनता या घर बनकर नष्ट होजायगा, गुलाम बन जायगा। पर अगर वह सम्मिलन, संस्कार-प्रेरित हो, ऐनों में सांस्कृतिक एकता होगई हो, तो तीसरी शक्ति को उनके अलग अलग को टुकड़े करता असम्भव होजायगा। संस्कृति, स्वार्थ की पर्वाह नहीं करती, वह तो स्वभाव बन जाती है जो स्वार्थ नष्ट होनेपर भी विह्वल नहीं होती।

प्रश्न—भारतवर्ष में संस्कारों का बहुत रिवाज है, धन्वा जब गर्भ में आता है तभी से उसके ऊपर संस्कारों की छाप लगाना शुरू हो जाती है। सोलह संस्कार तो प्रसिद्ध ही हैं पर इससे भी अधिक संस्कार इस देश में होते हैं पर इन संस्कारों के होनेपर भी कुछ सफलता दिखाई नहीं देती। इसलिये संस्कारप्रेरितता का कोई विशेष प्रयोजन नहीं मालूम होता।

उत्तर—संस्कार के नाम से जो मन्त्रजाप किया जाता है वह संस्कार नहीं है। आज तो वह बिलकुल निकम्मा है परन्तु जिस समय उसका कुछ उपयोग था उस समय भी सिर्फ़ वही कि धन्वे के अभिभावकों को धन्वेपर अमुक संस्कार डालने की जिम्मेदारी का ज्ञान होजाय। ज्ञान संयम विनय आदि के संस्कार मिनिट दो मिनिट के मंत्र जाप से नहीं पढ़ सकते उस के लिये वर्षों की तपस्या या साधना चाहिये।

संस्कार एक तरह की छाप है जो बारबार हृदयपर लगने से दृढता के साथ अंकित होजाती है। अमुक विचारों का हृदय में बारबार चिन्तन कराने से, उसको कार्यपरिणत करने से, वैसे ही दृश्य धारधार सामने आने से हृदय बन विचारों में तन्मय होजाता है। अनुभव से, तर्क से, गठान् पुरुषों के वचन अर्थात् शास्त्र से, और सत्संगति से भी यह तन्मयता आती है। इसप्रकार जो संस्कार पड़ते हैं वे मनुष्य का स्वभाव बन जाते हैं इन्द्रिय परिणाम यह होता है कि किसी निर्मित

मार्गपर मनुष्य सरलता से जा सकता है। एक मनुष्य कठिन अवस्था में भी मांस नहीं खाता, काम-भीड़ होनेपर भी माता बहिष्कृत होती के विषय में संयम रखता है वह सब संस्कारों की फल है। स्वार्थ और कानून (दंड) जहाँ रोक नहीं कर पाता वहाँ संस्कार रोक कर जाता है। संस्कार के अभाव में कभी कभी घुड़ि में जँचे हुए अच्छे काम करने में भी मनुष्य हिचकने लगता है। एक मनुष्य सर्गधर्म-समभाव को ठीक समझने पर भी उसे व्यवहार में लाने में कुछ लज्जित सा या हिचकिचाता-सा रहता है इसका कारण संस्कार का अभाव है। सैकड़ों बड़े बड़े काम ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य संस्कार के बश में होकर बिना किसी विशेष प्रयत्न के सरलता से कर जाता है और सैकड़ों छोटे छोटे काम ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य इच्छा रहने पर भी नहीं कर पाता। संस्कार का लाभ यह है कि मनुष्य घुड़ि पर विशेष जोर दिये बिना कोई भी काम कर सकता है या बुरे कामसे बचा रह सकता है। मनुष्य आज पशु से जुदा हुआ है इसका कारण सिर्फ़ बुद्धि-वैभव ही नहीं है किन्तु संस्कारों का प्रभाव-भी है।

मनुष्य के हृदय में जो जानवर मौजूद है उसको दूर करने के लिये ये तीन उपाय हैं संस्कार, स्वार्थ और दंड। पहिला व्यापक है, निरुपद्रव है और स्थायी है, इस प्रकार सात्विक है उच्चतम है। दूसरा राजस है मध्यम है। तीसरा तामस है, जघन्य है। मानव हृदय का पशु जब तक भरा नहीं है तब तक तीनों की आवश्यकता है। परन्तु जब तक मनुष्यता संस्कार का रूप न एकदले तब तक मनुष्य चैन से नहीं सो सकता। पैरों के नीचे दवा हुआ सर्प कुछ कर सके या न कर सके पर वह कुछ कर न सके इसके लिये हमारी जितनी शक्ति खर्च होती है, प्रतिच्छिन्न हमें जितना चौराहा रहता पड़ता है, उससे किसी तरह जिन्दा तो रहा जा सकता है पर चैन नहीं मिलती। दंड या कानून का उपाय ऐसा ही है।

मानव हृदय के भीतर रहने वाली पशुता से अपनी रक्षा करने के लिये स्वार्थ का सहारा लेना

सॉप के आगे दूध का कदोरा रख कर अपनी रक्षा करने के समान है। दूध के परलोभन में भूला हुआ सर्प काटेगा नहीं परन्तु वह छेड़खानी नहीं सह सकता और अगर किसी दिन उसे दूध न मिलेगा तब वह उच्छ्वस्खल भी हो सकता है।

अगर सर्प के विषदंत उखाड़ लिये जायें और वह पालतू भी बना लिया जाय तब फिर डर नहीं रह जाता। संस्कार के द्वारा मानव हृदय की पशुता को यही उखाड़ी जाती है। इसलिये यही सर्वोत्तम मार्ग है।

छोटीसे छोटी बातसे लेकर बड़ीसे बड़ी बात तक इन तीनों की उपयोगिता की कसौटी हो सकती है। आप देन में जाते हैं, खज्जे में जगह जगह लिखा हुआ है कि 'थूको मत' थूकु नही, थूकु नका (Do not Spit) इस प्रकार विविध भाषाओं में लिखा रहने पर भी यात्री डब्बे में थूकते हैं। दंड का भय उन्हें नहीं है। दंड देना कुछ कठिन भी है। हाँ वे यह सोचें कि हम दूसरों को तकलीफ देते हैं, दूसरे हमें तकलीफ देंगे, दूसरों का थूकना हमें बुरा भाजूम होता है, हमारा दूसरों को होगा, इस प्रकार स्वार्थ की दृष्टि से वे विचार करें तब ठीक हो सकता है। पर हरएक में इतना गाम्भीर्य नहीं होता, बहुत से मनुष्य निकटदर्शी ही होते हैं। वे सोचते हैं कि अगरले स्टेगन पर अपने को उतर ही जाना है फिर दूसरे थूका करें तो अपना क्या जाता है? इस प्रकार स्वार्थ उनके हृदय की पशुता को नहीं मार पाता है। परन्तु जब यही वान संस्कार के द्वारा स्वभाव में परिणत हो जाती है तब मनुष्यत्व चमक उठता है। वह जाग्रत रहता है और बिना किसी विरोध प्रयत्न के काम करता है। यह तो एक छोटासा उदाहरण मात्र है, पर इसी दृष्टि से राष्ट्रकी बड़ी बड़ी समस्याएँ भी हल करना चाहिये। किसी देश में विविध जातियों या विविध सम्प्रदायों के बीच में अगर संघर्ष होता हो तो उसे शान्त करने के लिये संस्कार, स्वार्थ और दंड में से पहिला मार्ग ही श्रेष्ठ है। समन्वय या

ऐक्य का आधार संस्कृति होना चाहिये। दंड या स्वार्थ के आधार पर खड़ा हुआ ऐक्य पूर्ण या स्थायी नहीं हो सकता।

दंड से शान्ति होना कठिन है बल्कि ऐसे देशन्यायी जातीय मामलों में तो असंभव ही है। क्योंकि दंड-नीति का पालन कराना जिनके हाथ में है वे ही तो मगदनेवाले हैं। बादी और प्रतिवादी न्यायाधीश का काम न कर सकेंगे। ऐसी हालतमें कोई तीसरी शक्ति की जरूरत होगी। और वह तीसरी शक्ति दोनों का शिकार करने लग जायगी। इस प्रकार उस तीसरी शक्ति के साथ दोनों का एक नया ही संघर्ष चालू हो जायगा।

वात यह है कि दंड नीति की ताकत इतनी नहीं है कि वह प्रेम या एकता करा सके। अगर उसे ठीक तरह से काम करने का अवसर मिले तो इतना तो हो सकता है कि वह अत्याचार अन्याय का घदला ढिलाने में सफल हो जाय। इससे अन्याय अत्याचारों पर अक्रुश भी पड़ सकता है पर उन्हें रोक नहीं सकता और प्रेम करने के लिये विवश कर सकता तो उसकी ताकत के हर तरह बाहर है।

साथ ही जहां संस्कृति में एकता नहीं है वहां कानून को न्याय के अनुसार काम करने का अवसर ही नहीं मिलता इसलिये 'मेम पैदा' करने की बात तो दूर, पर अन्याय अत्याचार को रोकने में भी वह समर्थ नहीं हो पाता। जहां जातीय द्वेष है जहां सांस्कृतिक एकता नहीं है वहां कानून की गति भी कुठित हो जाती है।

ऐक्य और प्रेम में स्वार्थ भी कारण हो जाता है। हम तुम्हारे अशुभ काम में मदद करें तुम हमारे अशुभ काममें मदद करो इस प्रकार स्वार्थ का विनिमय भी कभी काम कर जाता है पर वह अल्पकालिक होता है और कभी कभी उसका अन्त बड़ा दयनीय होता है।

आज कल अनेक राष्ट्रों के बीच में जो संधियाँ होती हैं वे इसका पर्याप्त स्पष्टीकरण हैं। संधिपत्र की स्थायी भी नहीं सुखपाती कि संधिका भंग शुरु हो जाता है। एक राष्ट्र आज किसी

राष्ट्र का जिरगी दोस्त बना बैठा है और दूसरे क्षण स्वार्थ की परिस्थिति बदलते ही वह उसपर गुरा नि लगता है। आज दोस्त बनकर कंधे से कंधा भिड़ाये हुए है कल शत्रु बनकर छाती पर संगीन तानने लगता है। स्वार्थ के आधार पर जो मैत्री या एकता होगी उसकी वही दशा होगी।

एकता शान्ति आदि के लिये श्रेष्ठ उपाय है संस्कार। स्वार्थ और दंड इसे सहायता पहुँचा सकते हैं परन्तु स्थायिता लानेवाला और स्वार्थ और दंड को सफल बनानेवाला संस्कार ही है। मानव-हृदयमें द्वैतका एक विचित्र भ्रम समाया हुआ है। व्यक्ति और ब्रह्मके बीचमें उसने ऐसी अनेक कल्पनाएँ कर रखी हैं जो व्यर्थ ही उसका नाश कर रही हैं। मनुष्यने जो नाना गिरोह बना रखे हैं उनमें कोई मौलिक असाधारण समानता नहीं है। हो सकता है कि मेरे गिरोहका एक आदमी लक्षपति बनकर सौज उड़ाता रहे और मैं सूखी रोटीके लिये तबपता रहूँ और कदाचित् दूसरे गिरोह का आदमी मुझे सहायता दे, सहानुभूति रखे।

एक गरीब हिन्दू और एक श्रीमान् हिन्दू की अपेक्षा एक गरीब हिन्दू और गरीब मुसलमान में सहानुभूति कहीं अधिक होगी फिर भी हिन्दू और मुसलमान सामूहिक रूपमें परस्पर द्वेष करेंगे। कैसा भ्रम है ! भारतका एक विद्वान और इंग्लैंड का एक विद्वान परस्पर अधिक सजातीय है, कर्म से दोनों ही ब्राह्मण हैं पर एक विद्वान अंग्रेज भी दूर से दूर रहनेवाले मूर्ख से मूर्ख अंग्रेज को तो अपना समझेगा और भारत के विद्वान से घृणा करेगा। यह एक सांस्कृतिक भ्रम है जो योग्य संस्कृति के द्वारा मिट सकता है। लोगो के दिल पर जन्म से ही ऐसे संस्कार डाल दिये जाते हैं कि असुख गिरोह के लोग तुम्हारे भाई के समान हैं और असुख गिरोह के शत्रु के समान। आचार विचार की अच्छी और अनुकूल बातें भी कुसंस्कृति के द्वारा मनुष्य को सुरी और प्रतिकूल मालूम होने लगती हैं। जो

दोष कुसंस्कारों पर अवलम्बित है वह सुसंस्कारों से ही अच्छी तरह जा सकता है।

जिस आदमी पर सब बोलने के संस्कार डाले गये हैं वह आवश्यकता होनेपर भी झूठ नहीं बोलता। सब झूठ के लामालाम का विचार किये बिना ही सब बोलता है, परन्तु जिसपर झूठ बोलने के कुसंस्कार पड़े हैं वह मामूली से मामूली कारणों पर भी झूठ बोलगा, अनावश्यक झूठ भी बोलगा, व्यक्तिगत असंयोग के विषय में जो बात है सामूहिक असंयोग के विषयमें भी वही बात है।

जिनको हमने पराया समझ लिया है उन की जरासी भी बात पर सिर फोड़ देगे पर जिनको अपना समझ लिया है उनके भयंकर से भयंकर पापों पर भी तजर न डालेंगे। कुसंस्कारों के द्वारा आये हुए सामूहिक असंयोग ने हमें गुणों का या सदाचार का अपमान करना सिखा दिया है और दोषों तथा दुराचार का सम्मान करने में निर्लज्ज बना दिया है। इन्हीं कुसंस्कारों का फल है कि मनुष्य मनुष्य में हिन्दू-मुसलमानों का जाति-वैर बना हुआ है, खूता-खूत का भूत सिर पर चढ़ा हुआ है, जाति-वैरों के नामपर हवारा जेलखाने दने हुए हैं, जिनमें सब का दम घुट रहा है। दंड इन्हें नहीं हटा पाता, स्वार्थ-सिद्धि का प्रलोभन भा इन से बचने के लिये मनुष्य को समर्थ नहीं बना पाता। संस्कार ही एक ऐसा मार्ग है जिससे इन रोगों को हटाने की आशा की जा सकती है।

वैयक्तिक असंयोग को दूर करने के लिये मनुष्य को ईमानदार बनाने के लिये सत्संगति और सुसंस्कारों की आवश्यकता है, यह बात निर्विवादसी है इस पर कुछ नई सी बात नहीं कहना है, पर सामूहिक असंयोग को दूर करने के लिये सर्वधर्म-समभाव और सर्वजाति-समभाव के संस्कारों की आवश्यकता है। यह बात संस्कार से अर्थात् समझा बुझाकर या अपने व्यवहार से दूसरों के हृदय पर अंकित कर देने से ही हो सकती है। राजनैतिक स्वार्थ के नाम

पर मनुष्य को इसके लिये उत्तेजित किया जा सकता है पर उत्तेजना अपने स्वभाव के अनुसार चरित्वही होगी।

जब लोगों के हृदय पर यह बात अंकित हो जायगी कि पूजा नमाज का एक ही उद्देश है एक ही ईश्वर के पास भक्ति पहुँचती है, सत्य और अहिंसा की सभी जगह प्रतिष्ठा है, प्रेम और सेवा की सच्चे अन्धा और आवश्यक कहा है, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि सभी महापुरुष समाज के सेवक थे, इन सभी का आदर करना चाहिये, सभी से हम कुछ न कुछ अच्छी बातें सीख सकते हैं, समय समय पर सभी के खास गुणों की आवश्यकता होती है, तब दंड का जोर बताया बिना, राजनैतिक स्वार्थ या प्रलोभन बताये बिना स्थायी एकता हो जायगी। नाम से सम्प्रदाय भेद रहेगा पर उन सब के भीतर एक व्यापक धर्म होगा जो सब को एक बनायेगा। और यह भी सम्भव है कि सभी सम्प्रदाय किसी एक नये नाम के अन्तर्गत होकर अपनी विशेषता और विशेष नामों के साथ भी एक बन जायें। जैसे वैदिक धर्म और शैव वैष्णव आदि सम्प्रदायों ने तथा आर्य और द्राविड़ी सभ्यताओं ने हिन्दू धर्म का नाम धारण कर लिया और इस बात की पवहि नहीं की कि हिन्दू नाम अवैदिक, अवर्षाचीन और यवनों के द्वारा दिया गया है, इस प्रकार एक धर्म की सृष्टि होगई। उसी प्रकार हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, सिक्ख आदि सभी सम्प्रदायों की और पंथों की एक संस्कृति डलना चाहिये। इस प्रकार सांस्कृतिक एकता हो जाने पर सम्प्रदाय के नाम पर चलने वाला जो सामूहिक असंयम है वह नामरोप हो जायगा।

कुसंस्कारों ने हमें नाममोही बना दिया है सुसंस्कारों के द्वारा हमारा नाममोह मर सकता है फिर तो हम बिना किसी पक्षपात के परस्पर में आदान प्रदान कर लेंगे और जिनके आदान प्रदान की आवश्यकता न होगी उनको दूसरों की

विशेषता समझेंगे-धृष्टान्त करेंगे।

दंड भी काम करे, लोगों के सामने सम-स्वार्थता के नाम पर भी मिलने की अपील की जाय, परन्तु हम भूल न जायें कि हमें मनुष्य मात्र में सांस्कृतिक एकता पैदा करना है। सब की एक जाति और एक धर्म बनाना है। वह नैतिक धर्म होगा, प्रेम-धर्म होगा। वह मनुष्य जाति होगी सभ्य जाति होगी। हम दंड के भय से नहीं, भौतिक स्वार्थ के प्रलोभन से नहीं, लेकिन एक सुसंस्कृत मनुष्य होने के नाते प्रेम के पुजारी बनें, विश्वकल्याण की मूर्ति बनें, जिससे हमारा संयम प्रेम और बन्धुत्व चतुराई या बाल न हो किन्तु स्वभाव हो और इसी कारण संयमों असंयत हो।

इस प्रकार समाजमें संस्कार-प्रेरितों का बहु-भाग हो जाने से मानव समाज में स्थायी शान्ति हो जाती है और मनुष्य सभ्य तथा सुखी हो जाता है।

५ विवेक-प्रेरित-(अ'को गोजार) विवेक-प्रेरित वह मनुष्य है जो अपने स्वार्थ की पर्वाह न करके, नये और पुराने की पर्वाह न करके, अभ्यास हो या न हो पर जो जनकल्याणकारी काम करता है। यद्यपि संस्कार स मनुष्य अष्ट वत जाता है पर संस्कार का नाम पर ऐसे कार्य भी मनुष्य करता रहता है जो किसी जमाने में अच्छे थे पर आज उनसे हानि है। संस्कार प्रेरित मनुष्य उनको हटाने में असमर्थ है। पर जो विवेक-प्रेरित है वह उचित सुधार या उचित क्रांति के लिये सदा तैयार रहता है। इस प्रकार संस्कारों के द्वारा आई हुई सभ्य अच्छी बातों को तो वह अपनाये रहता है और बुरी बातों को छोड़ने में उसे देर नहीं लगती है।

विवेक प्रेरित मनुष्य विद्वान हो या न हो पर बुद्धिमान, अनुभवी मनोवैज्ञानिक और निःपक्ष विचारक अवश्य होता है। इन्हीं विवेक प्रेरितों में से जो उच्च श्रेणी के विवेक प्रेरित होते हैं जिनकी निःस्वार्थता साहस और जनसेवकता

बढ़ी चढ़ी रहती है और जो कर्मयोगी होते हैं वे ही तीर्थंकर जिन बुद्ध अवतार पैगम्बर मसीह आदि बन जाते हैं। पैगम्बरों के विषय में जो यह कहा जाता है कि वे ईश्वर के दूत या सन्देशवाहक होते हैं उनकी यह ईश्वर-दूतता और सन्देशवाहकता और कुछ नहीं है विशाल रूपमें उच्च श्रेणी की विवेक-प्रेरितता ही है। विवेक-रूपी फरिश्ते से उन्हें पैगाम मिलता है।

निष्कार्यता, बुद्धिमत्ता, विचारशीलता, मनो वैज्ञानिकता और अनुभवों के कारण मनुष्य में सदसद्विवेकबुद्धि जग पड़ती है। इस विवेक बुद्धि से वह भगवान् सत्य का सन्देश सुन सकता है अर्थात् जनकल्याणकारी कार्यों का उचित निर्णय कर सकता है। यही ईश्वर प्रेरणा है। और विशाल परिमाण में होने पर यही पैगम्बरपन या सन्देशवाहकता है।

विवेक प्रेरित मनुष्य ही सच मनुष्यों में उच्च श्रेणी का मनुष्य है। वह गरीब स गरीब भी हो सकता है या अमीर से अमीर भी। राजा भी होसकता है और रंक भी। यशस्वी भी होसकता है और यशहीन भी। गृहस्थ भी होसकता है और सन्यासी भी।

प्रेरितों के पांच भेदों से इस पाठ का पता लगता है कि कौन मनुष्य विकास की दृष्टि से किस श्रेणी का प्राणी है। पहिला वर्ग प्रेरित मनुष्य पशुओं से भी गया बीठा है वह एक तरह का कीट (कीटक) है। दूसरा वर्ग प्रेरित पशु के समान (उत) है। तीसरा स्वार्थ प्रेरित अर्ध मनुष्य (शिकमान) है। चौथा संस्कार प्रेरित वास्तविक मनुष्य (मान) है। और पाँचवां विवेक प्रेरित पूर्णमनुष्य (हकमान) है, फरिश्ता या देव (नन्दक) है।

७-जीविका जीवन (काजो जिवो)

मनुष्य अपनी जीविका किस प्रकार चलाता है इसपर से भी उसके जीवन की उत्तमता या अधमता का पता लगता है। बल्कि यह कहना चाहिये कि यह जीवन की एक बड़ी कसौटी है। जीविका के क्षेत्र में मनुष्य की मनुष्यता की करीब करीब पूरी परीक्षा होती है। इस दृष्टि से मानव जीवन उत्तरोत्तर हीन ग्यारह श्रेणियों (तिलीयो) में विभक्त होता है। इनमें पहिली उत्तमोत्तम (सोसत), २-३ री उत्तम (सत) ४-५-६-७ वीं साधारण (पौम) आठवीं अधम (कत) और ९-१०-११-१२ वीं अधमाधम (सोकत) हैं।

- १- साधुता जीविका (शर्त काजो) उत्तमोत्तम
- २- तुला जीविका (सिसं काजो) उत्तम
- ३- निवृत्ति जीविका (सिमं काजो) "
- ४- शोषण जीविका (हल्प काजो) साधारण
- ५- उत्तराधिकारित्व जीविका (लेलरीजंकाजो) "
- ६- मोघ जीविका (नकं काजो) साधारण
- ७- आश्रय जीविका (शुजं काजो) "
- ८- भित्ता जीविका (भिकरं काजो) अधम
- ९- पाप जीविका (पापं काजो) अधमाधम
- १०- ठग जीविका (चीटं काजो) "
- ११- चोर जीविका (चुरं काजो) "
- १२- घात जीविका (गेवं काजो) "

जिस जीविका में जितनी अधिक सेवा और संयम है वह उतनी ही उच्च, और जिस जीविका में जितनी अधिक श्रम सेवा और असंयम है वह उतनी नीच जीविका है।

१ साधु जीविका-समाजोपयोगी अधिक से अधिक कार्य करना और निर्वाह के लिये कम से कम, या सेवा के मूल्यसे कम लेना साधु जीविका है। साधुद्वीजा लेलेना साधुजीविका नहीं है, किन्तु सेवा से कम लेना साधु जीविका है। यह जीविका कोई भी मनुष्य कर सकता है और साधुजीवी कहलासकता है। साधुद्वीजा लेकर यदि कोई

अधिक जनसेवा नहीं करता तो वह साधु कहलाकर भी भिक्षाजीवी भोगजीवी आदि कहला सकता है। ठगजीवी आदि भी कहला सकता है। और साधुदीक्षा न लेने वाला मनुष्य भी अगर जगत को अपनी महान सेवाएँ दे रहा है और उससे काफी कम ले रहा है तो वह साधुजीवी कहला सकता है। असली बात उसके द्वारा होने वाला ज्ञान है जो दुनिया को मिलता है।

२ तुला जीविका—जो अपनी सेवाएँ बदले के अनुसार देता है वह तुलाजीवी है। जीविका का यही मुख्य और व्यापक रूप है। दूकानदार, मजदूर, नौकरी पेशा करनेवाले, आदि यदि ईमानदारी से काम करे तो वे तुला जीविका करने वाले कहलायेंगे।

३ निवृत्तिजीविका—जिनने जीवन में तीस चालीस वर्ष, काफी सेवा कर ली और अब बुढ़ होकर पेन्शन ले रहे हैं या उस समय बुढ़ापे के लिये जो धन संचित कर लिया था उससे गुजर कर रहे हैं, या पालपोसकर सन्तान को कमाऊ बना दिया है इसलिये सन्तान की कमाई से गुजर कर रहे हैं, ये सब निवृत्ति जीवी हैं।

४ शोपण जीविका—यूँजी, या पद आदि के द्वारा अपने श्रम या सेवा आदि के मूल्य से अधिक लाभ उठा लेना शोपण जीविका है। बड़े बड़े कारखानों वाले तो यह शोपण जीविका करते ही हैं पर छोटे छोटे लोग भी यह शोपण जीविका करते हैं। दूसरे को संकट में देखकर उससे उचित से अधिक दाम वसूल कर लेना भी शोपण जीविका है। यह काम साधारण स्थिति के धनी भी कर लेते हैं। योग्यता और सेवाभाव न होते हुए भी गुट बनाकर गुट के चलपर राज्यमन्त्री आदि बन जाना, या चापलूसी आदि के चलपर कोई ऐसा पद प्राप्त कर लेना जिसकी योग्यता अपने में न हो, न उसके अनुकूल सेवा दे सकने हों, तो यह भी शोपण जीविका है।

५ उत्तराधिकारित्व जीविका—मातापिता आदि से उत्तराधिकारित्व में मिली हुई सम्पत्ति से गुजर करना उत्तराधिकारित्व जीविका है।

६ भोगजीविका—जीविका के लिये कुछ ऐसे काम करना जिससे समाज का हित नहीं है, कुदृष्ट आदि के बश होकर समाज से कुछ मिल जाता है तो यह भोगजीविका है।

इसके उदाहरण में निश्चित नाम लेना कुछ कठिन है। किसी की दृष्टि में कोई कार्य विलकुल व्यर्थ होने से भोगजीविका है, किसी की दृष्टि में नहीं है। हाथ देखकर भविष्य बताना, अशुभ ग्रहों की शान्ति के लिये पूजा अनुष्ठान आदि करना, शरीर कष्टों का प्रदर्शन करना, आदि किसी की दृष्टि में व्यर्थ कार्य हैं किसी की दृष्टि में आवश्यक या उपयोगी। इसलिये इसका निर्णय युग के अनुसार, वैज्ञानिकता की प्रगति और व्यापकता के अनुसार करना चाहिये।

७ आश्रयजीविका—शारीरिक असमर्थता आदि के कारण किसी के आश्रित रहना और उसकी सम्पत्ति से गुजर करना आश्रयजीविका है। अगर उसने थोड़ा बहुत कार्य किया भी, पर जितना वह लेता है उसके अनुरूप न किया, या ऐसा काम किया जिसके बिना कोई खास हानि नहीं थी अर्थात् करीब करीब ज्यों का त्यों काम चल सकता था तो ऐसा नाममात्र का काम करने वाला भी आश्रयजीवी कहलायगा।

इस प्रकार का जीवन वालकों के लिये उचित है।

दुर्दैवयोग से कोई अन्धा आदि होगया हो तो उसे क्षन्तव्य है।

सामर्थ्य रखते हुए भी आलस्यवशा, प्रलोभनवशा, या गृहस्वामी संकोचवशा कुछ कहता नहीं इसलिये पड़े रहना, आश्रयी बने रहना अपराध है।

पत्नी बाहर कमाने भले ही न जाती हो पर यदि वह गृहिणी के योग्य कर्तव्य करती है तो उसकी जीविका आश्रयजीविका नहीं है, किंतु

तुलाजीविका है। अथवा पति की जीविका जिस श्रेणी की हो उस श्रेणी की जीविका है। वास्तव में पतिपत्नी दोनों सामेदार हैं।

राष्ट्र ने या समाज ने नारी के लिये जो कर्तव्य आवश्यक निश्चित कर दिये हों उन कर्तव्यों को न करनेवाली नारीकी जीविका आश्रयजीविका कहलायगी।

समाजवादी आर्थिक योजना के युग में एक नारी आश्रयजीविका वाली कहला सकती है, पूँजीवादी युग में वह नहीं भी कहला सकती। युग के अनुसार इसका विचार किया जासकता है। पर साधारणतः पतिपत्नी आर्थिक दृष्टि से अमित्र हैं, परस्पर पूरक हैं इसलिये दोनों की जीविका एक मानी जायगी।

८ भिक्षाजीविका—भीख माँगर गुजर करना भिक्षा जीविका है। किसी साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार कोई साधु आदि की हैसियत से भिक्षा ले तो वह भिक्षाजीवी नहीं है, हाँ। इसके बदले से वह उचित सेवा देता हो।

जिन्हे श्रद्धापूर्वक दान दिया जाता है, बिना याचना किये दान दिया जाता है, भिक्षुक के अनुसार दीनता का प्रदर्शन जिन्हें नहीं करना पड़ता है, न मन में लाना पड़ता है वे भी भिक्षाजीवी नहीं हैं। वे यदि उचित सेवा देते हैं तो साधुजीवी हैं। कुछ सेवा नहीं देते सिर्फ अन्धश्रद्धा का लाभ उठाते हैं तो मोघजीवी हैं।

साधुबेप लेकर भी जो दीनता दिखाते हैं वे भिक्षाजीवी हैं।

९ पापजीविका—जीविका के नामपर जो लोग भेसा कार्य करते हैं जिससे पाप फैलता है वह पाप जीविका है। पाप जीविका के कार्य समाज-हित के विरोधी होते हैं। जैसे—जूबा खेलने खिलाने का धंधा पाप जीविका है। जानवरों को लहाने का धंधा पापजीविका है।

१० ठगजीविका—विश्वासघात आदि करके किसी को ठग लेना ठगजीविका है।

ये ठग अनेक तरह के होते हैं। मुख्यता से इनके तीन भेद हैं—प्रलोभनठग, दम्भठग, उधार ठग।

प्रलोभनठग (लौभ चीट) लुभाकर ठगने वाले प्रलोभनठग हैं। जैसे दूना सोना बना देने का प्रलोभन देकर ठगनेवाले आदि प्रलोभन ठग हैं। इसमें ठगनेवाले तो पापी अपराधी हैं ही, पर जो ठगजाता है वह भी कुछ अपराधी है। उसमें भी एक तरह की असंयम वृत्ति पाई जाती है। पर इससे प्रलोभन ठग की नीचता कम नहीं होती।

दम्भठग (कुट्ट चीट) दम्भ ढोंग आदि करके लोगों को ठग लेनेवाला दम्भठग है। शरीर में सफेदा आदि लगाकर अपने को कोड़ी बनाकर, अन्ये लोंगड़े आदि होने का ढोंग करके ठगलेने वाला दम्भठग है। अ वा भविष्य में किसी उचित और सम्भव कार्य का विश्वास दिलाकर सुविधाएँ प्राप्त करने वाला भी दम्भ ठग है।

उधार ठग (रुप चीट) उधार के नामपर किसी से सम्पत्ति लेकर फिर न चुकानेवाला उधारठग है। इसमें सब से बड़े उधार ठग वे हैं जो उधार लेते समय ही यह विचार रखते हैं कि होगा तो चुकावेंगे नहीं तो वे मुझसे क्या लेलेंगे। चुकाने की परिस्थिति होजानेपर भी नहीं चुकाते। वे बहुत ही नीच और बेईमान हैं।

दूसरे उधारठग वे हैं जो उधार लेते समय तो चुकाने का भाव रखते हैं पर पीछे जिनकी नियत बदल जाती है। इसलिये चुकाने की परिस्थिति आजाने पर भी नहीं चुकाते हैं। क्या करें ? बालबच्चों को भूखा मारें ? नहीं हो तो कहाँ से दे ? आदि बातें कहने लगते हैं ? स्वर्च का हिसाब पेश करने लगते हैं। ऐसे लोग मिल-व्यय से काम लें तो चुका सकते हैं पर नहीं लेते। मतलब यह कि कुछ न कुछ नियत विगड़ जाती है इसलिये चुकाने की यथासम्भव कोशिश नहीं करते। वे भी नीच और बेईमान हैं।

जो लोग उधार देने का धन्या नहीं करते, किन्तु किसी व्यक्ति को दुख संकट में पड़ा जाल-

कर करपावश उधार दे देते हैं उनका ऋण न चुकाने वाला और भी बड़ा उधार ठग है। उसकी कृतघ्नता नीचता हरामखोरी और भी ज्यादा है।

जो आदमी उधार लेने से लेकर अन्ततक ऋण चुकाने का भाव रखता है और समय समय पर प्रगट करता है, अधिकसे अधिक मितव्ययी बनकर थोड़ा बहुत चुकाता रहता है, समय पर न चुका सकनेका पश्चात्ताप प्रगट करता रहता है, वह उधार ठग नहीं है। पर किसीकी मनोवृत्ति को पूरी तरह कोई परख नहीं सकता, इसलिये ऐसे व्यक्ति को भी दुनिया उधार ठग समझे तो उसे सहन करना चाहिये।

जो लोग उधार लेकर उसे अस्वीकार कर देते हैं वे उधार ठग तो हैं ही, साथ ही बड़े चोर भी हैं।

जो लोग उधार लेकर सिर्फ आभूषीकार ही नहीं करते किन्तु, ऋणशता पर कोई दोषापोषण भी करते हैं उसकी झूठी बदनामी भी करते हैं वे ठग होने के साथ डकैत भी हैं।

जिनने ऋण चुका दिया है व्याज भी चुका दिया है फिर भी दर व्याज आदि के कारण, या साहुकारी हथकंडों के कारण ऋणग्रस्त बने हुए हैं ऐसे लोगों को किसी तरह सरकार या समाज के द्वारा ऋणमुक्त कर दिया जाय तो वे उधार ठग नहीं हैं।

ठग जीवी लोग जीवनभर या सदा ठगजीविका ही करते हैं यह बात नहीं है, वे दूसरी जीविका भी करते हैं पर जिसके जीवन में ठग जीविका को स्थान है वह ठगजीवी है। ठगजीविका से किसी धन मार लिया और फिर उसे पूंजी बनाकर कोई झुग्गा घन्था भी करने लगा तभी उस झुग्गे घन्थे का मूनाधार या मुख्याधार ठगजीविका होने से वह ठगजीवी कहा जायगा। जब तक ठगजीविका से कमाया हुआ धन वह वापिस न करदे और मनसे बचन से और धनसे कुछ प्रायश्चित्त भी न करले तब तक ठगजीवी है।

११-चोर जीविका—चोरी करके जीविका करना चोरजीविका है। दूसरा धन्धा करते हुए भी कभी कभी चोरी करनेवाला चोर ही कहा जायगा। इसकी बेईमानी और पतितता स्पष्ट है।

१२-घातजीविका—डकैती आदि करके जबर्दस्ती दूसरोंका धन छीननेवाला घातजीवी है। दूसरो को परेशान करके सताकर रिश्वत लेने वाला भी घातजीवी है डकैत के समान है। यह बेईमान पतित और क्रूर है।

मनुष्य को उत्तमोत्तम या उत्तम जीविका करना चाहिये। साधारण जीविका विवशता में ही सन्तुल्य है, अधम जीविका न करना चाहिये, और अधमाधम जीविका तो मरने से भी बुरी है।

यह एक भय है कि पेट भरने के लिये अधम या अधमाधम जीविका करना ही पड़ती है। अगर कोई मनुष्य ईमान पर कायम रहे तो वह जीविका के क्षेत्रमें असफल नहीं होगा, अगर थोड़ी बहुत कमी रहेगी तो सुखशांति गौरव की प्राप्ति से वह कमी न अग्रवरेगी, बल्कि इस दृष्टि से टोटल मिलाने पर लाभ ही रहेगा। जीविका की दृष्टि से मनुष्य को अपना जीवन उत्तम बनाना चाहिये। इसमें सिर्फ परमार्थ ही नहीं है स्वार्थ भी है।

८-यशोजीवन [फिमो जिवो]

जीवन की सफलता की बहुत बड़ी कसौटी यश है। धन वैभव पद अधिकार और पूजा भी यश की बगैर नहीं कर सकते क्योंकि ये सब प्रकाश हीन हैं। जीवन का प्रकाश यश है, और जीवन की उम्र भी यही है। जिसका नाम जिस रूपमें जितने महत्त्व के साथ तब तक जीता है तब तक वह अगर है ऐसा समझा जाना है और यह ठीक है।

पर यश में भी अन्तर् बहुत है, उसके असंख्य या अनन्त भेद हैं। किसी किसी का यश सैकड़ों वर्षों तक बाफी महत्त्व के साथ देश देशान्तरों तक में फैला रहता है किसी का यश कुछ समय तक या जीवनभर रहता है, उसमें

श्रद्धा या धृक्परा का भाव नहीं रहता सिर्फ आर्तक या लोगों की जानकारी रहती है। कोई कोई तो बदनाम हो होते हैं अपयश पाते हैं। अपयश वास्तव में मृत्यु है नरक है। हाँ! वे अपयश जो आगे चलकर यश में बदल जाने वाले हैं, या विवेकियों की दृष्टि में अपयश नहीं है जनता की मूर्खता के कारण पैदा हुए हैं वास्तव में अपयश नहीं है। इन सब बातों का विचार करते हुए यशोजीवन के मूल में तीन और फिर उन्नीस भेद होते हैं। १-सुयशजीवन (सुपिम जिवो) २-अयश जीवन [नोपिम जिवो] ३-दुर्गशजीवन [रूपिम जिवो]

अच्छे यशवाला जीवन सुयश जीवन है।

जिस जीवन में न सुयश है न अपयश वह अयश जीवन है।

जिस जीवन में दुर्गश है बदनामी है वह दुर्गशजीवन है।

सुयश जीवन तीन श्रेणियों [विजोपो] और नव उपश्रेणियों (पूर्तिजोपो) में घटा हुआ है।

१-उत्तम यश (सर्पिमो)

१-परमयश (शोपिमो) स्थायी उच्च विस्तीर्ण

२-महायश (सोपिमो) स्थायी उच्च

३-भविष्ययश (लसलेर पिमो)

२-मध्यम (साधारण) यश (पौम पिमो)

४-प्रजीवनयश (शे जिवं पिमो) स्थायी व्यापक

५-जीवनयश (जिवं पिमो) स्थायी

६-प्रदीपयश (शेदिप पिमो) उच्च व्यापक

७-दीपयश (दिपं पिमो) उच्च

३-अन्य यश (रिक् पिमो)

८-छायायश (छुव पिमो) व्यापक

९-पराययश (रिक् पिमो) अस्थायी तुच्छ अव्यापक

१ परमयश—जो यश पीछियों या शताब्दियों तक रहा है रहनेवाला है, युग के याता-यात के अनुसार हजारों कोसों में फैला हुआ है, यशस्वी व्यक्ति के विषय में लोगों को आदर का भाव है ऐसे यश को परम यश कहना चाहिये।

म. राम, म. कृष्ण, म. बुद्ध, म. ईसा, म. मुहम्मद, म. माक्स आदि इसी श्रेणी के यशस्वी हैं। म. महावीर विस्तीर्णता में कुछ कम होने पर भी इसी श्रेणी में लिये जा सकते हैं। म. मुक्तगत आदि भी परम यशस्वी हैं। सम्राट् अशोक की गिनती भी परमयशस्वियों में की जा सकती है। म. कम्प्यूसियस भी परमयशस्वी हैं।

२-महायश—जो विस्तार में कम हैं पर वाकी बातों में परमयशस्वी के समान हैं। वे महायशस्वी हैं परमयशस्वी और महायशस्वी की योग्यता में कोई तन्त्रित अन्तर नहीं होता। दोनों कभी-कभी एक सरीखे हैं। सिर्फ प्रचार के कारण यह अन्तर पैदा होता है।

३-भविष्ययश—जिनने जीवन में उचित यश नहीं पाया किन्तु जिनके उपकार और योग्यता इतनी महान हैं कि मरने के बाद उनका यश फैलेगा। आज जिनको हम परमयशस्वी या महायशस्वी कहते हैं उनमें से अधिकांश अपने जीवन में भविष्ययशस्वी ही थे। इसलिये जो सच्चा जगत्सेवक है वह परमयशस्वी या महायशस्वी बनने की चिन्ता नहीं करता, वह भविष्ययशस्वी होने में ही सन्तुष्ट रहता है। हा! कुछ ऐसे विवेकी होते हैं जो भविष्ययशस्वी की परमयशस्विता या महायशस्विता जीवन में ही पहिचान लेते हैं वे उस भविष्ययशस्वी को परम-यशस्वी ही कहते हैं, यह तर्क और आव-श्यक है।

४-सुजीवनयश—जो यश काफ़ी स्थायी है व्यापक भी है परन्तु जिसमें उन्नता नहीं है या बहुत कम है। तारीफ़ तो होती है आश्चर्य भी होता है पर विचार करने पर काफ़ी मात्रा में भक्ति आदर श्रद्धा अनुराग आदि पैदा नहीं होता। जैसे आगरे का ताजमहल अपने निर्माता का नाम शताब्दियों के लिये अमर किये हुए है, देश देशान्तरो में वह यश फैला है इसलिये व्यापक भी है पर ताजमहल बनवाने के बारे में वह भक्ति आदर आदि पैदा नहीं होते जो एक जनसेवक के बारे में पैदा होते हैं। विचारक यही

सोचता है कि ठीक है, प्रजा की कसौटी से अपने पत्नी प्रेम का स्मारक एक बादशाह ने बनवाया है, वह भी सिर्फ इसलिये कि वह उसकी प्यारी पत्नी थी, न कि कोई विश्व हितैषिणी महामहिता। इसमें महत्व क्या है। इसप्रकार के यश को सुजीवन यश कहते हैं। यह काफी जीता है और विस्तार के साथ जीता है।

५ जीवन यश—यह यश जीवनयश के समान है सिर्फ विस्तार में कम है। कोई ऐसा काम किया जाय जो चिरकाल तक लोग याद रखें, पर उसका विस्तार न हो, न पूज्यता बुद्धि हो। अनेक ग्राम नगरों में ऐसी चीजें मिल जाती हैं जिन्हें शताब्दियों से लोग जानते हैं पर आस-पास के लोग ही जानते हैं। इससे जो यश मिलता है वह जीवन यश है।

६ प्रदीपयश—सामयिक वातावरणसे लाभ उठाकर जो महत्ता और व्यापकता प्राप्त की जाती है उससे पैदा होने वाले यश को प्रदीप यश कहते हैं। राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेकर मनुष्य जल्दी दूर दूर तक विख्यात होजाता है और लोगों की पूज्य बुद्धि भी मिल जाती है। किसी खास प्रसंगपर अनशन आदि करने से भी ऐसा उच्च व्यापक यश मिलजाता है। राजनैतिक नवा बनने से, या राज्यमन्त्री आदि पद पाजाने से भी, या राजनैतिक संस्था का कोई पद पालने से भी इस प्रकार का यश मिलजाता है। पर उसकी उम्र बहुत थोड़ी है। हा! जो लोग स्थायी और वास्तविक जनसेवा भी करते हैं और इसके बाद कदाचित् शासन आदि का पद भी पाजाते हैं वे परमयशस्वी होजाते हैं जैसे हजरत मुहम्मद आदि हुए हैं। पर ऐसे बहुत कम होते हैं अधिकतर इसी छट्टी श्रेणी के होते हैं। जैसे प्रदीप काफी दूर तक तीव्र प्रकाश देता है पर देता है तभी तक, जब तक उसे तेल आदि मिलता रहता है, तेल समाप्त होते ही बुझ जाता है। इसीप्रकार प्रदीप यश तभी तक है जब तक अमुक साम-

यिक घटना का जोश है या अमुक पद है, इसके बाद समाप्त होजाता है।

७ प्रदीपयश—यह दीपयश के समान है पर व्यापकता में कम है। काफी छोटं क्षेत्र में इसका फैलाव होता है, हा पूज्यता काफी ऊंची होती है। साम्प्रदायिक क्षेत्र में ऐसे यशस्वी देखे जाते हैं।

८ छायायश—इस यश में विस्तार है पर उच्चता और स्थायिता नहीं। अनेक नट नटियों के नाम देश देशान्तरों में फैल जाते हैं, पर उनके बारे में वह भक्ति आदर आदि नहीं होता जो एक परोपकारी हितैषी के बारे में होता है। उनके रूप और शब्द से लोग अपनी आँखें और कान सेकना चाहते हैं। और मरने के बाद वे भुला दिये जाते हैं, इतना ही नहीं, बहुत से तो जयानी के बाद ही भुलादिये जाते हैं। इस प्रकार यह यश जमीनपर पड़ी हुई चड़ीभर की छाया के समान होने के कारण छाया यश कहलाता है।

९ पलक यश—जो यश थोड़ी देर को थोड़े से लोगों में फैलता है और उससे वास्तविक महत्ता नहीं मिलती। वह पलक मारने सरीखा क्षणिक होने के कारण पलक यश कहलाता है, शानदार शाही का उत्सव कर दिया, शान दिखावने के लिये भोल कर दिया, अच्छा जुलूस निकाल दिया, आदि ऐसे कर्ब जिनका प्रभाव स्थानीय और क्षणिक होता है, लोगों में उसके प्रति सिर्फ ईर्ष्या या आश्चर्य ही पैदा होता है वह पलक यश है। यह बहुत छुट्ट है।

१० जिनके जीवन में किसी प्रकार का यश नहीं होता है वह अयश जीवन है। साधारण मनुष्यों का जीवन प्रायः ऐसा ही होता है। हालांकि थोड़ा बहुत पलक यश यद्वाँको मिलजाता है।

जिस प्रकार यश जीवन के नव भेद बताये गये हैं उसी प्रकार दुर्यश जीवन के भी नव भेद होते हैं। पर भेदों का क्रम उलट जाता है क्योंकि यश पहिले दर्जे का हो तो जीवन सब से अच्छा

समझा जाता है पर दुर्यश पहिले दर्जे का हो तो जीवन सत्र से खराब समझा जाता है। यहाँ जो जीवन की श्रेणियाँ बनाई गई हैं वे सब से अच्छे जीवन से लेकर सत्र से खराब जीवन तक गई हैं। इसलिये पलक रण के बाद अर्यश जीवन और फिर पलक दुर्यश जीवन आता है। परम दुर्यश जीवन को सबसे गंवा बीता जीवन है। इसप्रकार ग्यारह से त्र्तीस तक दुर्यश जीवन के भेद हैं।

११-पलकदुर्यश [रिंक रूपिमो] किसी छोटीसी गलती से धोड़े से लोगों के बीच में होने वाली बदनामी, जो कुछ समय में भुलायी-जायगी पलकदुर्यश कहलाती है। अधिकश व्यक्ति कभी न कभी ऐसी बदनामी पाजावे हैं।

१२-आया दुर्यश [ह्रुवं रूपिमो] पलक दुर्यश के समान कुछ बड़ीसी बदनामी, जो कुछ अधिक लोगो में फैलती है पर कुछ दिनों में सुलाने लायक है।

१३-धूम दुर्यश [दुगं रूपिमो] बदनामी की बात ऊँचे दर्जे की हो, पर बहुत फैल नहीं पायी हो और न स्थायी होपाई हो। धुपों की तरह धोड़ी जगह में फैलकर उड़जाने वाली हो, पर आग लगाने के समान उत्पत्ता का चिन्ह अवश्य हो।

१४ प्रधूम दुर्यश [शेषुगं रूपिमो]-बदनामी का कार्य काफी बड़ा हो, फैल भी गया हो, पर टिकाऊ न हो।

बहुत फैलने या टिकने का विचार सापेक्ष दृष्टि से करना चाहिये। जिस कार्यमें बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति की जितनी बदनामी होसकती है उस कार्य से अप्रसिद्ध व्यक्ति को उतनी बदनामी नहीं होसकती। पर इस कारण से अप्रसिद्ध व्यक्ति ऊँची श्रेणी का नहीं होजाता। उसकी परिस्थिति के अनुसार ही उसकी बदनामी की व्यापकता और स्थायिता का विचार किया जायगा और उसी के अनुसार उसकी श्रेणी निश्चित होगी।

१५-जीवन दुर्यश (जिवं रूपिमो)-एसा पाप किया जाय जिससे जीवनभर या काफी समय तक बदनामी रहे। पर वह न तो बहुत फैले न बहुत उच्च हो।

१६-प्रजीवनदुर्यश (शेजिवं रूपिमो)-जीवन दुर्यश जत्र स्थायी के साथ विस्तीर्ण भी होजाय तो वह प्रजीवन दुर्यश होजाता है।

१७-भविष्य दुर्यश (लसत्तर रूपिमो)-आज जो बदनामी छिपीहुई है या तुच्छ है पर कुछ समय बाद या जीवन के बाद जो स्थायी हो जायगी, यथाशक्य फैल भी जायगी वह भविष्य दुर्यश है।

१८-महादुर्यश (सो रूपिमो)-जो बदनामी किसी कारण विस्तार न पासकी हो पर जितने क्षेत्रमें फैली हो काफी उत्कट हो और स्थायी हो। विश्वासघात कृतघ्नता आदि से ऐसी बदनामी मिली करती है

१९ परम दुर्यश (शो रूपिमो) जो बदनामी काफी तीव्र हो खूब फैली हो और बहुत समय तक के लिये स्थायी हो जैसे रावणादि की बदनामी वह परम दुर्यश है।

यश की दृष्टिसे मनुष्य को अपना जीवन टटोलना चाहिये। दुर्यश से बचकर यथाशक्य यश की ऊँची श्रेणियों में रहना चाहिये।

९-लिंगजीवन [नंगो जिवो]

तीन भेद

नर नारी ये मानवजीवन के दो भाग हैं। अकेली नारी आधा मनुष्य है अकेला नर आधा मनुष्य है। दोनों के मिलने से पूर्ण मनुष्य बनता है। इस प्रकार वर्णित को हम पूर्ण मनुष्य कह सकते हैं।

हिन्दुओं में जो वह प्रसिद्धि है कि शिवजी का आधा शरीर पुरुषरूप है और आधा नारी, इस रूपक का अर्थ यहाँ है कि पूर्ण मनुष्य में नर और नारी दोनों की विशेषताएँ हुआ करती हैं। पर वह ध्यान रखना चाहिये कि वे विशेषताएँ

मन बुद्धि या गुणों से सम्बन्ध रखनेवाली हैं शरीर से नहीं। लैंगिक दृष्टि से कोई मनुष्य पूर्ण है इसका यह मतलब नहीं है कि उसकी दाढ़ी में एक तरफ बाल हैं और दूसरे तरफ नहीं, एक तरफ मूँछ हैं दूसरी तरफ नहीं, एक तरफ स्त्रियों सरीखे गतन हैं दूसरी तरफ पुरुषों सरीखे। किसी पूर्ण पुरुष का ऐसा चित्र गमार्क चित्र ही कहा जा सकेगा। उभयलिंगी चित्रण करना तो वह गुणसूचक होना चाहिये।

लैंगिक दृष्टिसे मानव जीवन के तीन भेद हैं १ नपुंसक, २ एकलिंगी, ३ उभयलिंगी।

१ नपुंसक (नोलेंग) - जिस मनुष्य में न तो स्त्रियोचित गुण हैं न पुरुषोचित, वह नपुंसक है। समाज की रक्षा में, उन्नति में, सुख शान्ति में नारी का भी स्थान है और नर का भी। जो न तो नारी के गुणों से जगत की सेवा करता है न नर के गुणों से, वह नपुंसक है।

नर नारी

नर और नारी की शरीररचना में प्रकृति ने जो अन्तर पैदा कर दिया है उसका प्रभाव उनके गुणा तथा कार्यों पर भी हुआ है। उससे दोनों में कुछ गुण भी पैदा हुए हुए और दोनों में कुछ दोष भी। उ०। उ०। विकास होता गया त्यों त्यों दोनों में उन गुणों का भी विकास होता गया। इस प्रकार नर और नारी में आज बहुत अन्तर दिखाई देने लगा है जब कि मौलिक अन्तर इतना नहीं है। बुद्धिमत्ता विद्वत्ता आदि में नर और नारी समान हैं। किन्तु शताब्दियों तक विद्वत्ता आदि के क्षेत्र में काम न करने से, आने जाने की पूरी सुविधा न मिलने से और अनुभव की कमी के कारण, नारी विद्वत्ता आदि में कम मानस होती है, पर इस विषय में भूल से कोई अन्तर नहीं है।

शरीर रचना के कारण नर और नारी में जो मौलिक गुण दोष हैं वे बहुत नहीं हैं। वास्तव्य नारी में मुख्य है निर्गलता दोष। सखलता नर का गुण है तापवादी दोष। इस एक एक ही गुण

दोष से बहुत से गुण दोष पैदा हुए हैं।

नारी की विशेष अंग-रचना के अनुसार उसका सन्तान से इतना निकट सम्बन्ध होता है कि वह अजग प्राणी होने पर भी उसे अपने में संलग्न समझती है। अपनी पर्वाह न करके भी सन्तान की पर्वाह करती है। सन्तान के साथ वह आत्मौपम्य भाव नारी की महीन विरोधता है। संयम सेवा, कोमलता, प्रेम आदि इसी वृत्ति के विकसित रूप हैं। अगर प्रेम या अहिंसा को साकार रूप देना हो तो उसे नारी का आकार देना ही सर्वोत्तम होगा।

नारी का वास्तव्य या प्रेम मूल में सन्तान के प्रति ही था। एक तरफ तो वह नाना रूपों में प्रकट हुआ दूसरी तरफ उसका क्षेत्र विस्तीर्ण हुआ। इस दुहरे विकास ने मानव समाज में मुख्य समृद्धि की वर्षा की है। जितने अंश में वह विकास है उतने ही अंश में यहाँ स्वर्ग है।

नारी में जब सन्तान के लिये वास्तव्य आया तब उसके साथ सेवा का आना अनिवार्य था। इस प्रकार सेवा के रूप में नारी जीवन की एक माँकी और दिखाई देने लगी। सेवा भी नारी का स्वाभाविक गुण हो गया।

जहाँ वास्तव्य है वहाँ कोमलता स्वाभाविक है। नारी में दुःखपातादि कराने से तन की कोमलता तो थी ही, साथ ही प्रेम और सेवा के कारण उसमें मनकी कोमलता भी आ गई। बच्चे का रोना सुनकर उसका मन भी रोने लगा उसकी वैचैनी से उसका मन भी वैचैनी होने लगा। इस कोमलता ने दूसरे के दुःखों को दूर करने और सहानुभूति के द्वारा हिंसा बटाने में काफ़ी मदद की।

वास्तव्य और सेवाने नारी में सहिष्णुता पैदा की। नारी के सामने मनुष्य निर्माण का एक महान कार्य था और वह उसमें तन्मय थी इसलिये उसने सहिष्णुता का आना स्वाभाविक था। जिसके सामने कुछ विवायक कार्य होता है

वह चोटों की कम पवाह करता है। बदला लेने की भावना भी उसमें कम होती है। वह हुंकार तभी करता है जब चोट असह्य हो जाती है या उसके विधायक कार्य में बाधा पड़ते लगती है। नारी शरीर से कोसल होने पर भी जो उसमें कष्टसहिष्णुता अधिक है उसका कारण मानव-निर्माण के कार्य में प्राप्त हुई कष्टसहिष्णुता का अभ्यास है। नर ने इसका काफी दुरुपयोग किया है फिर भी नारी विद्रोह नहीं कर सकी और सहयोग के लिये पुरुष को ही खींचने की कोशिश करती रही इसका कारण उसकी सन्तानवत्सलता या मानव निर्माण का कार्य है।

मानव निर्माण के कार्य ने नारी में एक तरह की स्थिरता या संरक्षणशीलता पैदा की। मानव निर्माण या और भी विधायक कार्य प्रचुम्ब्य वातावरण या अस्थिर जीवन में नहीं हो सकते, उसके लिये बहुत शान्त और स्थिर जीवन चाहिये। इसलिये नारीन घर बसाया। चिड़ियों जैसे अंडों के लिये घोंसला बनाती हैं और इस काम में माया चिड़िया नर चिड़िया का सहयोग प्राप्त करती है, उसी प्रकार नारीने घर बसाया और नर का सहयोग प्राप्त किया।

जब घर बना तब जीवन में स्थिरता आई उपाजन के साथ समूह हुआ, भविष्य की चिन्ता हुई, इससे उच्छ्वलता पर अंकुश पड़ा और इस तरह समाज का निर्माण हुआ।

नारी के सामने मानव-निर्माण घर बसाना, समाज-रचना आदि विशाल कार्य आगये। अगर मनुष्य पशु होता तब तो यह कार्य इतना विशाल न होता, अकेली नारी ही इस कार्य को पूरा कर डालती, पर मनुष्य पशुओं से कुछ अधिक या इसलिये उसका निर्माण कार्य भी विशाल था। अकेली नारी इस विशाल कार्य को अकेली तरह न कर पाती इसलिये उसने पुरुष का सहयोग चाहा। नारी घर तभी कारखाने में बैठकर निर्माण कार्य करने लगी और पुरुष सामान जुटाना और संरक्षण कार्य करने लगा। इस अवस्था में पुरुष सिर्फ सहयोगी था, नारी माल-

किन थी। नारी के आकर्षण से पुरुष यह कार्य करता था पर सन्तान के विषय में पुरुष को कोई आकर्षण न था, न घर की चिन्ता थी, इसलिये पुरुष में वह स्थिरता नहीं थी जिस की आवश्यकता थी। मन ऊबने पर वह जहाँ चाह चल देता था। पर नारी का तो घर था, बाल बच्चे थे और था उसके आगे मानव-निर्माण का महान् कार्य। वह इतनी अस्थिर नहीं हो सकती थी। वह स्थिर थी और स्थिर सहयोग ही चाहती थी। इसलिये पुरुष को सदा लुभाये रखने के लिये नारी का चेष्टा होने लगी, इसी कारण नारी में कलामयता शृङ्गारप्रियता आदि गुणों का विकास हुआ। इससे पुरुष का आकर्षण तो बढ़ा ही, साथ ही उसका मूल्य भी बढ़ा उसमें आत्मीयता की भावना अधिक आई और वह नारी के बराबर तो नहीं, फिर भी बहुत कुछ स्थिर हो गया।

इस प्रकार नारी के सन्तानवात्सल्य नामक एक गुणने उसमें सेवा कोमलता सहिष्णुता स्थिरता शृङ्गारप्रियता या कलामयता आदि अनक गुण पैदा किये। संगति और संस्कारों ने ये गुण नारी मात्र में भर दिये। सन्तान न होने पर भी बाल्यावस्था से ही ये गुण नारी में स्थान जमाने लगे। नारी के सहयोग से ये गुण पुरुष में भी आये और ज्यों ज्यों मनुष्य का विकास होता गया त्यों त्यों इनका क्षेत्र विस्तृत होता गया यहा तक कि सन्तानवात्सल्य फैलते फैलते विश्व-बन्धुत्व बन गया।

जगत में आज जो अहिंसा, संयम, प्रेम, त्याग, सेवा, सहिष्णुता, स्थिरता, कौटुम्बिकता, सौंदर्य, रोमा, कलामयता आदि गुणोंका विकसित रूप दिखाई देता है उसका श्रेय नारी या नारीत्व को है क्योंकि इनका बीजारोपण उसीने किया है इसलिये नारी भगवती है नारीत्व बन्धनीय है। नारीत्व का अर्थ है प्रेम सेवा सहिष्णुता कला आदि गुणों का समुदाय और मानव-निर्माण का महान् कार्य।

नारी की विशेष शरीर रचना के कारण जहाँ उस में उपयुक्त गुण आवें वहाँ थोड़ी मात्रा में एक दोष भी आया। वह है आंशिक

रूप में शारीरिक निर्वलता । नारीशरीर के रक्त मांस द्वारा ही एक प्राणी की रचना होती है इसलिये यह बात स्वाभाविक थी कि पुरुष शरीर की अपेक्षा नारी का शरीर कुछ निर्वल हो । इस निर्वलता में नारी का जरा भी अपराध नहीं था बल्कि मानव-जाति के निर्माण और संरक्षण के लिये होनेवाले उसके स्वाभाविक त्याग का यह अनिवार्य परिणाम था । वह निर्वलता उसके त्याग की निशानी होने से सम्मान की चीज है ।

यह भी स्वाभाविक था कि जैसे गुणों में वृद्धि हुई उसी प्रकार इस दोष में भी वृद्धि होती, सो वह हुई । पशुपत्नियों में नर मादा की शक्ति में जो अन्तर होता है उससे कई गुणा अन्तर मानव-जाति के नर मादा में है । गुणों की वृद्धि तो उचित कही जा सकती है पर यह दोषवृत्ति उचित नहीं कही जा सकती । इसलिये प्रत्येक मनुष्य को नारीत्व के गुण प्राप्त करने के लिये अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिये पर नारीत्व के इस सहज दोष से बचने की कोशिश भी करना चाहिये । नारी-शरीरधारी मनुष्य को उतनी ही निर्वलता क्षम्य है जो मानव-निर्माण के लिये अनिवार्य हो चुकी है ।

और अब तो शारीरिक शक्ति भी सिर्फ मुट्ठी के बलपर निर्भर नहीं है । अब तो अस्त्रशस्त्रों के ऊपर निर्भर है । अगर बुद्धिमत्ता हो, जानकारी हो, हस्तकौशल हो, साहस हो तो अस्त्रशस्त्रों के सहारे निर्वल भी सबल का सामना कर सकता है । इस प्रकार नारी की सहज निर्वलता अब उतना अनिष्ट पैदा नहीं कर सकती है । अन्य साधनों से वह पशुबल में भी पुरुष के समकक्ष खड़ी हो सकती है । इस तरह नारी का विकास होना चाहिये । फिर भी जो निर्वलता रह जाय वह परोपकार का परिणाम होने से उसका अनादर न करना चाहिये, उसका दुरुपयोग भी कदापि न करना चाहिये ।

पुरुष को मानव-निर्माण के कार्य में नहीं के बराबर लगना पड़ा । इसलिये उसमें नारी की

अपेक्षा सबलता अधिक आई । यह पुरुष का विशेष गुण है । इस गुण ने अन्य गुण पैदा किये । सबलता से निर्भयता पैदा हुई, घर के बाहर भ्रमण करने के विशेष अवसर मिले, नारी के कार्य में संरक्षक होने से बाह्यी संघर्ष अधिक हुआ इन सब कारणों से उसकी बुद्धि का विकास अधिक होगया, अनुभवों के बढ़ने से विद्वत्ता बहुत बढ़ी, वीरता साहस आदि गुणों का भी काफी विकास हुआ । बाहरी परिवर्तन अर्थात् बड़े-बड़े परिवर्तन करने की मनोवृत्ति और शक्ति भी इसमें अधिक आगई, नारी के छोटे से संसार का इस विशाल विश्व के साथ सम्बन्ध जोड़ने में पुरुष का ही कर्तृत्व अधिक रहा । इस प्रकार पुरुष नारीत्व के गुणों में पीछे रहकर भी अन्य अनेक गुणों में बढ़ गया ।

पुरुष में बल की जो विशेषता हुई उसने अन्य अनेक गुणों को पैदा किया पर उसमें जो लापवाही का दोष था उसने अन्य अनेक दोषों को पैदा किया इसके कारण सबलता दोषों को बढ़ाने में भी सहायक हुई ।

नारी को मानव-निर्माण के कार्य में पुरुष की आवश्यकता थी, पुरुष ने इसका दुरुपयोग किया । रक्त होने से, सबल होने से, बाहरी सगत से विशेष सम्बन्ध होने से वह मालिक बन गया । पहिले उसकी लापवाही का परिणाम यह होता था कि जब उसका दिल चाहता था तब घर छोड़कर चल देता था, अब यह होने लगा कि घर की मालकिन को अलग कर दूसरी को लाने लगा ।

कहीं कहीं इस ज्यादती को रोकने के लिये जो प्रयत्न हुआ और उससे जो समझौता हुआ उसके अनुसार पहिली मालकिन को निकालना तो बन्व होगया पर उसके रहते दूसरी मालकिन लाने का अधिकार हो गया । घर से बाहर रहने के कारण उपार्जन का अवसर पुरुष को ही अधिक मिला, इधर मालकिनों को बदलने या निकालने या दूसरी लाने का अधिकार भी उसे

मिला इस प्रकार नारी दासी रह गई और पुरुष स्वामी बन गया। अब उल्टी गंगा बहने लगी। पुरुष जो अज्ञात स्थानों में जाने का और बाहर की हर एक परिस्थिति के सामना करने का अभ्यासी था वह तो घरवाला बनकर घर में रहा, और नारी, जिसे घर के बाहर निकलने का बहुत कम अभ्यास था, घरवाली बनने के लिये अपना घर-पैतृक कुल छोड़ने लगी। खैर, कम से कम किसी एक को घर छोड़ना ही पड़ता, परन्तु खेद तो यह है कि एक घर छोड़कर भी वह दूसरे घर में घरवाली न बन सकी। वह दासी ही बनी। यद्यपि उसे पदवी तो पत्नी अर्थात् मालकिन की मिली पर वह पदवी अधीनस्थ थी। इसी प्रकार घरवाली की पदवी भी व्यर्थ हुई। पुरुष तो घरवाला रहा पर वह घरवाली के नाम से घर बनी। बड़े बड़े पंडितों ने भी कहा—दीवार बगै-रह को घर नहीं कहते घरवाली को घर कहते हैं [गृहं हि गृहिणी भाहुः न कुड्यकटिंसंहतिम-सागारधर्माभूत] इस प्रकार मूल में जो घरवाला रहा था वह तो घरवाला बन गया और जो घरवाली थी वह घर छोड़कर रह गई।

इस प्रकार नारीत्व और पुरुषत्व के गुणों ने जहाँ मनुष्य को हर तरह विकसित या समुन्नत बनाया उसी प्रकार इनके सहज दोषों ने मनुष्य को हैवान और शैतान बनाया। नारीत्व का मूल्य उसके गुण से है वह पुरुष को भी अपमान की चीज है और नारीत्व का जो दोष है वह नारी का भी छोड़ना चाहिये। पुरुषत्व का मूल्य उसके गुण से है वह नारी को भी अपमाना चाहिये। और पुरुषत्व का जो दोष है वह पुरुष को भी छोड़ना चाहिये।

जिसमें न तो नारीत्व के गुण हैं न पुरुषत्व के, अगर हैं तो दोनों के या किसी एक के दोष हैं, वह नपुंसक है। भले वह शरीर से नपुंसक न हो—स्त्री या पुरुष हो।

२ एकलिंगी (ऊनगिर)—जिसमें या तो पुरुषत्व के गुण विशेषरूप में हैं या नारीत्व के

गुण, वह मनुष्य एकलिंगी है। किसी मनुष्य में कलाप्रियता सेवा आदि की भावना हो पर शक्ति विद्वत्ता आदि पुरुषोचित गुण न हो वह नारीत्ववान मनुष्य है भले वह शरीर से नारी हो, पुरुष हो या नपुंसक हो। इसी प्रकार जिसमें पुरुषत्व के गुण हों परन्तु नारीत्व के गुण न हों वह पुरुषत्ववान मनुष्य है, भले ही वह नारी हो, नपुंसक हो या पुरुष हो। वह एकलिंगी मनुष्य अधूरा मनुष्य है मध्यम श्रेणी का है।

प्रश्न—एकलिंगी मनुष्य पुरुष हो या नारी, इसमें कोई बुराई नहीं है परन्तु पुरुषत्ववती नारी और नारीत्ववान पुरुष, यह अच्छा नहीं कहा जा सकता। नारी, पुरुष बने और पुरुष, नारी बने यह तो लैंगिक विडम्बना है।

उत्तर—ऊपर जो पुरुषत्व के और नारीत्व के गुण बताये गये हैं वे इतने पवित्र और कल्याणकारी हैं कि कोई भी उन्हें पाकर धन्य हो सकता है। अगर कोई मनुष्य रोगियों की सेवा करने में बतुर और रुसाही है तो वह नारीत्ववान पुरुष जगत् की सेवा करके अपने जीवन को सफल ही बनाता है उसका जीवन धन्य है। इसी प्रकार कोई नारी भौंसी की लक्ष्मी-घाई या भ्रातृ की देवी जोन की तरह अपने देश की रक्षा के लिये शस्त्र-सज्जालन करती है तो ऐसी पुरुषत्ववती नारी भी धन्य है उसका जीवन सफल है कल्याणकारी है। इन जीवनो में किसी तरह से लैंगिक विडम्बना नहीं है। लैंगिक विडम्बना वहाँ है जहाँ पुरुष नारीत्व के गुणों का परिचय नहीं देता, कोई जनसेवा नहीं करता, किन्तु नारी का वेप घनाता है, नारी जीवन की सुविधाएँ चाहता है और नारी के ढंग से कामुकता का परिचय देता है। गुण तो गुण हैं उनसे जीवन सफल और धन्य होता है फिर वे नारीत्व के हों या पुरुषत्व के, और उन्हें कोई भी प्राप्त करे।

प्रश्न—नारीत्ववान पुरुष पुरुषत्व की विड-

मना भले ही न हो किन्तु यह तो कहना ही पड़ेगा कि पुरुषत्ववान् पुरुष से वह इनके दर्जे का है इसी प्रकार नारीत्ववती नारी से पुरुषत्ववती नारी हीन है।

उत्तर—हीनाधिकता का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, इसका सम्बन्ध है युग की आवश्यकता से। किसी देशव्यापी बीमारी के समय अगर रोगियों की सेवा में कोई पुरुष हो स्याद है तो वह नारीत्ववान् पुरुष का दर्जा किसी शोद्ध से कम नहीं है। राष्ट्र के ऊपर कोई आक्रमण हुआ हो तो राष्ट्र रक्षा के लिये युद्ध क्षेत्र में काम करने वाली पुरुषत्ववती नारी किसी नारीत्ववती नारी से कम नहीं है। आदर्श तो यही है कि प्रत्येक मनुष्य में दोनों की विशेषताएँ हों, वह उभय-लिंगी हो, परन्तु यदि ऐसा न हो तो अपनी रुचि योग्यता और राष्ट्र की आवश्यकता के अनुसार किसी भी लिंग का काम कोई भी चुन सकता है।

कोई कोई पुरुष बच्चों के लालन-पालन में इतने हो स्याद होते हैं कि नारियों से भी बाली मार ले जाते हैं, बहुत से पुरुष रंगसंच पर अनेक रसों का ऐसा प्रदर्शन करते हैं और कलारमक जीवन का ऐसा अच्छा परिचय देते हैं कि अनेक अभिनेत्रियों से बाली मार ले जाते हैं, और भी अनेक स्त्रियोचित कार्य हैं जिनमें बहुत से पुरुष निष्णात होते हैं ऐसे कार्य करनेवाले नारीत्ववान् पुरुष पुरुषत्ववान् पुरुष से छोटे न होंगे।

नारीत्ववान् पुरुष हमें छोटा मालूम होता है इसका कारण है कि युगोसं पूर्वावादा साम्राज्यवाद आदि के कारण बाजार में नारीत्व के कार्यों का मूल्य कम होगा है इसलिये पुरुषत्ववाली नारी का हम सम्मान करते हैं और नारीत्ववान् पुरुष को या नारीत्ववती नारी को हम ऊँच दृष्टि से देखते हैं। यह नारीत्व के विषय में ज्ञान है।

घर में माछू दे लेना, बच्चे को दूध पिला देना या नाचना गाना ही नारीपन नहीं है और साधारण नारी इन कार्यों को जिस ढंग से करती है जिनमें ही नारीपन समाप्त नहीं होता। नारीपन

का क्षेत्र व्यापक और महत्वपूर्ण है। ऊँची से ऊँची चित्रकारी, संगीत, नृत्य, पाकशास्त्र की ऊँची से ऊँची योग्यता, मानव हृदय को सुसंस्कृत बनाना शिक्षण देना, स्वच्छता, अनेक मनुष्यों के रहन सहन की सुव्यवस्था, प्रतिकूल परिस्थिति में शान्ति और व्यवस्था के साथ ठिके रहना, प्रेम वात्सल्य, मिष्टमापण, आदि अनेक गुण और कर्म नारीपन के कार्य हैं। राज्य का सेनापति यदि पुरुषत्ववान् पुरुष है तो गृहसचिव नारीत्ववान् पुरुष है। नारी के हाथ में आज कहीं क्या रह गया है यह बात दूसरी है पर नारीत्व का क्षेत्र उतना संकुचित नहीं है। उसका क्षेत्र विशाल है और बड़ा है। इसलिये नारीत्व को छोटा न समझना चाहिये और इसीलिये नारीत्ववान् पुरुष भी छोटा नहीं है। हाँ इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि समाज को इस समय किसकी अधिक आवश्यकता है ? आवश्यकता के अनुसार गुणों और कार्यों को अपनाकर हर एक नर और नारी को अपना जीवन सफल बनाना चाहिये।

प्रश्न—यदि पुरुष में भी नारीपन उचित है और नारी में भी पुरुषपन उचित है तो पुरुष में भी लम्बे बाल रख कर नारियों से समानाचार करना, साड़ी आदि पहिनना उचित समझा जायगा और इसी प्रकार स्त्रियों का पुरुषोचित वेष रखना भी उचित समझा जायगा। क्या इससे लैंगिक विद्वन्धन न होगी।

उत्तर—अवश्य ही यह विद्वन्धन है पर यह नारीत्ववान् पुरुष का रूप नहीं है। अमुक तरह का वेष रखना नारीपन या पुरुषपन नहीं है। नर और नारी के वेष में आवश्यकतानुसार या सुविधानुसार अन्तर रहना उचित है। नारीपन या पुरुषपन के जो गुण यथा वतलाये गये हैं उन गुणों से हर एक मनुष्य [नर या नारी] अपना और जगत का कल्याण कर सकता है परन्तु नर नारी को या नारी नर को पोशाक पहिने इससे न तो उनको कुछ लाभ है न दूसरों

को। वस्तुतः इससे व्यवहार में एक भ्रम पैदा होता है।

नर नारी की पोशाक में कितना अन्तर हो, देशकाल के अनुसार उनमें परिवर्तन हो कि नहीं हो, हो तो कितना हो? नारी पुरुष-वेष की तरफ कितनी मुड़े, पुरुष नारी-वेष की तरफ कितना मुड़े आदि बातों पर विस्तार से विचार किया जाय तो एक खासी पुस्तक घन सकती है। यहाँ उबती लागह नहीं है इसलिये यहाँ इस विषय में कुछ इशारा ही कर दिया जाता है।

१-नारी और नर की पोशाक में कुछ न कुछ अन्तर होना उचित है। नारी ऐसा वेप ले कि देखने से पता ही न लगे कि यह नारी है और नर ऐसा वेप ले कि देखने से पता ही न लगे कि यह नर है, यह अनुचित है। साधारणतः वेप अपने लिंग के अनुसार ही होना उचित है। इसका एक कारण यह है कि इससे नर नारी में जो परस्पर लैंगिक सम्मान और सुविधा-दान आवश्यक है उसमें सुविधा होती है। अनावश्यक और हानिकर लैंगिक सम्बन्ध से भी बचाव होता है। दूसरी बात यह है कि नर और नारी को मानसिक सन्तोष अधिक होता है।

नारी अधूरा मनुष्य है और नर भी अधूरा मनुष्य है दोनों के मिलने से पूरा मनुष्य बनता है इस प्रकार वे एक दूसरे के पूरक हैं। शारीरिक दृष्टि से उन दोनों में जो विषमता है वह इस पूरकता के लिये उपयोगी है। वेप की विषमता शारीरिक विषमताका शृंगार है वा उसे बढ़ानेवाली है और शारीरिक विषमता पूरकता का कारण है इसलिये वेप की विषमता भी पूरकता का कारण है। एक नारी का हृदय नारी-वेषी पुरुष से इतना सन्तुष्ट नहीं होता जितना पुरुष-वेषी पुरुष से। इसी प्रकार एक पुरुष का हृदय पुरुष-वेषी नारी से इतना सन्तुष्ट नहीं होता जितना नारी-वेषी नारी से इसलिये अमुक अंश में वेप की विषमता जरूरी है। हाँ, इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं।

क-युद्ध क्षेत्र आदि में अगर कुछ काम करना पड़े और परिस्थिति ऐसी हो कि नारी को पुरुष-वेष लेना ही कार्य के लिये उपयोगी हो तो ऐसा किया जासकता है,

ख-अन्याय या अत्याचार से बचने के लिये वेप-परिवर्तन की आवश्यकता हो तो वह क्षम्य है।

ग-रंगमंच आदि पर अभिनय करने के लिये अगर नर को नारी का या नारी को नर का वेप लेना पड़े तो यह भी क्षम्य है।

घ-जनसेवा, न्यायरक्षा आदि के लिये गुप्त-चर का काम करना पड़े और वेप-परिवर्तन करना हो तो वह भी क्षम्य है।

इस प्रकार के अपवादों को छोड़कर नर नारी की पोषाक में कुछ न कुछ अन्तर रहना चाहिये।

२-वेप जलवायु और कार्यक्षेत्र के अनुसार होना उचित है। गरम देशों में जो वेप ठीक हो सकता है वही ठंडे देशों में होना चाहिये वह नहीं कहा जासकता या एक ऋतु में जो वेप उचित कहा जासकता है वही दूसरी में भी उचित है यह नहीं कहा जासकता। मानलो किसी देश में नारियों साधारणतः साड़ी पहिनी हैं पर शीत ऋतु में ठंड से बचने के लिये उनमें ऊनी कोट पहिन लिया या बरसात में पानी से बचने के लिये बरसाती कोट पहिन लिया तो कोट, साधारणतः पुरुष की पोषाक होनेपर भी, उक्त अवसरों पर नारी के लिये भी वह अनुचित न कहा जायगा।

३-नर और नारी के वेप में कुछ वैषम्य रहने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि एक दूसरे के वेप की अच्छाईयों ग्रहण न की जाँयें। सौन्दर्य और स्वच्छता की दृष्टि से एक दूसरे के वेप की बात ग्रहण करने में कोई बुराई नहीं है। उदाहरणार्थ एक दिन ऐसा था जब हर एक पुरुष अपनी बाढ़ी पर के चाल सुरक्षित रखता था, अब भी बहुत से लोग रखते हैं पर उन वालों से सफाई में कुछ असुविधा होती है, सौन्दर्य भी कुछ कम

रहता है इसलिये दाढ़ी के बाल घनवाने का रिवाज चल पड़ा। धीरे धीरे यही बात मूँछों के विषय में हुई, मूँछ सुढ़ाने का रिवाज भी बन गया। बहुत से शास्त्रों के अनुसार तो यह भी कहा जाने लगा कि देव तथा विच्य पुरुषों के मूँछे नहीं होती, दाढ़ी पर बाल नहीं होते। पुरुष ने नारी वेष का जो यह अनुकरण किया वह स्वच्छता आदि की दृष्टि से उचित ही कहा जा सकता है।

वेष के विषय में ये खास खास सूचनाएँ हैं इनका पालन होता चाहिये। बाकी लिंगजीवन के प्रकरण में नारीत्व और पुरुषत्वका वेपसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, न शरीर-रचनासे मतलब है। उसके द्वारा तो मानव-जीवन के लिये उपयोगी गुणों को दो भागों में विभक्त करके बतलाया है और हर एक मनुष्य को कम से कम किसी एक भाग को अपनाने की प्रेरणा है। एक भी भाग को न अपनाने पर उसमें नपुंसकत्व आजायगा।

प्रश्न—लैंगिक जीवन के आपने तीन भेद किये हैं पर स्पष्टता के लिये यह जरूरी था कि उसके चार भेद किये जाते। नपुंसक जीवन, स्त्री-जीवन, पुरुष-जीवन और उभय लिंगी जीवन। स्त्री-जीवन और पुरुष-जीवन को मिलाकर एक-लिंगी जीवन के नाम से दो भेदों का एक भेद क्यों बनाया ?

उत्तर—जीवनदृष्टि अर्थात् जीवन का श्रेणी-विभाग बताया गया है। नपुंसक जीवन से एकलिंगी जीवन अच्छा है, एकलिंगी जीवन से समलिंगी जीवन अच्छा है इस प्रकार श्रेणी विभाग बन जाता है परन्तु स्त्री-जीवनसे पुरुषजीवन अच्छा इस प्रकार का श्रेणी-विभाग नहीं बनता, इसलिये ये अलग अलग भेद नहीं बनाये गये।

प्रश्न—नारी और नर मनुष्यत्व की दृष्टि से समान हैं। ऐसी भी नारियाँ हो सकती हैं जो बहुत से नरों से उच्च श्रेणी की हो पर टोटल मिलाया जाय तो वह कहना ही पड़ेगा कि नारी से नर श्रेष्ठ है। नारी से निम्नलिखित दोष या

गुणाभाव हुआ करता है इसलिये नारी नर से हीन है—

१ निर्बलता, २ मूढ़ता, ३ मायाचार, ४ भीरुता, ५ विलासिता, ६ अनुदारता, ७ कल-हकारिता, ८ परापेक्षता, ९ दीनता, १० रुद्धि-प्रियता, ११ लुद्रकर्मता, १२ अधैर्य आदि दोषों के कारण नारी नर से हीन ही कही जायगी। एक बात यह भी है कि नारी उपभोग्य है और पुरुष उपभोक्ता है इसलिये भी नारी हीन है।

उत्तर—नारी में स्वभाव से कौन से दोष हैं इसका विचार करने के लिये सिर्फ एक घर पर या किसी समय के किसी एक समाज पर नजर डालने से ही काम न चलेगा। इसके लिये विशाल विश्व और असीम कालपर नजर डालना पड़ेगी। इस दृष्टि से उपर्युक्त दोषों का विचार यहाँ किया जाता है।

१-निर्बलता (नेटुंगिरो)—इसके विषय में पहिले बहुत कुछ लिखा जा चुका है। निर्बलता अनेक तरह की है। वनसे से मानसिक या वाचनिक निर्बलता नारी में नहीं है, कायिक निर्बलता है, परन्तु वह भी बहुत थोड़ी मात्रा में, उसका कारण सन्तानोत्पादन है। सन्तानोत्पादन मानव-जातिके जीवनके लिये अनिवार्य है और उसका श्रेय [सौ मे निम्नान्वे भाग] नारीको है। इस उपकारके कारण आनेवाली थोड़ी बहुत शारीरिक निर्बलता हीनता का कारण नहीं कही जा सकती। जैसे ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं। ब्राह्मण अपनी बौद्धिक शक्ति द्वारा समाज की सेवा करता है और क्षत्रिय शारीरिक शक्ति द्वारा। इसलिये क्षत्रिय बलवान होता है पर इसीलिये क्या ब्राह्मण से क्षत्रिय उच्च होगा ? ब्राह्मण की शारीरिक शक्ति शूद्र से भी कम होगी, वैश्य से भी कम होगी परन्तु इसीलिये वह सब वर्णों से नीचा न हो सकेगा। यह निर्बलता बौद्धिक सेवा के कारण है। जो निर्बलता समाज की भलाई करने का फल हो वह हीनता का कारण नहीं कही जा सकती। नारी की निर्बलता मानव-जाति के स्वप्नरूप महान से महान कार्य का फल है इसलिये वह हीनता का

कारण नहीं कही जा सकती ।

दूसरी बात यह है कि नारी की यह अधिक निर्वाहता सामाजिक मुन्यवस्था के लिये किये गये कार्यक्षेत्र के विभाग का फल है । अगर कार्यक्षेत्र का विभाग बदल जाय तो अवस्था उल्टी हो जाय । बाली द्वीप में व्यापार खेती आदि सभी काम नारियों ही करती हैं इसलिये वे तीस तीस चालीस चालीस फुट के भाड़ा पर एक हाथ से लटक कर दूसरे हाथ से फल तोड़ सकती हैं, बहादुरी के सब काम वे ही करती हैं । जब कि पुरुष घर में रहते हैं रोटी बनाते हैं भाड़ा देते हैं । स्त्रियों से वे ऐसा ही डरते हैं जैसे दूसरे देशों में स्त्रियाँ पुरुषों से डरती हैं । इसलिये नर नारी में बल की बात को लेकर हीनाधिकता बताना ठीक नहीं ।

२-मूढता (ज्ञो)-साधारण नारी जितनी ही मूढ़ होती है जितना कि साधारण नर । हा, जो पुरुष विद्याजीवी या बाह्य जगत से विशेष सम्पर्कवाले होते हैं और उनके घर की स्त्रियाँ इसी कोटि की नहीं होतीं तो उनको दृष्टि में वे मूढ़ कहलाती हैं । अन्यथा एक आम्य नारी और आम्य पुरुष में मूढता में कोई खास अन्तर नहीं होता ।

जहां नारी को विद्योपार्जन तथा बाह्य सम्पर्क का विशेष अवसर मिलता है वहां नारी चतुरता या समझदारी के क्षेत्र में पुरुष से कम नहीं रहती ।

३ मायाचार (कूटो)-नारी में मायाचार न पुरुष से अधिक है न कम । और न सभी तरह का मायाचार धुरा कहा जा सकता है । मायाचार जहां हं प और हिंसा से सम्बन्ध रखता है वहां वह मायाचार बहा जाता है, अन्यथा बहुतसा मायाचार तो शिष्टाचार और दया आदि का फल होता है । मायाचार कई तरह का होता है । १-लज्जाजनित, २-शिष्टाचारी, ३-राह-स्विक, ४-तथ्य शोधक, ५-आत्मरक्षक, ६-प्रति-योधक, ७-विनोदी, ८-प्रवचक । इनमें से प्रव-

चक ही वास्तविक मायाचार है बाकी ज्ञान भेदों में तो सिर्फ मायाचार का शरीर है मायाचार का आत्मा नहीं है । उससे दूसरों के न्यायोचित अधिकारों को धक्का नहीं लगता इसलिये वे निन्दनीय नहीं कहे जा सकते ।

क-लज्जाजनित मायाचार (विजोक्तो) किसी को ठगने की दृष्टि से नहीं होता, वह एक तरह की निर्दलता या संकोच का परिणाम होता है । बहुतसी नववधुओं में यह पाया जाता है । बहुत से लड़के लड़कियों विवाह के लिये इन्द्रु हो तो भी लज्जावश उससे इनकार करेंगे, उससे दूर भागने का ढोंग करेंगे । यह लज्जाजनित मायाचार कहीं कहीं नारी में कुछ विशेष मात्रा में आ गया है । यह पर्व आदि कुप्रथाओं का, बहुत काल से डाले गये सरकार का और कार्यक्षेत्र के भेद का परिणाम है, नारी का मौलिक दोष नहीं है । और जबतक यह अतिमात्रा में नहीं हो, जीवन के कार्यों में अड़ंगा न डाले तबतक तो यह सुन्दर भी है, आकर्षण की कला भी है, काम का अंग है, हिंसक नहीं है ।

ख-शिष्टाचारी मायाचार (नुनं कुटो) भी क्षुब्ध है । जब एक मुसलमान भोजन करते बैठता है तब पास में बैठे हुए आधमी से, खास कर मुसलमान से कहता है—आइये, निरिमझा कीजिये । यह प्रेम-प्रदर्शन का एक शिष्टाचार है । हिन्दुओं में भी कहीं कहीं पानी के विषय में ऐसा शिष्टाचार पाया जाता है । एक भोज में बहुत से हिन्दु बैठे हैं एक सज्जन पानी पीने के लिये अपने लोटे में से कटोरी में पानी भरते हैं और सब से कहते हैं लीजिये लीजिये । (अब यह शिष्टाचार प्रायः बन्द हो गया है) निःसन्देह वे समझते हैं कि पानी कोई होगा नहीं, और यही समझ कर बताते हैं, इसलिये यह मायाचार है, परन्तु शिष्टाचारी मायाचार होने से क्षुब्ध है । ऐसे शिष्टाचार कितने अंश में रखना चाहिये कितने अंश में नहीं, यह विचार दूसरा है पर जो भी शिष्टाचार के नाम पर रह जाय उसमें

अगर ऐसा मायाचार हो तो वह क्षमा करने योग्य है। यह शिष्टाचारी मायाचार नर नारी में बराबर ही पाया जाता है इससे नारी को दोष नहीं दिया जा सकता।

ग-राहस्यिक मायाचार (हूहिहं कूटो) चन्तव्य ही नहीं है बल्कि एक गुण है। मानलो पति पत्नी में कुछ झगड़ा हो रहा है इतने में बाहर से किसी ने द्वार खटखटाया। पति पत्नी ने इस विचार से कि बाहर के आदमी को दोनों के झगड़े का पता फटापि न लगने देना चाहिये न दोनों के बीच से तीसरे को दर्खादजी का मौका देना चाहिये, अपना झगड़ा छिपा लिया और इस प्रकार प्रसन्न मुख से दरवाजा खोला माना दोनों में कोई विनोद हो रहा था। यह राहस्यिक मायाचार गुण है जोकि नर और नारी दोनों में पाया जाता है, और पाया जाना चाहिये।

घ-कभी कभी शिष्टाचार और वस्तु-स्थिति का पता लगाने के लिये मायाचार करना पड़ता है, जैसे किसी के घर जाने पर घरवाले ने कहा आइये भोजन कीजिये। अब यह पता लगाने के लिये मना कर दिया कि उसने सिर्फ शिष्टाचार-वश भोजन के लिये कहा है या वास्तव में इसके यहाँ भोजन कराने की पूरी तैयारी है। अगर तैयारी होती है तो वह दूसरे घर इस ढंग से अनुरोध करता है कि वस्तु-स्थिति समझ में आ जाती है, नहीं तो चुप रह जाता है। यह मायाचार तथ्य-शोधक (लसिको हिर) है क्योंकि इससे अनुरोध करनेवाले की वस्तुस्थिति का पता लगता है। यह अगर नारी में अधिक हो तब वो उसकी विवेकशीलता ही अधिक सिद्ध होगी।

ङ-अन्याय और अत्याचार से बचने के लिये जो मायाचार किया जाता है वह आत्म-रत्नक (एम रब) है। यह नर नारी में बराबर है और चन्तव्य है।

च-किसी आदमी को सम्मानने के लिये या उसकी भलाई करने के लिये जो मायाचार करना

पड़ता है वह प्रतिबोधक मायाचार (वोर्ज कूटो) है। यह बड़े बड़े महापुरुषों में भी पाया जाता है बल्कि उनमें अधिक पाया जाता है, वह तो महत्ता का द्योतक है। हाँ, इसका प्रयोग निस्वार्थता और योग्यता के साथ हो।

छ-हैसी विनोद में सब की प्रसन्नता के लिये जो मायाचार किया जाता है वह विनोदी मायाचार (हर्श कूटो) है। यह भी चन्तव्य है। नर नारी में यह समान ही पाया जाता है।

ज-प्रवचक मायाचार (चीट कूटो) वह है जहाँ अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को धोखा दिया जाता है विश्वासघात किया जाता है। यही मायाचार वास्तविक मायाचार है, पाप है, वृथित है। यह सर्वथा त्याज्य है।

ऊपर के सात तरह के मायाचारों में तो सिर्फ इतना ही विचार करना चाहिये कि उनमें श्रुति न हो जाय, उनका प्रयोग वैसीक न हो जाय, या इस ढंग से न हो जाय कि दूसरों की परेशानी वास्तव में बढ़ जाय और उनको नुकसान उठाता पड़े। कुछ समझदारी के साथ उनका प्रयोग होना चाहिये वस, इतना ठीक है। सो इनके प्रयोग में नर नारी में विशेष अन्तर नहीं है।

आठवाँ प्रवचक मायाचार किस में अधिक है कहा नहीं जा सकता? परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह मायाचार निर्मलता का परिणाम है। मनुष्य जहाँ क्रोध की निष्कलता समझलेता है वहाँ मायाचार का प्रयोग करता है। पीढ़ियों में क्रोध की अधिकता होती है पीढ़ियों में मायाचार की। अगर कहीं नारी में थोड़ा बहुत मायाचार अधिक हो तो उसका कारण वह है कि नारी सहस्राब्दियों से पीड़ित है। जब वह क्रोध प्रगट नहीं कर सकती तब नरम पड़कर मायाचार से काम लेती है। वह परिस्थिति का प्रभाव है, स्वभाव नहीं। जहाँ उसे अधिकार है, वल है, क्षापूर्वाही है वहाँ वह मायाचार नहीं करती क्रोध करती है और तब दुनिया उसे उध

या निर्लज्ज कहने लगती है। इन बातों का प्रभाव जैसा नर पर पड़ता है वैसा ही नारी पर। दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है।

४-भीरुता (हिडीरो)- यह निर्लज्जा का परिणाम है। निर्लज्जा के विषय में पहिले कहा जा चुका है। अधिकांश निर्लज्जा जैसे कृत्रिम है इसी प्रकार भीरुता भी कृत्रिम है। जहाँ खियों अर्थोपार्जन करती हैं वहाँ उनमें भीरुता पुरुष से बहुत अधिक नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से मध्यम या उत्तम श्रेणी के कुटुम्बों में ही यह भीरुता अधिक पाई जाती है क्योंकि अर्थोपार्जन के क्षेत्र में उन्हें बाहर नहीं जाना पड़ता इसलिये बाहर के लिये उनमें भीरुता बहुत आगई। इसके अतिरिक्त एक बात यह और हुई कि इस श्रेणी के पुरुष और खियों को अधिक पसन्द करने लगे। क्योंकि नारियों को अपनी कैद में रखने के लिये भीरुता की बड़ी सच से अच्छी बेटी थी। इससे पुरुष दिना किसी विशेष अर्थ के नारी की दृष्टि में अपनी उपयोगिता साबित करता रहता था।

नारी को भीरु बनाने रखने के लिये भीरुता की तारीफ होने लगी। भीरु, यह प्रेम का अच्छा स अच्छा संशोधन माना जाने लगा। भौरे से ढरकर प्रेयसी प्रियतम को सहायता के लिये पुकारती है यह कान्यशास्त्र का सुन्दर वर्णन समझा जाने लगा। पतन यह। तब हुआ कि भीरुता सतीत्व समझा जाने लगा।

विशेषाकृत जैन पञ्चपुराण की एक कथा मुझे याद आती है कि नधुष नाम का राजा राज्य का भार अपनी पट्टरानी विटिका के हाथ में सौंपकर उत्तर दिशा में विजयलक्ष्य के लिये निकला पर उधर दक्षिण दिशा के राजाओं ने राजधानी पर आक्रमण कर दिया। रानी ने सेना लेकर यांगता में उनका सामना किया, उन्हें हराया, मृत्यु दी नहीं उसने दक्षिण की तरफ विजयलक्ष्य यात्रा भी की और सच राजाओं को जीतकर राजधानी में आगई। हमें मालूम होता है कि

रानियों भी राजाओं की तरह वीरता दिखाती थीं और युद्ध संचालन करती थीं। परन्तु जब राजा आया और उसे मालूम हुआ कि रानी ने इतनी वीरता दिखाई है तब उसे बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा कि शीलवती स्त्रियों में इतनी अक्ल नहीं हो सकती। इससे उसने रानी का महिषीपद छीन लिया। इसके बाद दिव्ययोग से रानी की शील की परीक्षा हुई और उसमें वह सच्ची निकली इत्यादि कथा है।

इस कथा से इतना तो मालूम होता है कि एक दिन क्षत्राणियों में वीरता होना पुरुषों की दृष्टि में शीलभंग का चिह्न समझा जाने लगा था। भीरुता की तारीफ होने लगी थी। उनकी वीरता अस्मद्भृत्या [जोहर] में समाप्त होने लगी थी। इस प्रकार जहाँ भीरुता की तारीफ और वीरता से घृणा होने लगी हो, वीरता अकुलीनता (रुजनी) और शीलहीनता (नेमिनी) का चिह्न समझा जाने लगी हो, वहाँ नारी अगर भीरु हो गई तो उसमें उसका कोई स्वभावबोध नहीं कहा जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है कि शताब्दियों तक पुरुषों ने जो पद्वन्द्व किया वह सफल हो गया। यह नारी का स्वभावबोध नहीं है, कृत्रिम है, शीघ्र मिट सकता है।

५-विलासिता (चिंगीरी)- यह दोनों का दोष है। कहीं नर में यह अधिक होती है कहीं नारी में। विलासप्रियता बढ़ने के शौ तो अनेक कारण हैं पर एक मुख्य कारण आर्थिक है। जहाँ नारी सम्पत्ति की मालकिन नहीं है वहाँ उसमें उत्तरदायित्व कम हो जाय यह स्वाभाविक है। जिस प्रकार दूसरे के वहाँ भोज में गये आदमी खूब लापरवाही से खावे हैं, नुरुसान की चिन्ता नहीं करत, उसी प्रकार उस नारी में एक प्रकार की लापरवाही आ जाती है। जो मालकिन नहीं है वह सिर्फ अधिक से अधिक विलास की बात सोचती है, अरुमंख और आनसी बनती है।

नारिय में जो आभूषणप्रियता पाई जाती है उसका कारण शृंगार या बहपन दिखाने की

भावना ही नहीं है किन्तु आर्थिक स्वामित्व की आकांक्षा भी है, वस्तु यह कि कारण अधिक है। अन्य सम्पत्ति पर तो सारे कुटुम्ब का इक रहता है और उसकी मर्जी के विरुद्ध सहज में ही उसका उपयोग किया जा सकता है इसलिये नारी भूषणों के रूप में सम्पत्ति का संग्रह करती है। इसे भी लोग विलास कहते हैं जब कि इसका मुख्य कारण आर्थिक है।

विलास-प्रियता का एक कारण और है कि आर्थिक पराधीनता-प्राप्त नारी को पुरुष ने अपने विलास की सामग्री बनाया। अगर नारीमें विलास नहीं मिला तो पुरुष इधर उधर आखे ढालने लगा इसलिये भी नारी को विलासिनी बनना पड़ा। पुरुष भी इसे पसन्द करता है। वह इससे धृष्ट करता है तभी, जब विलास के वह साधन नहीं जुटा सकता या उसके अन्य कार्यों में बाधा आती है। इसलिये विलासिता का दोष केवल नारीपर नहीं ढाला जा सकता, इसका उत्तरदायित्व व्यापक है, सामाजिक है।

६ अनुदारता (नोर्मचो)—नारी का कार्य-क्षेत्र घर है इसलिये उसके विचारों में संकुचितता आ गई है। यह नारीत्व का दोष नहीं है, कार्यक्षेत्र का दोष है। आम तौर पर पुरुषों में भी यह दोष पाया जाता है। एक बात यह है कि नारीका सन्तान के साथ घनिष्ठ सम्पर्क होने से पहिले वह इस छोटे से संसार को बना लेता चाहती है, अमुक अंश में यह आवश्यक भी है। फिर भी अनुदारता कम करने की जो जरूरत है उसकी पूर्ति वहां जल्दी हो जाती है जहां नारी घर के बाहर काफी निकलती है और थोड़े बहुत अंशों में सामाजिक आदि व्यापक कार्यों में भाग लेती है।

७ कलहकारिता (लूरीयो)—यह पुरुषों और नारियों में एक समान है। पर के बाहर रहने से पुरुष के हाथ में बड़ी शक्तियां आ गई हैं इसलिये वह कलम से और तलवारों से कलह करता है, नारियां मुँह से कलह करती हैं। पुरुष को घर के काम नहीं करना पड़ते इसलिये वह घर कलह

को छुद्र कह कर हंसता है। पर जब उसे घर काम करना पड़ता है तब वह हँसी बन्द हो जाती है। मैंने देखा है कि जब पुरुष को काफी समय तक नारियों के समान घर काम करना पड़ते हैं तब वह भी उन बातों में कलहकारी बन जाता है। कलह बुरी चीज है पर वह नर नारी दोनों में है। नारीनिन्दा से पुरुष निर्दोष नहीं हो सकता, दोनों को अपनी कलहकारिता घटाना चाहिये और छोटी छोटी बातों में कलह न हो इसके लिये यह जरूरी है कि नारीके हाथ में बड़ी बातें भी आयें जिससे कलह-शक्ति का रूपान्तर किया जाय।

जैसे एक नारी व्याख्यान देना और लेख लिखना जानती हो तो इसका स्वाभाविक परिणाम होगा कि उसकी कलह शक्ति सैद्धान्तिक विवेचन और तार्किक खंडन मंडनमें बदल जायगी और कलह के छोटे छोटे कारणों पर वह उपेक्षा करने लगेगी। मतलब यह है कि कलहकारिता नर नारी में समान है। जो भेद है वह कार्यक्षेत्र आदि का है। उसे रूपांतरित करने की जरूरत है जिससे वह छुद्र और हातिकर न रह जाय।

८ परापेक्षा (बुमडिगो)—प्राणीमात्र पग पेक्ष हैं, खास कर जहाँ समाज रचना है वहाँ परापेक्षा विशेष रूपमें है। वह नर में भी है और नारी में भी है। फिर भी अगर नारीमें पुरुष से कुछ अधिक परापेक्षा है तो उसका कारण वह भीरुता और अर्थोपार्जन की अशक्ति है जो समाज ने व्यवस्था के लिये उसपर लाद दी है। यह दोष अन्य कृत्रिम दोगोंपर आश्रित है यह स्वतंत्र दोष नहीं है।

९ चीनता (मुडो)—इसका कारण भी समाज की वह आर्थिक व्यवस्था है जिसने नागीको कंगाल बनाया है।

१० रुद्धिमोह (रूद्धो मुडो) यह दोनों में है, यह मनुष्यमात्र का दोष है। नारियों में अगर कुछ विशेष मात्रा में है तो इसका कारण शिक्षण तथा जगत के विशाल अनुभव का अभाव है।

यह कमी पूरी हो जाने पर रुद्धिमोह नष्ट हो सकता है।

११ लुप्तकर्मता (कीतकजो)—नारी को जो कार्यक्षेत्र दिया गया उसमें वह सफलता से काम कर रही है, अगर वही काम दिये जाय या जहाँ दिये जाते हैं वहाँ भी वह सफलता से काम करती है, साथ ही वयोग धर्म और व्यापार में तो वह पुरुष के समान हो ही जाती है। सेवा पुलिस आदिके कामों में भी वह सफल होती है। इसलिये लुप्तकर्मता उसका स्वभाव नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह है कि नारी का काम लुप्त नहीं है। मनुष्य निर्माण का जो कार्य नारी को करना पड़ता है वह पुरुष को नहीं करना पड़ता नारी के इस कार्य का मूल्य तो है ही, वरु कामों का मूल्य भी आर्थिक दृष्टि से कम नहीं है।

पुरुष के मूल्य की महत्ता साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के कारण है। इनके कारण मनुष्य वद माशी, बैरैमानी, विश्वासघात, क्रूरता आदि के बन्धों में सम्पत्ति पाता है। ये पाप हट जाय और सेवा तथा त्याग के अनुसार ही यदि मनुष्य का आर्थिक मूल्य निश्चित किया जाय तो नर नारी का आर्थिक मूल्य समान ही होगा। इसलिये लुप्तकर्मता नारी का स्वभाव नहीं कहा जा सकता।

१२ अधैर्य (नोविरा)—इस विषय में तो पुरुष की अपेक्षा नारी ही श्रेष्ठ होगी। पुरुष जब पवग जाता है तब नारी ही उसे धैर्य देती है। सहिष्णुता नारी में पुरुष की अपेक्षा भी अधिक है इसलिये उसमें धैर्य अधिक हो रही अधिक सम्भव है। संग्र. इस विषय में पुरुष अधिक हो या नारी, पर यह सत्य अधिकता जन्मजात नहीं है जिसमें नारी नर के साथ उस का सम्बन्ध जोड़ा जा सके।

१३—उपभोग्यता (जशगेने)—उपभोग्य नारी भी है और नर भी। दोनों एक दूसरे के उपभोग्य उपभोग्य, मित्र और सहयोगी हैं। अगर नारी

सिर्फ उपभोग्य होती तो नर नारी के मिलन का सुख और इच्छा सिर्फ नरमें होती, नारी में नहीं, परन्तु दोनों में इच्छा होती है, सुख होता है इसलिये जैसा नर उपभोग्य है वैसे नारी भी। इसलिये व्यभिचार आदि जैसे नर के लिये पाप हैं वैसे नारी के लिये भी। नारी अगर उपभोग्य ही हो तो वह व्यभिचारिणी कभी न कहलावे, वह सिर्फ व्यभिचार्य ही बन सके, जैसे चोरी में मनुष्य ही चोर कहलाता है घन चोर नहीं कहलाता। इस प्रकार किसी भी तरह पुरुष उपभोग्य और स्त्री उपभोग्य नहीं हो सकती। जो कुछ हैं दोनों समान हैं।

इस प्रकारक और भी दोष लगाये जासकेगे और उनका परिहार भी किया जासकेगा। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि नारी सर्वथा निर्दोष है और पुरुष ही दोषी है। दोनों में गुण हैं, दोनोंमें दोष हैं। परिस्थितिवश और चिरकाल के संस्कारवश किसी में एक दोष अधिक होगया है और किसी में कोई दूसरा। मौलिक दृष्टिसे दोनों समान हैं।

नर नारी का कुछ अन्तर तो आवश्यक है यह रहना चाहिये और रहेगा भी कुछ अन्तर अनावश्यक या हानिकर है वह मिटना चाहिये अन्त में कुछ विशेषता नारी में रह जायगी और कुछ नर में, इस प्रकार तबसे कुछ आवश्यक विषमता रहेगी परन्तु उससे उनका दर्जा असमान न होगा।

नारीत्व और पुरुषत्व तो गुणरूप है उस में तो व्यक्तित्व गौण है इसलिये उनके समान दर्जे पर तो आपत्ति है ही नहीं।

इन कारणों से लिंगजीवन के चार भेद नहीं किये गये क्योंकि नारीजीवन और नरजीवन में तरतमता नहीं हो सकती थी।

पत्र—नरत्व और नारीत्व भले ही समान हों परन्तु इनकी समानता के पचार से समाज की बड़ी हानि है। संस्कृत की एक कहावत है कि लक्ष्मी कोई मौलिक नहीं होता या जहाँ बहुत मौलिक होते हैं वहाँ विनाश होजाता है (अना-

यका: विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायकाः) नर नारी की समानता से हमारे घर अनायक या बहु-नायक बनकर नष्ट हो जायेंगे। ईंट पर ईंट रखने से घर बनता है, ईंट की बराबरी से ईंट रखने से मैदान तो ईंटो से भर जायगा पर घर न बनेगा।

उत्तर—अनायक बहुनायक की बात वहीं ठीक जमती है जहाँ व्यक्तियों के व्यक्तित्व बिल्कुल अलग अलग होते हैं। पति पत्नी दो प्राणी होनेपर भी अकेले अकेले वे इतने अधूरे हैं और उनमें मिलन इतना आवश्यक है कि उन दोनों का व्यक्तित्व प्रतिस्पर्द्धा का कारण कठिनाता स ही बनेगा। उनकी स्वभाविक इच्छा एक दूसरे में बिलीन होने की, एक दूसरे को खुश रखने की और एक दूसरे के अनुयायी बनने की होती है तभी दाम्पत्य सफल और सुखकर होता है। इसलिये अनायक बहुनायक का प्रश्न वहाँ उठना ही न चाहिये। फिर भी हो सकता है कि कहीं पर दाम्पत्य इतना अच्छा न हो, तो वहाँ के लिये निम्नलिखित सूचनाओं पर ध्यान देना चाहिये—

१—योग्यतानुसार कार्य का विभाग कर लेना और अपने कार्यक्षेत्र में ही अपनी बात का अधिक मूल्य लगाना।

२—अपने क्षेत्र की स्वतन्त्रता का उपयोग ऐसा न करना जिससे दूसरे के कार्यक्षेत्र की परेशानी बढ़ जाय।

३—सब मिलाकर जिसकी योग्यताका दोटल अधिक हो उसे नायक या मुख्य स्वीकार कर लेना।

४—कौन नायक है और कौन अनुयायी इसका पता यथायोग्य बाहर के लोगों को न लगने देना।

इस प्रकार गृह व्यवस्था अच्छी तरह चलने लगेगी। ईंट पर ईंट जम जायगी और घर बन जायगा। अन्तर इतना ही होगा कि नरनारी में से हमने अनुक को ही ऊपर की ईंट समझ रक्खा है और अनुक को ही नीचे की ईंट, यह अन्धेर

निकल जायगा। योग्यतानुसार कहीं नारी ऊपर की ईंट होगी कहीं नर, इस प्रकार न्याय की रक्षा भी होगी और व्यवस्था और समभाव बना रहेगा।

सुव्यवस्था का अधिकांश श्रेय दोनों की एकत्व भावना को ही मिल सकता है वह न हो तो नियम सूचनाएँ सभी व्यर्थ जायेंगी। खैर, दाम्पत्य की समस्या मानव जीवन की महान से महान समस्या है। इस पर थोड़ा बहुत विचार व्यवहार काद में किया जायगा। यहाँ तो एकलिंगी जीवन में नरत्व या नारीत्व के असुक गुणों को अपनाकर जीवन को कुछ सार्थक करने की बात है।

३ उभयलिंगी जीवन (टुमर्नगिर लिवो)—जिस मनुष्य में नरत्व और नारीत्व के गुण काफी मात्रा में हैं वह उभयलिंगी मनुष्य (नर या नारी) है। प्रत्येक मनुष्य को गुण में और कार्यों में उभयलिंगी होना चाहिये। बहुत से मनुष्य इतने भावुक होते हैं कि बुद्धि की पवाह ही नहीं करते, वे एकलिंगी नारीत्ववान् मनुष्य अपनी भावुकता से जगत को जहाँ कुछ देते हैं वहाँ बुद्धिहीनता के कारण जगत का काफी नुकसान कर जाते हैं। इसी प्रकार बहुत से मनुष्य जीवन भर अवसर अनवसर देखे बिना बुद्धि की कसरत दिखाते रहते हैं उनमें भावुकता होती ही नहीं। वे अपनी तार्किकता से जहाँ जगत को कुछ विचारकता देते हैं वहाँ भावना न होने से विचारकता का उपयोग नहीं कर पाते। और विभ्रम में ही उनका जीवन समाप्त होता है। वे एकलिंगी पुरुषत्ववान् मनुष्य भी देने की अपेक्षा हानि अधिक कर जाते हैं, इसलिये जरूरत इस बात की है कि मनुष्य बुद्धि और भावना का समन्वय कर उभयलिंगी बने तभी उसका जीवन सफल हो सकता है।

नारीत्व और नरत्व के सभी गुण हर एक मनुष्य पा सके वह तो कठिन है फिर भी न्यास न्यास गुण और कार्य हर एक मनुष्य में अवश्य होता चाहिये। बुद्धि और भावना का समन्वय

उसमें मुख्य है। इसके अतिरिक्त शक्ति और सेवा का समन्वय, यथासाध्य कला और विज्ञान का समन्वय, काम और मोक्ष का समन्वय, उपार्जन और रक्षण का समन्वय हर एक मनुष्य में होना चाहिये। सुविधा के अनुसार अगर नारी का कार्यक्षेत्र घर और पुरुष का कार्यक्षेत्र बाहर बना लिया गया है तो वह भले ही रहे परन्तु एक दूसरे के काम में थोड़ी बहुत भी सहायता कर सकने लायक योग्यता न हो तो वह अधूरा जीवन दुःखप्रद होगा। एक दूसरे का काम थोड़े बहुत अंश में कर सकें ऐसी योग्यता हर एक में होना चाहिये और जीवनचर्या भी आवश्यकतानुसार उसके अनुरूप ही बनाना चाहिये।

प्रश्न—जगत् में जो राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महापुरुष हो गये हैं उन सबके जीवन एकलिंगी [पुरुष लिंगी] ही थे फिर भी ये महान् हुए, जगत् की महान् सेवा कर सके। क्या एकलिंगी होने से आप इन्हें अपूर्ण या मध्यम श्रेणी का जीवन कहेंगे ?

उत्तर—एकलिंगी जीवन भी महान् हो सकता है। फिर भी वह आदर्श और पूर्ण हो नहीं सकता। किसी के पात्र अगर लाख रुपये के गेहूँ हैं तो उसके द्वारा वह पैद भर सकता है, दान दे सकता है, लक्षपति कहला सकता है परन्तु स्वादिष्ट और स्वास्थ्यकर भोजनके लिये उसे कुछ गेहूँ के बदले में दाल चावल शाक नमक आदि लाना पड़ेगा। एक लाख के गेहूँ से भहता पैदा होगी स्वादिष्टता और स्वास्थ्यकरता नहीं। इसी प्रकार बहुत से महापुरुष महान् होकर के भी एकलिंगी होते हैं उनकी महत्ता से लाभ उठाना चाहिये, आदर्श जीवन बनाने के लिये उनसे जो सामग्री मिल सके वह लेना चाहिये पर आदर्श या अनुकरणीय तो उभयलिंगी जीवन है।

परन्तु ऊपर जिन महापुरुषों के नाम लिखे गये हैं उनके जीवन एकलिंगी जीवन नहीं हैं। हममें सभी के जीवन उभयलिंगी हैं। म. कृष्ण तो आदर्श ही हैं। उनमें रुस बंध, शिशुपाल-बंध

आदि में वीरता का तथा अन्य अनेक पुरुषोचित गुणोंका परिचय देकर जहाँ पुरुषत्व का परिचय दिया है वहाँ हास्य, विनोद, संगीत, सेवा, प्रेम, वात्सल्य आदि का परिचय देकर नारीत्व का परिचय भी दिया है। भावना और बुद्धि का उनके जीवन में इतना सुन्दर समन्वय हुआ है कि उसे असाधारण कहा जा सकता है और एक इसी बात से वे उभयलिंगी के रूपमें हमारे सामने आते हैं। महापुरुष का उभयलिंगीपन उनकी भावना और बुद्धि के समन्वय से जाना जा सकता है, प्रेम और विवेक, सेवा और वीरता का समन्वय भी उभयलिंगीपन के चिह्न हैं, ये बातें उपर्युक्त सभी महापुरुषों में पाई जाती हैं।

महात्मा पुरुषोत्तम श्री रामचंद्र जी की वीरता तो प्रसिद्ध ही है। न्यायप्राप्त राज्य का त्याग, पत्नी के लिये एक असाधारण महान् सन्नाह से युद्ध, प्रजासुरजन के लिये सीता का भी त्याग, आवश्यक रहने पर भी और समाज की अनुमति मिलने पर भी एक पत्नी रहते दूसरी का ग्रहण न करना इस प्रकार की भावुकताके सामने कभी बड़ी भावुकताएँ पानी भरेगी। इस प्रकार म. राम में हम बुद्धि, भावना और शक्ति का पूरा समन्वय पाते हैं। जहल में जाकर वे बिना किसी सम्पत्ति और नौकर चाकर के गार्हस्थ्यजीवन बिता सके इससे उनकी गृहकार्यकुशलता मादम होती है। उनकी प्रामाणिक दिनचर्या का परिचय नहीं मिलता, नहीं तो उनके अन्य कार्य भी बताये जा सकते।

म. महावीर और म. बुद्ध तो महान् तार्किक और क्रान्तिकारी थे, गृहत्याग करके उनमें जन-सेवा का कापी पाठ पढ़ाया था। अपनी अपनी साधुसस्था में अपने खान पान स्वच्छता आदि के बारे में साधुओं को स्वावलम्बी बनाया था। वे स्वयं स्वावलम्बी थे। इस प्रकार उनमें पुरुषत्व और नारीत्व का पूरा समन्वय था।

म. ईसा में पुरुषत्व तो था ही, जिसके बल

पर वे मन्दिरों के महन्तों के सामने सार्विक युद्ध करते थे, कुल्दियों को नष्ट करते थे। इधर उनकी चीनसेवा इतनी अधिक थी कि नारीत्व अपना सार भाग लेकर उनमें चमक उठा था।

हजरत मुहम्मद का थोड़ा-जीवन तो प्रसिद्ध ही है पर क्षमा-शीलता, प्रेम आदि नारीत्व के गुण भी उनमें कम नहीं थे। गृहकार्य में तत्परता तो उनमें इतनी थी कि बादशाह बन जानेपर भी वे अपने ऊँट का खुरेगा अपने हाथों से ही करते थे।

और भी अनेक महापुरुषों के जीवन को देखा जाय तो उनका जीवन उभयलिंगी मिलेगा। जिनमें ये दो बातें हैं, एक तो वह प्रेम, जिससे वे जनसेवामें जीवन लगाते हैं [नारीत्व] दूसरे वह बुद्धि और शक्ति जिससे वे विरोधियों का सामना करते हैं (पुरुषत्व), वे उभयलिंगी महापुरुष हैं।

प्रश्न—अगर इस प्रकार बुद्धि भावना के समन्वय से ही मनुष्य उभयलिंगी माने जाने लगे तो प्रायः सभी आध्यात्मिक उभयलिंगी हो जायेंगे। क्योंकि थोड़ी बहुत बुद्धि और भावना सभी में पाई जाती है।

उत्तर—एक मिखारी के पास भी थोड़ा बहुत धन होता है पर इसी से उसे धनवान नहीं कहते। धनवान होने के लिये धन काफी मात्रा में होना चाहिये। इसी प्रकार बुद्धि और भावना जहाँ काफी मात्रा में हो और उनका समन्वय हो वहाँ उभयलिंगी जीवने समझना चाहिये।

प्रश्न—यथा बुद्धि-भावना-समन्वय से ही उभयलिंगी जीवन बन जायगा ? जो मनुष्य स्त्रियोचित या पुरुषोचित आवश्यक काम भी नहीं कर पाता क्या वह भी उभयलिंगी जीवन-वाला है ?

उत्तर—नहीं, हम जिस परिस्थिति में हैं उससे कुछ अधिक ही स्त्रियोचित और पुरुषोचित कार्य करने की क्षमता हमारे भीतर होना चाहिये क्योंकि परिस्थिति बदल भी सकती है। इस विषय का कोई निश्चित भाप तो नहीं बनाया जा

सकता परन्तु साधारणतः अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने वाला, नई परिस्थितियों के अनुकूल हो सकने वाला, समन्वय अवश्य होना चाहिये। बुद्धि भावना का समन्वय तो आवश्यक है ही। इसी तरह शक्ति [फिर वह शारीरिक, बार्चनिक या मानसिक कोई भी हो] और व्यवस्था का समन्वय भी आवश्यक है। थोड़ी बहुत न्यूनताधिकता का विचार नहीं है पर दोनों अंश पर्याप्त मात्रा में हों तो वह उभयलिंगी जीवन होगा। लैंगिक दृष्टि से यह पूर्ण मनुष्य है।

नर और नारी के जीवन का व्यावहारिक रूप क्या होना चाहिये इस पर एक लम्बा पुराण बन सकता है। इस विषय में यथाशक्ति थोड़ा व्यवहार काष्ठ में लिखा जायगा। यहाँ तो सिर्फ यह बताया गया है कि नर नारी के जीवन के विषय में हमारी दृष्टि कैसी होना चाहिये ? नर नारी व्यवहार के अच्छे बुरेपन की परीक्षा जिस दृष्टि से करना चाहिये वही दृष्टि यहाँ बताई गई है।

१०—यत्नजीवन (घटो जिवो)

[तीनमेद]

मानवजीवन यत्न-प्रधान है। मनुष्य को बच्चा प्रायः अन्य सब जानवरों की अपेक्षा अधिक कमजोर और असमर्थ होता है। गाय भैंस का बच्चा एक दिन का जितना ताकतवर, चञ्चल और स्वाश्रयी होता है उतना मनुष्य का बच्चा वर्षों में भी नहीं हो पाता। फिर भी मनुष्य का बच्चा अपने जीवन में जितना विकास करना है उतना कोई भी दूसरा प्राणी नहीं कर पाता। पशुओं के विकास के इस किनारे से उस किनारे में जितना अन्तर है उससे बीसों गुणा अन्तर मनुष्य के विकास के इस किनारे से उस किनारे तक है। इतना लम्बा फासला दूर करने के लिये मनुष्य को पशुओं की अपेक्षा बीसों गुणा यत्न भी करना पड़ता है। इसलिये मनुष्य यत्न-प्रधान प्राणी है। इसके जीवन में जानवरों के समान

दैव या भाग्य की सुलपता नहीं है। फिर भी कुछ मनुष्य ऐसे हैं कि जो दैव के भरोसे बैठे रहते हैं और कुछ पूरा यत्न नहीं करते। इस विषय को लेकर मानव-जीवन की तीन श्रेणियाँ होती हैं।
१ दैववादी, २ दैव-प्रधान। ३ यत्न-प्रधान।

१ दैववादी (बूढ़ोवादि) - दैववादी वे अकर्मण्य मनुष्य हैं जो स्वयं कुछ करना नहीं चाहते, दूसरे करवाकर कुछ दे देते हैं उसे अपना भाग्य समझते हैं अपनी दुर्दशा और पतन को भी दैव के मते मढ़ देते हैं और अपने दोष नहीं देखते, वे लघन्य श्रेणी के मनुष्य हैं।

२ दैवप्रधानवादी (बूढ़ोचिन्दोवादि) - दैव-प्रधान वे हैं जो परिस्थिति जरा प्रतिकूल हुई कि दैव का रोना रोने लगते हैं और कुछ नहीं कर पाते।

३ यत्नप्रधान (घटो चिन्दोवादि) - यत्न-प्रधान वे हैं जो दैव की पूर्वाह नहीं करते। वे यही सोचते हैं कि दैव अपना काम करे और मैं अपना करूँगा। परिस्थिति अगर प्रतिकूल हो तो वे उसकी भी पूर्वाह नहीं करते। दैव का अगर जोर चले भी जाता है तो वे निराश नहीं होते, एक बार असफल होकर भी कार्य में डटे रहते हैं। 'विभावा की रोग पर मेघ मारना' यह कहावत जिनके कानों के लिये प्रसिद्ध है, वे ही यत्न-प्रधान हैं। बड़े बड़े क्रांतिकारी और तीर्थंकर पैगम्बर अवतार साम्राज्य-संस्थापक आदि इसी श्रेणी के होते हैं।

इन तीनों का अन्तर समझने के लिये एक उपमा देना ठीक होगा। एक आदमी ऐसा है जो पक-पकाई रसोई तयार मिले तो भोजन कर लेगा नहीं तो भूखा पका रहेगा-वह दैववादी है। दूसरा ऐसा है जो अपने हाथ से पकाकर खा सकता है लेकिन पकावे की सामग्री न मिले तो भूखा रहेगा वह दैव-प्रधान है। तीसरा ऐसा है जो हर हालत में पेट भरने की कोशिश करेगा। सामग्री न होगी तो बाजार से खरीद लायेगा, पैसा न होगा तो मित्रनत मजूरी से पैसा पैदा

करेगा या खेती करके अनाज उत्पन्न करेगा यह यत्न प्रधान है। इस उपमा से तीनों का अन्तर ध्यान में आ जायगा।

प्रश्न-जैसे आपने दैववादी और दैवप्रधान दो भेद किये वैसे यत्नवादी और यत्न-प्रधान ऐसे दो भेद क्यों नहीं करते हैं?

उत्तर-दैववादी और दैवप्रधान होने से कर्तृत्व में अन्तर होता है परन्तु यत्नवादी और यत्न प्रधान होने से कर्तृत्व में अन्तर नहीं होता इसलिये इन में भेद बतलाना उचित नहीं।

प्रश्न-जो मनुष्य ईश्वर परलोक पुण्य पाप भाग्य आदि को मानता है वही दैववादी बनता है जो इनको नहीं मानता वह दैववादी किसके वज्रपर बनेगा? इसलिये मनुष्य नास्तिक बने यह सच से अच्छा है।

उत्तर-दैववादी बनने के लिये ईश्वर परलोक आदि मानने की जरूरत नहीं है। पशुपक्षी प्रायः सभी ईश्वर परलोक आदि नहीं मानते, नहीं समझते, फिर भी वे दैववादी हैं और बड़े बड़े नास्तिक भी अकर्मण्य और दैववादी होते हैं।

प्रश्न-दैव से आपका मतलब क्या है?

उत्तर-हमारी वर्तमान परिस्थिति जिन कारकों का फल है उनको हम दैव कहते हैं, जैसे मानवीजिये कि जन्म से ही कोई कमजोर है इस कमजोरी का कारण किसी के शब्दों में पूर्व जन्म के पाप का उदय है, किसी के शब्दों में माता पिता की अशुभ भूला है, किसी के शब्दों में प्रकृति का प्रकोप है। इस प्रकार आस्तिक और नास्तिक सभी के मत से उस कमजोरी का कुछ न कुछ कारण है। यही दैव है, वह ईश्वर प्रकृति कर्म आदि कुछ भी हो सकता है इसलिये दैव को आस्तिक भी मानते हैं और नास्तिक भी मानते हैं।

प्रश्न-तब तो दैव एक सत्य वस्तु मानल्य होती है फिर दैववाद में बुराई क्या है जिससे दैववादी को आप लघन्य श्रेणी का कहते हैं।

उत्तर-दैव बात दूसरी है और दैववाद बात दूसरी। दैव संतब है परन्तु दैववाद असत्य। जब

दैव की मान्यता यत्न के ऊपर आक्रमण करने लगती है तब उसे दैववाद कहते हैं। जैसे जो आदमी जन्म से कमजोर या गरीब है वह अगर कहे कि मेरी यह कमजोरी और गरीबी भाग्य से है तो इसमें कोई बुराई नहीं है यह दैव का विवेचन-मात्र है। परन्तु जब वह यह सोचता है कि मैं गरीब बना दिया गया, कमजोर बना दिया गया अब मैं क्या कर सकता हूँ, जो भाग्य मे था सो हो गया, अब क्या ? जो कुछ भाग्य मे होगा सो होकर रहेगा अपने कर्ने से क्या होता है ? यह दैववाद है, इससे मनुष्य कर्म में अनुत्साही, कायर और अकर्मण्य बनता है। पशुओं में वही बात पाई जाती है, वे दैव का विवेचन नहीं कर सकते हैं परन्तु दैवने उन्हें जैसा बना दिया है उससे उन्हें ठठनेकी कोशिश नहीं कर सकते; उनका विकास उनके प्रयत्न का फल नहीं किन्तु प्रकृति या दैव का फल होता है। कोई पशु बीमार हो लाश तो बाली पशु उसका साथ छोड़ कर भाग जायेंगे और वह मरने की बाट देखता हुआ मर जायगा। कोई कोई पशु और पक्षियों में इससे कुछ ऊँची अवस्था भी देखी जाती है पर वह बहुत कम होती है अथवा कतने अंशों में उन्हें दैव-प्रधान या यत्न-प्रधान कहा जा सकता है।

परम-बड़े बड़े महात्मा लोग भी दैव के ऊपर भरोसा रख कर निश्चिन्त जीवन बिताते हैं वे भविष्य की चिन्ता नहीं करते यह भी दैववाद है। अगर दैववाद से मनुष्य महात्मा बन सकता है तब दैववाद सर्वथा निन्दनीय कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—पशु की निश्चिन्तता से और महात्मा की निश्चिन्तता में अन्तर है। पशु की निश्चिन्तता अज्ञान का फल है और महात्मा की निश्चिन्तता ज्ञान का फल। दैववाद की निश्चिन्तता एक तरह की जड़ता या अज्ञानता का फल है। महात्मा लोग तो यत्न-प्रधान होते हैं इसीलिये वे महात्मा बन जाते हैं। दैव के भरोसे मनुष्य महात्मा नहीं बन सकता। दैववादी तो जैसा पशुतुल्य पैदा होता है वैसा ही बना रहता है उनका आत्मिक

विकास नहीं होता। आत्मिक विकास के लिये भीतरी और बाहरी काफी प्रयत्न करना पड़ता है। एक बात यह भी है कि महात्माओं की निश्चिन्तता भी कर्मफल की निश्चिन्तता होती है, कर्म की नहीं। अवस्था-समभावी होने के कारण वे कर्मफल की पर्वाह नहीं करते, पर कर्म की पर्वाह तो करते हैं। कर्मफल की तरफ से जो लापर्वाही है वह दैववाद का फल नहीं अवस्था-समभाव का फल है।

प्रश्न—दैव और यत्न इनमें प्रधान कौन है और किसकी शक्ति अधिक है ? यत्न की शक्ति अगर अधिक हो तब तो यत्न-प्रधान होने से लाभ है, नहीं तो दैव-प्रधान ही मनुष्य को बनना चाहिये।

उत्तर—अगर दैव की शक्ति अधिक हो तो भी हमें दैव-प्रधान न बनना चाहिये। हमारे हाथ में यत्न है इसलिये यत्न-प्रधान ही हमें बनना चाहिये। हम जानते हैं कि एक ही भूकम्प में हमारे गगनचुम्बी महल राख हो सकते हैं और हो जाते हैं फिर भी हम उन्हें बनाते हैं और भूकम्प के बाद भी बनाते हैं और उससे लाभ भी उठाते हैं। समुद्र के भयंकर तूफान में बड़े बड़े जहाज छलट जाते हैं फिर भी हम समुद्र में जहाज चलाते हैं। प्रकृति की शक्ति के सामने मनुष्य की शक्ति ऐसी ही है जैसे पहाड़ के सामने एक कण, फिर भी मनुष्य प्रयत्न करता है और इसी से मनुष्य अपना विकास कर सका है। इसलिये दैव की शक्ति भले ही अधिक हो परन्तु उसे प्रधानता नहीं दी जा सकती। दैव की शक्ति कितनी भी रहे परन्तु देखना यह पड़ता है कि असुख जगह और असुख समय उसकी शक्ति कितनी है ? उस जगह हमारा यत्न काम कर सकता है या नहीं ? गीत श्रुति में जब चारों तरफ कड़ाके की ठंड पड़ती है तब हम उसको हटाने की ताकत नहीं रखते, परन्तु ठंड के उस विशाल समुद्र में से जितनी ठंड हमारे कमरे में या शरीर के आसपास है उसे दूर करने का यत्न हम करते हैं, अग्नि या कपड़ों के द्वारा हम उस

ठंड से बचे रहते हैं। वह परकृति पर मनुष्य की विजय है—इसे ही हम दैव पर यत्न की विजय कहें सकते हैं। जहाँ दैव की प्रतिकूलता अधिक और यत्न कम होता है वहाँ यत्न हार जाता है और जहाँ दैव की प्रतिकूलता कम और यत्न अधिक है वहाँ दैव हार जाता है। इसलिये यत्न सदैव करते रहना चाहिये।

एक बात और है कि दैव की शक्ति कहा, कितनी और कैसी है यह हम नहीं जान सकते, दैव की शक्ति का पता तो हमें तभी लगता है जब कि अनेक बार ठीक ठीक और पूरा प्रयत्न करने पर भी हमें सफलता न मिले। इसलिये दैव की शक्ति अजमाने के लिये भी तो यत्न की आवश्यकता है। और इसका परिणाम यह होगा कि हमें यत्नशील होना पड़ेगा।

कभी कभी ऐसा होता है कि दैव की शक्ति यत्न से क्षीण की जाती है, शुरू में तो ऐसा मालूम होता है कि यत्न व्यर्थ जा रहा है पर अन्त में यत्न सफल होता है। जैसे एक आदमी के पेट में खूब विकार जमा हुआ है, उस विकार से उसे बुखार आया इसलिये लयन की, पर फिर भी बुखार न उतरा, आवा ही रहा, तो यहाँ बुखार का कारण लयन नहीं है, लयन तो बुखार को दूर करने का कारण है परन्तु जब तक लयन जितनी चाहिये उतनी नहीं हुई तब तक बुखार का जोर रहेगा और लयन चालू रहने पर चला जायगा। पेट में जमा हुआ विकार यदि दैव है तो लयन यत्न। पारम्भ में दैव बलवान है इसलिये लयन-रूप यत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती परन्तु यत्न जब चालू रहता है तब दैव की शक्ति क्षीण हो जाती है और यत्न सफल हो जाता है। मतलब यह है कि प्रतिकूल दैव यदि बलवान हो तो भी यत्न से निर्मल हो जाता है और अनुकूल दैव यदि बलवान हो किन्तु यत्न न मिले तो उससे लाभ नहीं हो पाता। इस प्रकार यत्न हर हालत में आवश्यक है इसलिये यत्न प्रधान बनना ही अग्र्यकार है।

प्रश्न—दैव और यत्न ये एक गाड़ी के दो पहिये हैं तब एक ही पहियेसे गाड़ी कैसे चलेगी ?

उत्तर—इस उपमा को अगम और ठीक करता हो तो यों कहना चाहिये कि दैव गाड़ी है और यत्न चालू। गाड़ी न हो तो चालू कैसे चलेगा ? और चालू न हो तो गाड़ी को खींचना क्यों ? इसलिये दोनों की जरूरत है। पर सामग्री का काम चालू को हँकना है—गाड़ी बनाना नहीं। गाड़ी उसे जैसी मिल जाय उसे लेकर अपने चालू से खींचवाना उसका काम है वहाँ उसकी यत्न-प्रधानता है, दैव ने जो सामग्री उपस्थित कर दी उसका अधिक से अधिक और अच्छा से अच्छा उपयोग करना मनुष्य का काम है इसलिये मनुष्य यत्न-प्रधान है।

प्रश्न—मनुष्य कितना भी प्रयत्न करे परन्तु होगा वही जो होनहार या भवितव्य है। इसलिये यत्न तो भवितव्य के अधीन रहा, यत्न-प्रधानता क्या रही ?

उत्तर—यत्न वर्तमान की चीज है और होनहार भवितव्य की चीज है। भवितव्य वर्तमान का फल होता है वर्तमान भवितव्य का फल नहीं, इसलिये होनहार यत्न का फल है। यत्न होनहार का फल नहीं। जैसा हमारा यत्न होगा वैसी ही होनहार होगी। इसलिये जीवन यत्न-प्रधान ही हुआ।

प्रश्न—कहा तो यों जाता है कि “ इसकी होनहार खराब है इसीलिये तो इसकी अवल मारी गई है, वह किसी की नहीं सुनता अपनी ही अपनी करता चला जाता है ”। इस प्रकार के वाक्यप्रयोग होनहार को निश्चित बताते हैं और अवल मारी जाने आदि को उसके अनुसार बताते हैं।

उत्तर—यह वाक्य-रचना की शैली है या अलंकार है। जब मनुष्य ऐसे काम करता है कि जिसके अच्छे दुरे फलका निश्चय जनता को हो जाता है तब वह इसी तरह की भाषा का प्रयोग करती है। एक आदमी को दस्त ठीक नहीं होता, भूल भी अच्छी नहीं लगती फिर भी स्वाद के

लोभ से ठूस ठूस कर खूब खा जाता है तब हम कहते हैं कि इसे बीमार पड़ना है इसलिये यह खूब खाता है अथवा इसकी होनहार खराब है इसलिये यह खूब खाता है।

वास्तव में वह आदमी बीमार होना नहीं चाहता फिर भी बीमार होने का कारण इतना साफ है कि उसे देखते हुए अगर कोई उससे नहीं हटता तो उसकी तुलना उसी से की जा सकती है जो जानबूझ कर बीमार होना चाहता है, यह अलंकार है। इसी प्रकार वह मनुष्य बीमार होने-वाला है इसलिये अधिक खा रहा है यह बात नहीं है किन्तु अधिक खा रहा है इसलिये बीमार होगा। परन्तु बीमारी का कारण इतना स्पष्ट रहने पर भी वह नहीं समझता और उसका फल इतना निश्चित है, जैसा कि कारण निश्चित है, इसलिये कार्य कारण-व्यवस्था किया गया है। बीमारी रूप कार्य को कारण के रूप में, और अधिक भोजन-रूप कारण को कार्य के रूप में, कहा गया है। भाषा की इस विशेष शैली से तर्कसिद्ध अनुभव-सिद्ध कार्य-कारण भाव उलट-पलट नहीं हो सकता। इस प्रकार भवितव्य यत्न का पक्ष है इसलिये जीवन यत्न-प्रधान है।

प्रश्न-कथा-साहित्य के पढ़ने से पता लगता है कि भवितव्य पहिले से निश्चित हो जाता है और उसी के अनुसार मतिगति होती है। एक शास्त्र में (गुणभद्र का उत्तरपुराण) कथन है कि सीता रावण की पुत्री श्री और उसके जन्म के समय ज्योतिषियों ने कह दिया था कि इस पुत्री के निमित्त से रावण की मृत्यु होगी। इसलिये रावण ने सुदूर उत्तर में-जनक राज्य के एक खेत में वह लड़की छुड़वायी, जिसे जनक ने पाला। इस प्रकार रावण ने उस लड़की के निमित्त से बचने की कोशिश की परन्तु आखिर वह उसी के कारण मारा गया। इसी प्रकार कंस ने भी देवकी के पुत्र से बचने के लिये बहुत कोशिश की किन्तु कृष्ण के हाथसे उसकी मौत न टली, इससे भवितव्यता की निश्चितता और प्रबलता मालूम होती है।

उत्तर-एक बार विधाता ने एक आदमी के भाग्य में लिख दिया कि इसके भाग्य में एक काला घोड़ा ही रहेगा इससे अधिक वैभव इसे कभी न मिलेगा, न इससे कम होगा। उस आदमी को विधाता की इस बात से बहुत दुःख हुआ, और ज्यों ही उसे काला घोड़ा मिला उसने उसे मार डाला। विधाताने फिर उसे दूसरा काला घोड़ा मिलाया, उसे भी उसने मार डाला। विधाता ज्यों ज्यों उसे दूँद दूँद कर काला घोड़ा देते वह उन्हे तुरन्त मारता जाता। अब विधाता बड़े परेशान हुए, वनने उसे समझाया कि तू काले घोड़े मत मार, पर वह राजी न हुआ। वह राजी हुआ तब जब उसने विधाता से राज्य-वैभव माग लिया।

यह भी एक कहानी है जो किसीने दैव के ऊपर यत्न की विजय बतलाने के लिये कल्पित की है। किसीने दैव की महत्ता बताने के लिये रावण और कंस की कथाओं में ज्योतिषियों का कल्पित वार्तालाप जोड़ा तो किसीने यत्न की मुख्यता बताने के लिये कहानी गढ़ डाली। इस प्रकार की कहानियाँ या वार्तालाप इतिहास नहीं हैं किन्तु बालहृदयों के ऊपर दैव या यत्न की छाप मारने के लिये की गई कल्पनाएँ हैं। विचार के लिये इन कल्पनाओं को आधार नहीं बनाया जा सकता इससे लिये अपना जीवन या वर्तमान जीवन देखना चाहिये। ज्योतिषियों के द्वारा जो भविष्य कथन किये जाते हैं उनसे अनर्थ ही होता है। ऊपर के रावण और कंस के उदाहरणों को ही देखो। यदि सीता के विषय में ज्योतिषियों ने भविष्य कथन न किया होता तो सीता, रावण के घर में पुत्री के रूप में पली होती, फिर सीता हरण क्यों होता और रावण की मौत क्या होती? देवकी के पुत्र के विषय में अगर ज्योतिषी ने भविष्य बाणी न की होती तो कंस अपने भाग्यों की हत्या क्यों करता और जन्म-जात वैर भोल क्यों होता। वह अपने भाग्यों से प्यार करता और ऐसी हालत में इसकी सम्भावना नहीं थी कि श्रीकृष्ण अपने प्यारे मामा की हत्या करते। जैन पुराणों के अनुसार श्री नेमिनाथ ने कह दिया था कि

श्रीकृष्ण की मौत जरत कुमार के हाथ से होगी। जरत कुमार श्रीकृष्ण को प्यार करते थे इसलिये उन्हें बड़ा खेद हुआ और उनके हाथसे श्रीकृष्ण की मौत न हो इसलिये लंगल में चले गये। पर लंगल में चला जाना ही जरतकुमार के हाथसे श्रीकृष्ण की मृत्यु का कारण हुआ। अगर भविष्य वाणी के फेर में पड़ते तो ये दुर्घटनाएं न होती। एक तो ये भविष्य-वाणियाँ कल्पित हैं और अगर तथ्यरूप होतीं तो भी अनर्थकर थीं।

हर एक मनुष्य को चाहिये कि वह महान बनने की कोशिश करे। वह मानले कि मैं तीर्थ-कर, सम्राट, राजा, अध्याप, महाकवि, महान् दार्शनिक, महान् वैज्ञानिक, कलाकार, वीर, आदि बन सकता हूँ। वह इनमें से एक बात रुचि के अनुसार चुनले और यत्न करने लगे। अगर दैव प्रविकूल है तो वह अपना फल देगा और हमारा यत्न निष्फल करेगा पर जितने अंश में दैव यत्न को निष्फल बनायगा उससे बचा हुआ यत्न सफल होगा। सच्चा यत्न सर्वथा निष्फल नहीं जाता। भविष्यवाणी, भवितव्यता आदि के फेर में पड़कर वह उदासीन या हतोत्साह न बने, यत्न बराबर करता रहे। असफलता होनेपर धनराये नहीं, सिर्फ वह देखले कि कहीं मुझसे भूल तो नहीं हुई है। अगर भूल न हो तो दैव क विरुद्ध रहने पर भी कर्तव्य करता रहे। यत्न शक्ति के अनुसार हो करे पर हतोत्साह होकर शक्ति तो निरुन्मी न बनाये। बड़ यत्न-प्रधान व्यक्ति दैव के विषय में अज्ञानी नहीं होता, सिर्फ उसकी अवहेलना करता है, अथवा दैव को अपना काम करने देता है और वह अपना यत्न करता है। आज मानव समाज पशुओं से जो इतनी उन्नति पर पहुँचा है उसका कारण उसकी यत्न-प्रधानता है।

११-शुद्धि-जीवन [शुद्धो जिवो]

[चारमेऽ]

शुद्धि-अशुद्धि तो रोज़ से भी जीवन की प्रशान् अभिवृत्ति का फल लगता है। किसी वस्तु

में किसी ऐसी वस्तु का मिल जाना जिससे मूल वस्तु की उपयोगिता कम हो जाय या नष्ट हो जाय वह अशुद्धि है और मूल की तरह उपयोगी बना रहना शुद्धि है। जैसे पानी में मिट्टी धूल आदि पड़ जाने से उसकी उपयोगिता कम हो जाती है इसलिये वह अशुद्ध पानी कहलाता है। शुद्धि-अशुद्धि का व्यवहार सापेक्ष है। किसी दूसरी चीज़ के मिलने पर कभी कभी हम उसे शुद्ध कह देते हैं, कभी कभी अशुद्ध। जैसे शक्कर मिला हुआ पानी या गुलाब केवड़ा आदि से सुगन्धित पानी शुद्ध कहा जाता है परन्तु वहाँ पानी का उपयोग सुँह साफ करने के लिये करना हो वहाँ शक्कर का पानी भी अशुद्ध कहा जायगा। ऐसी बीमारी में पानी का उपयोग करना हो जिसमें गुलाब और केवड़ा नुकसान करे तो गुलाब-जल आदि भी अशुद्ध कहे जायेंगे।

साधारणतः शुद्धि के तीन भेद हैं। —

१ निर्लेप शुद्धि २ अल्पलेप शुद्धि ३ उपयुक्त शुद्धि।

१ निर्लेप शुद्धि (नोमेश शुद्धो) उसे कहते हैं जिस में किसी दूसरी चीज़ का अशुद्धमात्र भी अंश नहीं होता। जैसे जैन साख्य आदि धर्मों में अनुसार सुकामता। इस प्रकार के शुद्ध पदार्थ कल्पना से ही समझे जा सकते हैं। भौतिक पदार्थों की निर्लेप शुद्धि का भी हम कल्पना से विश्लेषण कर सकते हैं।

२ अल्पलेप शुद्धि (वेमेश शुद्धो) में इतना कम मेल होता है जिस पर दूसरे पदार्थों की तुलना में अपेक्षा की जाती है। जैसे गंगाजल शुद्ध कहा है इस का यह मतलब नहीं है कि गंगाजल में मेल नहीं होता, होता है; पर दूसरे जलाशयों की अपेक्षा बहुत कम होता है। साधारणतः जल में जितना मेल रहा करता है उससे भी कम मेल हो तो उसे शुद्धजल कहते हैं यह अल्पलेप शुद्धि है।

३-उपयुक्तशुद्धि (पम्मशुद्धो) का मतलब यह है कि जिस शुद्धि से उस वस्तु का उचित उपयोग होता रहे। यह शुद्धि दूसरी चीज़ों के मिश्रण होनेपर भी मानी जाती है जैसे गुलाब-

जल आदि या साधारणतः स्वच्छ और छना हुआ पानी। शुद्धि जीवन के प्रकारण में इस तीसरी प्रकार की शुद्धिसे ही विशेष मतलब है।

जीवन की शुद्धि पर विचार करते समय हमें दो तरफ को नज़र रखना पड़ती है एक भीतर की ओर दूसरे बाहर की ओर। शरीर की या शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों की इन्द्रियों के विषयो की शुद्धि बाह्य शुद्धि है और मनोवृत्तियों की शुद्धि अन्तःशुद्धि है। इन दोनों प्रकार की शुद्धियों से जीवन आदर्श बनता है। शुद्धि अर्थात् की दृष्टि से जीवन के चार भेद होते हैं। १ अशुद्ध २ बाह्यशुद्ध ३ अन्तःशुद्ध ४ उभय शुद्ध।

१ अशुद्ध-(नोशुध) जिनका न तो हृदय शुद्ध है न रहन सहन शुद्ध है वे अशुद्ध प्राणी हैं। एक तरफ तो वे तीव्र स्वार्थी, विश्वासपाती और क्रूर हैं दूसरी तरफ शरीर से गाँवे, कपड़ों से गंदे, खानपान में गंदे हैं। घर की सफाई न करें, जहाँ रहें उसके चारों तरफ गंदगी फैला दें, ये पशु तुल्य प्राणी अशुद्ध प्राणी हैं। बल्कि अनेक पशु सफाई पसन्द भी होते हैं पर वे उनसे भी गय बंते हैं।

कहा जाता है कि इसका मुख्य कारण गरीबी है। गरीबी के कारण लोग बेईमान भी हो जाते हैं, जब पैसा ही नहीं है तब कैसे तो सफाई करें और कैसे सजावट करें ?

इसमें सन्देह नहीं कि गरीबी दुःख है पर अशुद्धता का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। बाह्य शुद्धि के लिये पैसे की नहीं परिश्रम की जरूरत है। घर को साफ रखना, कचरा चारों तरफ न फैला कर एक जगह एकत्रित रखना, शरीर स्वच्छ रखना, कपड़े स्वच्छ रखना, धार्ष्ट्य-उनसे दूरगंध न निकले इसका पालन रखना, इसके लिये अमीरी जरूरी नहीं है, गरीबी में भी इन बातों का ध्यान रक्खा जा सकता है। अमीरी में श्रृंगार के लिये कुछ सुविधा होती है पर श्रृंगार और सफाई में बहुत अन्तर है। बहुतसी धनवान स्त्रियाँ गहने कपड़ों से सज्ज सजी हुई रहती

हैं परन्तु साफ बिलकुल नहीं रहती, उनके घर सजावट के सामान से लदे रहेंगे पर सफाई न दिखेगी। श्रृंगार का शुद्धि से सम्बन्ध नहीं है। शुद्धि का सम्बन्ध सफाई से है। सफाई अमीर गरीब सब रख सकते हैं।

कहीं कहीं तो सामूहिक रूप में अशुद्ध जीवन पाया जाता है। जैसे अनेक स्थानों पर ग्रामीण लोग गाँव के पास ही शौच को बैठते हैं, रास्तों पर शौच को बैठते हैं, घर के चारों तरफ दही आदि मल की दुर्गंध आती रहती है यह सब अशुद्ध जीवन के चिह्न हैं इसे पशुता के चिह्न समझना चाहिये।

ग्रामीणों में यह पशुता रहती है सो बात नहीं है नागरिकों में भी यह कम नहीं होती, कदाचित् उसका रूप दूसरा होता है। बाग में घूमने जायेंगे तो गंदा कर देंगे, जूटन डाल देंगे, यह न सोचेंगे कि कल यहीं हमें आना पड़ेगा, ट्रेन में बैठेंगे तो भीतर ही घुँकेने से सब अशुद्ध जीवन के चिह्न हैं। इसका गरीबी से या ग्रामीणता से कोई सम्बन्ध नहीं है, वे अमीरों में और नागरिकों में भी पाये जाते हैं और गरीबों में और ग्रामीणों में भी नहीं पाये जाते।

इसी प्रकार अन्तःशुद्धि का भी अमीरी गरीबी से कोई ताल्लुक नहीं है। यद्यपि भेस भी घटनाएँ होती हैं जब मनुष्य के पास खाने को नहीं होता और चोरी करता है पर भेस घटना हजार में एकाध ही होती है। बेईमानी का अधिकांश कारण सुप्तखोरी और अत्यधिक लोभ होता है। एक गरीब आदमी किसी के यहाँ नौकर है या किसी ने सजदूरी के लिये बुलाया है, इससे उसको अधिक नहीं तो रुखी रोटी खाने का मिल ही जायगी इसलिये उसे चोरी न करना चाहिये, पर देखा यह जाता है कि जैसे बिच्छू बिना इस बात का विचार किये कि यह हमारा शत्रु है या मित्र, अपना डंक मारता है उसी प्रकार ये लोग भी हितैषी के यहाँ भी चोरी करते हैं।

कहा जाता है कि जिन्हे रोटी नहीं मिलती उन्हें ईमानदारी सिखाना उनका सजाक उढ़ाना है। परन्तु रोटी मिलने के लिये भी ईमानदारी सिखाना जरूरी है। कल्पना करो मेरे पास इतना पैसा है कि मैं साफ सफाई के लिये या और भी घर काम के लिये दो एक नौकर रख सकता हूँ। मैंने दो एक करीब आदमियों को रक्खा भी, पर देखा कि वे चोर हैं, उनके ऊपर मुझे नजर रखना चाहिये, पर नजर रखने का काम काफी समय लेता है इसलिये मैंने नौकरों को छुड़ा दिया। सोचा इन लोगों की देख रेख करने को अपेक्षा अपने हाथ से काम कर लेना अच्छा। आदमी बेतन या मजदूरी में तो रुपये भी दे सकता है पर चोरी में पैसा नहीं दे सकता। इस कारण मुझे पैसों के लिये रुपये बचाने पड़े। वह गरीब नौकर दो एक बार कुछ पैसों की चोरी करके सवा के लिये रुपये खो गया। इस प्रकार बेईमानी गरीबी और बेकारी बढ़ाने का कारण हो बनी। मनुष्य को ईमान हर हालत में जरूरी है और गरीबों में तो और भी जरूरी है क्योंकि बेईमानी का दुष्परिणाम सहना गरीबी में और कठिन हो जाता है। गरीब हो या अमीर, बेईमानी विश्वासघात, चुगलखोरी आदि बातें अमीर गरीब सब को नुकसान पहुँचाती हैं।

एक बार की विश्वासघातकता हजारों सज्जनों के मार्ग में रोड़े अटकती है। अगर कोई आदमी हम से एक पुस्तक माँगकर ले जाता है या एक रुपये उधार ले जाता है और फिर नहीं देता तो इसका परिणाम यह होता है कि भले से भले आदमी को भी मैं रुपया उधार नहीं देता। या पढ़ने को पुस्तक नहीं देता। विश्वासघातकता या लेन देन के मामले में अपने वायदे को पूरा न करना ऐसी बात है कि वह किसी भी हालत में की जाय उसका दुष्परिणाम काफी मात्रा में होता है। हमारी छोटी सी बेईमानी के कारण भी हजारों सज्जन सुविधाओं से वंचित रहते हैं। इस-

लिये अमीरी हो या गरीबी, अपनी भलाई के लिये इस प्रकार की अन्तःशुद्धि आवश्यक है। जिनमें यह अन्तःशुद्धि भी नहीं है और बाह्य-शुद्धि भी नहीं है चाहे वे अमीर हों, गरीब हों, ग्रामीण हों नागरिक हों, शिक्षित हों अशिक्षित हों, प्रतिष्ठित हों अप्रतिष्ठित हों, उन्हें मनुष्य नहीं मनुष्याकार जन्तु ही कहना चाहिये।

२ बाह्यशुद्धि—बाह्यशुद्धि वे हैं जिन में ईमानदारी सत्य शान्ति आदि तो उल्लेखनीय नहीं हैं परन्तु साफसफाई का पूरा खयाल रखते हैं। शरीर स्वच्छ, मकान वस्त्रादि स्वच्छ, भोजन स्वच्छ इस तरह जहाँ तक हृदय के वादर स्वच्छता का विचार है वे स्वच्छ हैं पर हृदय स्वच्छ नहीं है। साधारणतः ऐसे लोग सभ्य श्रेणी में गिने जाते हैं परन्तु वास्तव में वे सभ्य नहीं होते। सभ्यता के लिये बाह्यशुद्धि के साथ अन्तःशुद्धि भी चाहिये।

बहुत से लोग शुद्धि के नामपर अशुद्धि-बहुत बताते हैं और रही सही अन्तःशुद्धि का भी नाश करते हैं। वे शुद्धि के नामपर मनुष्यों से घृणा करना सीख जाते हैं। कूआकूत की बीमारी को वे शुद्धि का सार समझते हैं। अपनी जाति के आदमी के हाथ का गदा से गंदा भोजन करेंगे परन्तु दूसरी जाति के आदमी के हाथ का स्वच्छ और शुद्ध भोजन भी न करेंगे। वे सिर्फ जाति-पाँति में ही शुद्धि-अशुद्धि देखते हैं। हाइ मांस के कल्पित भेद में ही शुद्धि अशुद्धि के भेद की कल्पना करते हैं। वे वास्तव में बाह्यशुद्धि भी कठिना से हो पाते हैं, एक तरह से अशुद्ध रहते हैं।

प्रश्न—बाह्यशुद्धि में खानपान की शुद्धि का मुख्य स्थान है क्योंकि शरीर का भोजन शुद्धि के साथ सब से निकट सम्बन्ध है। खानपान में भोजन सम्बन्धी संस्कृति देखना जरूरी है। एक जैन का एक सुसज्जमान के बड़ा भोजन का भेल कैसे बैठेगा ? एक शुद्धि आदि की बात भी निरर्थक नहीं है, मा-बाप के संस्कार सन्तान में भी

आत है इसलिये रक्त-शुद्धि देखना भी जरूरी है।

उत्तर—भोजन में मुख्यता से चार बातों का विचार करना चाहिये। १—अहिंसकता २—स्वास्थ्यकरता ३—इन्द्रिय प्रियता ४—अम्लानता। अहिंसकता के लिये मांस आदि का त्याग करना चाहिये। स्वास्थ्य के लिये अपने शरीर की प्रकृति का विचार करना चाहिये और ऐसा भोजन करना चाहिये जो सरलता से पच सके और शरीर-पोषक हो। इन्द्रियप्रियता के लिये स्वादिष्ट, सुगन्धित, देखने में अच्छा भोजन करना चाहिये। अम्लानता के लिये शरीरमल आदि का उपयोग न करना चाहिये। भोजन से सम्बन्ध रखनेवाली ये चारों बातें छूयाछूत या जातिपाति के विचार से सम्बन्ध नहीं रखती। ब्राह्मण कटलाने वाले भी मांसभक्षी होते हैं और मुसलमान तथा ईसाई भी मांसस्वागी होते हैं। पर देखा यह जाता है कि एक मांसभक्षी ब्राह्मण दूसरी जाति के जैन या वैष्णव की भी छूत मानेगा। उसके हाथ का वह शुद्ध से शुद्ध भोजन न करेगा और उसे वह भोजन-शुद्धि या धर्म समझेगा। यहाँ बाह्य शुद्धि तो है ही नहीं, परन्तु अन्तःशुद्धि की भी हत्या है।

यह कहना कि दूसरी जातिवालों का रक्त इतना खराब होता है कि उसके हाथ का छुआ हुआ भोजन हर हालत में अशुद्ध ही होगा, कारी विद्वन्मना और आत्मवर्चसा है। मनुष्यमात्र की एक ही जाति है, इसलिये मनुष्यों के रक्त में इतना अन्तर नहीं है कि एक के हाथ लगाने से दूसरे की शुद्धि नष्ट हो जाय। कम से कम मनुष्यों के रक्त में गाय में से आदि पशुओं के रक्त से अधिक अन्तर नहीं हो सकता, फिर भी जब हम गाय भैंस का दूध पीते हैं तो भोजन के विषय में रक्त-शुद्धि की दुहाई व्यर्थ है और जो लोग नास खाते हैं वे भी रक्त-शुद्धि की दुहाई दें यह तो और भी अधिक हास्यास्पद है।

माँ बाप के रक्त का असर सन्तान पर होता है पर उसका सम्बन्ध जाति से नहीं है। रक्त के असर के लिये जाति-पौतिका खयाल नहीं किन्तु

बीमारी आदि का खयाल रखना चाहिये। बीमारी का ठेका किसी एक जातिके सब आदिमियों ने लिया हो ऐसी बात नहीं है।

हाँ, जिन लोगों के यहाँ का खानपान बहुत गंद है उनके यहाँ खाने में, या हम मांसत्यागी हों तो मांसभक्षियों के यहाँ खाने में परहेज करने का कुछ अर्थ है। इन लोगों के यहाँ तभी भोजन करना चाहिये जब जाति-समभाव के प्रदर्शन के लिये भोजन करना उपयोगी हो। पर किसी भी जातिवाले को जातीय कारण से अपने साथ खिलाने में आपत्ति न होना चाहिये।

जितने अपने भोजन की शुद्धि अशुद्धि के तत्व को अच्छी तरह समझ लिया है और जिन में अहिंसकता आदि के रक्षण का काफी मनोबल है उन्हें तो किसी भी जाति में भोजन करने में आपत्ति न होना चाहिये, ऐसे लोग जहाँ भोजन करेंगे वहाँ कुछ न कुछ अहिंसकता स्वच्छता आदि की व्याप ही मारेंगे। हा, जो बालक हैं या अज्ञानी होने से बालक समान हैं वे खानपान के विषय में हिंसक या गंदे लोगों से बचें तो ठीक है पर उन्हें अपने घर बुलाकर स्वच्छता के साथ अपने साथ भोजन करने में आपत्ति किसी को न होना चाहिये। बाह्य शुद्धि भी आवश्यक है पर उस की ओट में मनुष्य से घृणा करना या हीनता का व्यवहार करना पाप है।

भोजन शुद्धि के नाम पर एक तरह का भ्रम या अतिवाद और फैला हुआ है जिसे मध्यप्रात में 'सोला' (रंदेशो) कहते हैं। इसके मूल में जाति-पाति की कल्पना ही नहीं है किन्तु शुद्धि के नाम से बड़ा अतिवाद फैला हुआ है। सोला के लिये यह जरूरी नहीं है कि कपड़ा स्वच्छ हो पर यह जरूरी है कि पानी में से निकलने के बाद उसे किसीने छुआ न हो। सोला के अनुसार वह कपड़ा भी अशुद्ध मान लिया जाता है जिसे पहिन कर हम घर के बाहर निकल गये हों। थोड़ासा भी स्पर्श शुद्धि को बहाले जाता है। गंदगी के अतिवाद को दूर करने के लिये शुद्धि के इस अतिवाद की औपध-रूप में कभी जरूरत

हुई होगी पर आज तो उसके नाम पर बड़ी विडम्बना और अशुविधा होती है। सोला बाह्य शुद्धि का ठीक रूप नहीं है। इससे अनावश्यक शुद्धि का योग्य लक्ष्य है और आवश्यक शुद्धि पर उपेक्षा होती है।

केवल गिवाज के पालन से बाह्य शुद्धि नहीं हो जाती उसके लिये भी अक्ल या विवेक की जरूरत है। बाह्य शुद्ध व्यक्ति जहाँ चाहे कचरा न डालेगा, जिस चाहे जगह को अपने पैरों से गदला न करेगा, खकार आदि जहाँ चाहे न डालेगा, वह इस बात का मन्वालय रखेगा कि मेरे किसी काम से हवा खराब न हो, गंदगी न फैले, कालान्तर में हमें और दूसरों को कष्ट न हो।

बाह्य शुद्धि की बड़ी जरूरत है। सभ्यता के बाह्य रूप का यह भी एक मापदण्ड है किन्तु सगमकारी के साथ इसका प्रयोग होना चाहिये।

अन्त शुद्ध-अन्तःशुद्ध वे व्यक्ति हैं जिनने अपने मनको शुद्ध कर लिया है, जिन के मनमें किसी के साथ अन्याय करने की या अन्याय से अपना स्वार्थ सिद्ध करने की इच्छा नहीं होती, ऐसे लोग सदा व्यक्ति तो हैं पर बाह्यशुद्धि के बिना उनका जीवन अच्छी तरह अनुकरणीय नहीं होता है।

बहुत से लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि बाह्यशुद्धि अन्तःशुद्धि की बाधक है। वे दूतौन इसलिये नहीं करते कि दातों के कीड़े मरेगे, स्नान इसलिये नहीं करते कि शरीर के त्वर्य से जल के जीव मरेगे, मुँह के आगे इसलिये कपड़े की पट्टी बाधते हैं कि उससे स्वास की गरम हवा से बाहर की हवा के जीव मरते हैं, इस प्रकार 'अहिंसा के लिये वे अशुद्धि की उपासना करते हैं। पर वे जरा गौर करेंगे तो उन्हें मालूम हो जायगा कि अशुद्धि की उपासना करके भी वे अहिंसा की रक्षा नहीं कर पाये हैं।

दूतौन करने से कदाचित् एक बार थोड़े से जीव मरते होंगे पर दूतौन न करने से दातों में बहुत से कीड़े पड़ते हैं जो कि थूँक के प्रत्येक

घुँटके साथ दिन-रात पेट की भट्टी में जाते रहते हैं और मुँह की दुर्गंध से दूसरों को जो कष्ट होता है वह अलग-अलग न करने के नियम से जो गंदगी फैलती है, खाम कर गरम या समशीतोष्ण देशों में उससे भी शरीर जीवों का पर धन जाता है, प्रत्येक रोमकूप सूक्ष्म कीटों का शिविर हो जाता है। मुँह पर पट्टी लगाने से हवा के जीव तो मरते ही हैं क्योंकि मुँह की हवा सामने न आकर पट्टी से रुककर नीचे जाने लगती है जहाँ कि हवा है ही, इस प्रकार वहाँ भी हिंसा होती है। अगर थोड़ी बहुत बचती भी हो तो उसकी कसर पट्टी की गंदगी में निकल आती है। थूँक वर्ग-गृह पड़ते रहने से पट्टी क्षमिकुल का पर धन जाती है।

हिंसा अहिंसा के विचार में हमें दोनों पक्षों का हिसाब रखना चाहिये, ऐसा न हो कि थोड़ी सी हिंसा बचाने के पक्षे हम बहुत सी हिंसा के कारण जुटालें, जहाँ सूक्ष्म हिंसा से भी दूग रहना हो वहाँ सत्य से अच्छी बात यह होगी कि सूक्ष्म जीवों को पैसा न होने दिया जाय। सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा से बचने का सर्वोत्तम उपाय स्वच्छता है।

प्रभ-स्नान न करना दूतौन न करना आदि नियम बहुत धर्मों ने अपनी साधु-संस्था में दाखिल किये हैं। और ऐसा मालूम होता है कि वे अहिंसा के खयाल से दाखिल किये हैं पर आपके कहने के अनुसार तो उनसे अहिंसा की वृद्धि नहीं होती तब फिर वे किसलिये किये गये ?

वचन-जब किसी नये मजहब का प्रचार करना होता है तब उसके प्रचारक-साधुओं की वही अवस्था होती है जो कि विभिन्नय के निम्न निकली हुई किसी सेना के सैनिकों की। उन सैनिकों की जीवन चर्चा राजधानी में रहनेवाले सैनिकों सरीखी या साधारण गृहस्थ सरीखी नहीं होती वही बात नई धर्म संस्था के साधुओं की है। इन साधुओं को बड़ी कड़ाई के साथ अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है इसलिये समस्त श्रृंगारों का बड़ी कड़ाई से

त्याग भी करना पड़ता है। और जब स्वच्छता का भी शृंगार के रूप में उपयोग होने लगता है या स्वच्छता की ओट में इतना समय बर्बाद होने लगता है कि परिप्राजक जीवन और प्रचार में बाधा आने लगती है तब उस स्वच्छता का भी त्याग आवश्यक कर दिया जाता है। कोई कोई नियम कष्टसहिष्णुता को टिकाने रखने के लिये अवकाश उसकी परीक्षा करने के लिये बनाये जाते हैं।

साधुता बात है एक, और साधुसंस्था बात है दूसरी। कभी कभी साधु संस्थाओं को ऐसी परिस्थिति में से गुजरना पड़ता है कि उनके जीवन में अतिवाद आ जाता है। जब तक वह औपध के रूप में कुछ चिकित्सा करे तब तक तो ठीक, बाद में जब उसकी उपयोगिता नहीं रहती तब उसे हटा देना चाहिये।

मतलब यह है कि बाह्यशुद्धि उपेक्षणीय नहीं है। यद्यपि अन्तःशुद्धि के बराबर उसका महत्व नहीं है फिर भी वह आवश्यक है। उसके बिना अन्तःशुद्धि रहने पर भी जीवन अधूरा है और आदर्श से तो बहुत दूर है।

प्रश्न—जो परमहंस आदि साधु मन की उत्कृष्ट निर्मलता प्राप्त कर लेते हैं किन्तु बाह्यशुद्धि पर जिनका ध्यान नहीं जाता, क्या उन्हें आदर्श से बहुत दूर कहना चाहिये। क्या वे महान् से महान् नहीं हैं ?

उत्तर—वे महान् से महान् हैं इसलिये पुण्य या बन्धनों हैं फिर भी आदर्श से बहुत दूर हैं, खासकर शुद्धि जीवन के विषय में। किसी दूसरे विषय में वे आदर्श हो सकते हैं। शुद्धि जीवन की दृष्टि से उभयशुद्ध ही पूर्णशुद्ध है।

उभयशुद्ध (दुग्धशुद्ध)—जो हृदय से पवित्र है, अथात् संयमी निश्चल विनीत और निःस्वार्थ है और शरीर आदि की स्वच्छता भी रखता है वह उभयशुद्ध है। बहुत से लोगों ने अन्तःशुद्धि और बहिःशुद्धि में विरोध समझ लिया है, वे समझते हैं कि जिसका हृदय शुद्ध है वह बाह्य

शुद्धि की पर्वाह क्यों करेगा ? परन्तु यह भ्रम है। जिसका हृदय पवित्र है उसे बाह्य शुद्धि का भी खयाल रखना चाहिये। बाह्य शुद्धि अपनी भलाई के लिये ही नहीं दूसरों की भलाई के लिये भी जरूरी है। गंदगी बहुत बड़ा पाप न सही, परन्तु पाप तो है। और कभी कभी तो उसका फल बहुत बड़े पाप से भी अधिक हो जाता है। गंदगी के कारण बीमारियाँ फैलती हैं और हमारा परेशानी बढ़ती है—कदाचित्त मौत भी हो जाती है—जो हमारी सेवा करते हैं उनकी भी परेशानी बढ़ती है, पास पड़ोस में भी रहने-बसने भी बीमारी के शिकार होकर दुःख बठाते हैं, मिलने-जुलनेवाले भी दुर्गंध आदि से दुःखी होते हैं। इन सब कारणों से अन्तःशुद्धि व्यक्ति को यथाशक्य और यथायोग्य बहिःशुद्धि होने की भी कोशिश करना चाहिये।

हाँ, स्वच्छता एक बात है और शृंगार दूसरी। यद्यपि अन्तःशुद्धि के साथ उचित शृंगार का विरोध नहीं है फिर भी शृंगार पर उपेक्षा की जा सकती है परन्तु स्वच्छता पर उपेक्षा करना ठीक नहीं है।

हाँ, स्वच्छता की भी सीमा होती है। कोई कोई स्वच्छता के नाम पर दिनभर साधुन ही घिसा करे या अन्य आवश्यक कामों को गौण करदे तो यह ठीक नहीं, उससे अन्तःशुद्धि का नाश हो जायगा। अपनी आर्थिक परिस्थिति और समय के अनुकूल अधिक से अधिक स्वच्छता रखना उचित है।

१२—जीवन-जीवन (जिवो जिवो)

[दो और पाँचमेद]

जीवन की दृष्टि से भी जीवन का श्रेणी-विभाग होता है। साधारणतः जीवित उसे कहते हैं जिसकी श्वास चलती है, खाता पीता है। परन्तु ऐसा जीवन, तो बूजों और पशुओं में भी पाया जाता है। वास्तविक जीवन की परीक्षा उसके उपयोग की तथा कर्मठता की दृष्टि से है। इसलिये जिनमें उत्साह है, आलस्य नहीं है, जो कर्मशील

हैं वे जीवित हैं। जिनमें सर्फ किसी तरह पेट भरने की भावना है, जिनके जीवन में आनन्द नहीं, जनसेवा नहीं, उत्साह नहीं वे मुरे हैं। जीवित मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितिमें भी बहुत कुछ करेगा और मृत मनुष्य अनुकूल परिस्थिति में भी अभाव का रोना रोता रहेगा। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी।

एक जीवित वृद्ध सोचेगा कि इन्द्रियां शिथिल होगईं तो क्या हुआ ? अब लड़के बच्चे काम सम्हालने लायक होयें हैं, अब मैं घर की तरफसे निश्चिन्त हूँ, यही तो समय है जब मैं जन सेवा का कुछ काम कर सकता हूँ। जब कि मृत वृद्ध शरीर का घर का, वेदा की नालायकी का राना रोता रहेगा।

जीवित युवक सोचेगा—ये ही तो दिन हैं जब कुछ किया जा सकता है, कल जब बुढ़ापा आजायगा तब क्या कर सकूँगा ? निश्चिन्तता से आराम बुढ़ापे में। क्या जा सकता है, लवानी तो कर्म करने के लिये हैं। अगर यहाँ कर्म किया तो वसका असर बुढ़ापे में भी रहेगा। मृतयुवक सोचेगा कि ये चार दिन ही तो मौज उठाने के हैं अगर इनदिनों में बैलकी तरह जुते रहे तो भोग विलास कर कर पारंगे ? बुढ़ा (बाप) कमाता ही है, जब भरेगा तब देखा जायगा, अभी तो मौज करो।

जीवित धनवान सोचेगा कि धन का उपयोग यही है कि वह दूसरों के काम आवे। पेट में तो चार ही रोदियों जानेवाली हैं, बाकी धन तो किसी न किसी तरह दूसरे ही जानेवाले हैं तब जनसेवा में दान ही क्या न करूँ ? मृत धनवान कंजूसी में ही अपना कल्याण समझेगा।

जीवित निर्धन सोचेगा—अपने पास धन पैसा तो है ही नहीं, जिसके खिलने का दर हो तब धर्म से क्या बूझूँ ? मुझे निर्धन रहना चाहिये, नंगा खुदासे बड़ा। मैं पैसा नहीं दे सकता तो तन मन तो दे सकता हूँ, बहरी दूंगा, धन का कीमत सबे तन मन से अधिक नहीं होती। महा वीर सुद्ध आदि महापुरुषों को जनसेवा के लिये

धन का त्याग ही करना पड़ा ईसायासीहने ठीक ही कहा है कि मुईक खिद्रमे से ऊँट निकल सकता ह परन्तु स्वर्ग के द्वार में से धनवान नहीं निकल सकता। गरीबी ही मेरा भाग्य है। मृत निरधन गरीबी का रोना रोता रहेगा। इतना धन गो मिला जाता तो बां करता और सत्ता मिल जाता तो त्यां करता, अब क्या कर सकता हूँ ?

जीवित पुरुष सोचेगा—मुझे शक्ति मिली है, घर से बाहर का विशेष अनुभव मिला है उस का उपयोग पत्नी की, माता पिता की, समाज की देशकी सेवा में करूँगा। मृत पुरुष कमान का रोना रोतेरोने या स्त्रीका रोना रोतेरोते कि हाथ मुझे सीता सावित्री न मिली, जिन काटेगा। जनसेवाकी बात निकलते ही घरका रोना लेकर बैठ जायगा।

जीवित नारी सोचेगी कि नारियाँ शक्ति का अवतार हैं हम अगर नर्वल भूखी हैं तो वीर और विद्वान कहा से आयेगे ? शाक के बिना शिव क्या करेगा ? घर हमारा आर्थिक कार्य क्षेत्र है, कैद-खाना नहीं। जनसेवा के लिये सारी हुनिया है। बाहर जकलने में शर्म क्या ? पति को छोड़कर जब सब पुरुष पिता पुत्र या भाई के समान हैं तब पढ़ा कसका ?

मृत नारी रुदियों की दुहाई देगी, अबला-पन का रोना रोवेगी, जीवित नारियों की निन्द्य करेगी, सुर्वापन के गीत गावेगी।

इन उदाहरणों से जीवित मनुष्य और मृत मनुष्य की मनोवृत्ति का और चर के धार्यों का पता लग जायगा। साधारणतः मनुष्यों को जीवन की दृष्टिसे इन दो भागों में बाँट सकते हैं। कुछ जिन्दे कुछ मुर्दे वा अधिकारा मुर्दे। परन्तु विशेष रूप में इसका पाच भेद होते हैं—

१ मृत, २ पापजीविन, ३ जीवित, ४ शिष्य-जीवित, ५ परमजीवित।

१ मृत — (मरझू) जो शरीर में रहते हुये भी स्वर कल्याणकारी कर्म नहीं करते, जो पशुके समान लक्ष्यहीन वा आलसी जीवन बिताते हैं वे मृत हैं। उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।

२ पापजीवित (पापजीव) वे हैं जो कर्म तो करते हैं आलसी नहीं होते पर जिनसे मानव समाज के हित की अपेक्षा अहित ही अधिक होता है इस श्रेणी में; अन्याय से नरसंहार करनेवाले बड़े बड़े सम्राट् सेनापति योद्धा और राजनैतिक पुरुष भी आते हैं, गरीबों का खून बूसकर कुबेर बननेवाले श्रीमान भी आते हैं, जन-सेवा का ढोंग करके बड़े बड़े पद पाने वाले ढोंगी नेता भी आते हैं, त्याग वैराग्य आदि का ढोंग करके दंभ के जाल में दुनिया को फँसानेवाले योगी सन्यासी सिद्ध भट्टन्त मुनि कहलाने वाले भी आते हैं। ये लोग कितने भी यशस्वी हो जाय, जनता इनकी पूजा भी करने लगे पर ये पापजीवित ही कहलायेंगे। अपने दुस्वार्थों की पूजा करनेवाले सब पापजीवित हैं। चोर, बदमाश, व्यवसिचारी, विश्वासघाती, ठग आदि तो पापजीवित हैं ही।

३ जीवित- (जिवीर) वे हैं जो हर एक परिस्थिति में यथाशक्ति कर्मठ और उत्साही बने रहते हैं इनके उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।

४ दिव्यजीवित (नन्दंजिव)- वे हैं जो सच्चे त्यागी और महान् जनसेवक हैं। जो यश, अपयश की पर्वाह नहीं करते, स्वपर-कल्याण की ही पर्वाह करते हैं। अधिक से अधिक देकर कम से कम लेते हैं—त्यागी और सदाचारी हैं।

५ परमजीवित (शोजिवजिव)- वे हैं जिन का जीवन दिव्य जीवित के समान है परन्तु इनका सौभाग्य इतना ही है कि ये यशस्वी भी होते हैं।

विकास की दृष्टि से दिव्य जीवित और परम जीवितों में कोई भेद नहीं है। परन्तु यश भी एक तरह का जीवन है और उसके कारण भी बहुत सा अनहित अनायास हो जाता है इसलिये विशेष यशस्वी दिव्यजीवित को परमजीवित नाम से अलग बतलाया जाता है।

हर एक मनुष्य को दिव्यजीवित बनना चाहिये। पर दिव्यजीवित बनने से असन्तोष और परमजीवित कहलाने के लिये व्याकुलता न

होना चाहिये, अन्यथा मनुष्य पापजीवित बन जायगा।

जीवनदृष्टि का उपसंहार

बारह बातों को लेकर जीवन का श्रेणी-विभाग यहाँ किया गया है और भी अनेक दृष्टियों से जीवन का श्रेणी-विभाग किया जा सकता है। पर अब विशेष विस्तार की जरूरत नहीं है, समझने के लिये यहाँ काफी लिख दिया गया है।

जीवन दृष्टि अध्याय में जीवन के सिर्फ भेद ही नहीं करने थे उनका श्रेणी-विभाग भी बताना था। इसलिये ऐसे भेदों का जिक्र नहीं किया गया जिससे विकसित जीवन का पता न लगे। साधारणतः अगर जीवन का विभाग ही करना हो तो वह अनेक गुणों की या शक्ति, कला विज्ञान आदि की दृष्टि से किया जासकता है। पर ऐसे विभागों का यहाँ कोई विशेष मतलब नहीं है इसलिये उपर्युक्त बारह प्रकार का श्रेणी-विभाग बताया गया है। हर एक मनुष्य को ईमानदारी से अपनी श्रेणी देखना चाहिये और उच्च श्रेणीपर पहुँचने की कोशिश करना चाहिये।

इन भेदों का उपयोग मुख्यतः आत्म-निरीक्षण के लिये है। मैं इस श्रेणी में हूँ, तू इस श्रेणी में है, मैं तुमसे ऊँचा हूँ, इस प्रकार अहंकार के प्रदर्शन के लिये यह नहीं है।

दूसरी बात यह है कि इन भेदों से हमें आदर्श जीवन का पता लगा करता है। साधारणतः लोग दुर्निवादादारी के दङ्गपन को ही आदर्श समझ लेते हैं और उसी को ध्येय बनाकर जीवन यात्रा करते हैं, या उसके सामने सिर झुका लेते हैं उसके गीत गाते हैं, परन्तु इन भेदों से पता लगेंगा कि आदर्श जीवन क्या है? किसके आगे हमें सिर झुकाना चाहिये। मनुष्य को चाहिये कि हर एक श्रेणी-विभाग के विषय में विचार करे और ईमानदारी से अपना स्थान ढूँढ़े और फिर उससे आगे बढ़ने की कोशिश करे।

दृष्टिकाण्ड का उपसंहार

दृष्टि-काण्ड में जितनी दृष्टियाँ बतलाई गई हैं वे सब भगवान् सत्य के दर्शन का फल हैं या यह कहना चाहिये कि इन सब दृष्टियों के मार्ग का समझ जाना भगवान् सत्य का दर्शन है और उन को जीवन में उतारना भगवान् सत्य को पा जाना है। सब बोलना भगवान् सत्य नहीं है, वह तो भगवती अहिंसा का एक स्वरूप है। भगवान् सत्य तो परब्रह्म की तरह वह व्यापक चैतन्य है जो समस्त आत्माओं में भग हुआ है। वह अनन्त चैतन्य ही माया-सृष्टि का विकास और कल्याण कर्ता है। इसलिये वह भगवान् है।

मैं यह चुका हूँ कि भगवान् एक अग्रिम योगोत्तर या अनिश्चित सत्य है। उपदेश संस्कार या किसी विशेष घटना से प्रभावित होकर जिसे विश्वास हो जाता है वह उसे जगत्कर्ता के रूप में एक महान् व्यक्ति मान लेता है, जिस का विश्वास नहीं जगता वह निरीश्वरवादी बन जाता है। पर ईश्वरवादी हो या निरीश्वरवादी आत्मवादी हो या अनात्मवादी, उसको यह तो सफ़्त में आ ही जायगा कि सृष्टि में कार्यकारण की एक परम्परा है वह कभी नष्ट नहीं हो सकती। कार्य कारण की सभी परम्परा नष्ट हो जाय तो सृष्टि ही न रहे

उसकी गति ही नष्ट हो जाय। इसलिये हम कह सकते हैं कि विश्व सत्य पर टिका हुआ है। और जो इतना महान् है कि जिसके बल पर विश्व टिका हुआ है वह भगवान् नहीं तो क्या है ?

दूसरी बात यह है कि सृष्टि का महान् भाग चैतन्यरूप या चैतन्य से बना हुआ है, अगर सृष्टि में से भागवान् पदार्थ-मनुष्य पशु-पक्षी, जलचर वनस्पति आदि निकाल दिये जायें तो सृष्टि क्या रहे ? सृष्टि का समस्त सौन्दर्य विकास आदि चैतन्य से है इसी को हम चिद्ब्रह्म, सत्ब्रह्म या मनु भगवान् कहते हैं।

यह सत्य भगवान् घट घट व्यापी है, हर एक प्राणी में सुख-दुःख अनुभव करने का, दुःख दूर करने का, सुख प्राप्त करने का और उसका भाग, दर्पण की चिन्त और विवेक शक्ति पाई जाती है। वह जगत् भगवान् सत्य का अंश है। यही अंश जब विशेष मात्रा में प्रगट हो जाता है तब प्राणी कर्मयोगी त्रिविप्रज, केवली, जिन अर्हत्, तथी पैगम्बर तीर्थंकर और अवतार आदि कहलाने लायक बन जाता है। यही है भगवान् सत्य का दर्शन। दृष्टि-काण्ड में भगवान् सत्य के दर्शन के लिये समझने योग्य शुद्ध वादे, भगवान् के दर्शन का उपाय और उस दर्शन का फल बताया गया है।

[दृष्टिकाण्ड समाप्त]



❀ सत्यभक्त साहित्य ❀

अद्यावत (मानवधर्मशास्त्र)	२६	जया मेमार दुःखमय है	।)
१ " दृष्टिभंड	१)	३० सुनसी गुणिवी	।=)
२ " भाचार वाद	-)	३१ म. राम	।)
३ " गंगादास काट	५)	३२ ईसाई धर्म	।-)
४ भण्डार गीता	१॥)	३३ अनमोलपत्र	।=)
५ जया मेमार	१॥)	३४ हिन्दू भाइयों से	=)॥
६ प्रेमम मृत	॥)	३५ मुसलिम भाइयों से	=)
७ ईमान	॥)	३६ सुरजप्रभ	।=)
८ देवी विराम कथा	॥)	३७ क्यों सलाम करूँ	=)
९ गायत्री मंगल (सुदकिरे)	॥)	३८ हिन्दू मुसलिम मेल	=)
१० मन्त्रिका चतुर्ग (उप.)	॥)	३९ हिन्दू मुसलिम इत्तहाद	=)
११ क्षीति परीक्षा (मदानियों)	॥)	४० डिरिपमस्या	।)
१२ सुग्री गोपेता	१)	४१ शीखवती	=)॥
१३ नागपत्र (नाटक)	१)	४२ सत्यममज और विश्वासनि	=)
१४ बालकथा	१)	४३ सत्यभक्त सन्देश	=)
१५ निरतिराद	॥)	४४ भावनागीत	=)॥
१६ न्यायप्रदीप	१)	४५ नई दुनियाका नया समाज	=)
१७ चतुर महावीर	१)	४६ विवाह पद्धति	=)
ऐतथमभीमा—		४७ धर्मममभाव	।)
१८ " इतिहास और मन्दकव	१॥)	४८ विन्दूत विन्दू [मराठों]	।।)
१९ " ज्ञानमीमासा	२)	४९ कुरान की काकी	।)
२० " भाचारमीमासा	२)	५० पार वाद	-)॥
२१ बुद्ध ददव	॥)	५१ सुराज्य की राह	=)
२२ कुण्डीना	१)	प्रकाशित होनेवाले हैं—	
२३ मायमद्विती	॥)	महावीर का अन्तस्तक	
२४ वन्दना	॥=)	मंस्कृति समस्या	
२५ बोधगीत	॥)	राजनीति विचार	
२६ भावगीत	॥)	साधु समस्या आदि ।	
२७ मानवभाषा	२)	मायिक पत्र संयम वार्षिक मूल्य ३)	
२८ सन्तान समस्या	।)	व्यवस्थापक— सत्याश्रम वर्धा	